मानस-मुक्तावली

बिरला अकादमी आफ आर्ट

रचयिता

रामकिंकर उपाध्याय

आर्ट एण्ड कल्चर कलकत्ता

प्रकाशक : बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०९ सदर्न एवेन्यू कलकत्ता २९
मूल्य : पन्द्रह रुपये
द्वितीय सस्करण : १९८२
मुद्रक . रूपक प्रिटर्स
के १७ नवीन शाहदरा दिल्ली ३२

सविनय

हमारे धर्म, दर्शन एव विश्व-साहित्य का महाकाव्य **रामचरितमानस** विगत ४०० वर्षो से 'बुध' तथा 'जन'-मानस में समान रूप से प्रतिष्ठित है। सर्वांगीण विलक्षण तत्त्वों से ओत-प्रोत **रामचरितमानस** हमारी अनुपम निधि है एवं विश्व-साहित्य की उत्कृष्ट थाती है। प्रकाश-अवतरण के समय से ही **रामचरितमानस** अनवरत 'सुरसरि सम सव कर हित' करता हुआ आज भी सनातन है और चिर-शाश्वत रहेगा।

'रामअनन्त,अनन्त गुण, अमित कथा विस्तार'—अनेक विद्वानों ने समय-समय पर रामायण की कथा से साहित्य को समृद्ध किया है लेकिन सन्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के **रामचरितमानस** के अवदान से तो हम धन्य-पूरित है। वेदों, पुराणो, उपनिषदों एव अन्य महाग्रन्थो मे निहित गूढ तत्त्वो को ऐसी सुगम एव वोधगम्य भाषा मे निवद्ध कर प्रात स्मरणीय गोस्वामीजी के माध्यम से **रामचरितमानस** का प्राकट्य, हमारी सस्कृति एवं साहित्य का चिरन्तन स्रोत रहेगा।

ऐसे महाग्रन्थ की कथा-प्रवचनो की परम्परा मे विगत लगभग २० वर्षों से **पं० रामकिंकरजी उपाध्याय** ने अपनी विशिष्ट शैली मे विलक्षण पैठ से जिस प्रकार सर्वसाधारण को आकर्पित एव प्रभावित किया है, वह अतुलनीय है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इधर कई वर्षो मे आदरणीय पडितजी द्वारा लिखित कई प्रकाशन भी हुए है जो हमारे साहित्य की समृद्धि है। हमारा सौभाग्य है कि बिरला-परिवार पर आदरणीय पडितजी की स्नेहपूर्ण कृपा रहती है। मानस-चतु शती वर्ष के उप-लक्ष मे **मानस-मुक्तावली** के प्रकाशन से सबद्ध होकर बिरला अकादमी अपने को गौरवान्वित समझती है और तदर्थ हम **पं० रामकिंकरजी** महाराज के अत्यन्त आभारी है। प्रस्तुत योजना की परिकल्पना से लेकर कार्यान्विति तक श्री रमणलाल बिन्नानी का सहयोग उल्लेखनीय रहा है।

ऐसे महामहिमामय महाकाव्य के चतु.शती-वर्ष के ऐतिहासिक स्वर्ण सुअवसर पर हम उस विराट् महाकवि को हृदय से अपनी श्रद्धा निवेदित करते है। **मानस-मुक्तावली** का प्रकाशन बिरला अकादमी का विनम्र अर्घ्य है।

महाशिवरात्रि
सवत् २०३०
(प्रथम सस्करण)

प्रेरणा से प्रकाशन तक

"रामचरितमानस चतु शती के सन्दर्भ मे आपका अवदान क्या होगा ?" सुहृद् श्री रमणलालजी विन्नानी ने मुझसे प्रश्न किया। प्रश्न प्रेरक प्रतीत हुआ। यह प्रश्न भी तो प्रभु ने ही उनके मुख से कराया होगा, ऐसा मन मे भाव वना। चतुः-शती है तो क्यो न इसके वहाने मानस की चार सौ पक्तियो पर कुछ विचार प्रस्तुत किए जाएँ, इस तरह का सकल्प वना। समय की सीमा से कुछ सुविधाएँ थी तो असुविधा भी थी। समय की सीमा शीघ्रता से कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा देती है, किन्तु यह भी तो भय था ही कि सकल्प पूरा न हुआ तो? पर मुझे इतनी चिन्ता क्यो करनी चाहिए ? प्रभु चाहेगे तो करा लेगे। यदि नही भी पूरा हुआ तो जिस सीमा तक होगा, वही सही ! इस तरह के सकल्प-विकल्प मन मे उठते रहे।

विन्नानीजी ने यह भी सूचना दी, "इस सकल्प की वात सुनकर श्री वसन्तकुमार जी विरला और सौजन्यमयी सरलाजी विरला वड़े आनन्दित हुए है।" उन्होने स्वय भी मिलकर इस विषय मे उत्सुकता और उत्साह दोनो प्रकट किये। मुझे लगा, सकल्प के साकार होने पर उसे लोगो तक पहुँचाने के लिए यजमान भी प्रभु ने ही खोज लिया है। इस तरह ग्रन्थ-रचना का आधार वन गया। सौ पंक्तियो का यह प्रथम खण्ड प्रकाशित हो रहा है। चार सौ पक्तियो पर विचार चार खण्डो मे प्रकाशित किए जाएँ, ऐसी योजना है। पूरा करना प्रभु के हाथ मे है।

विरला-परिवार ने विविध क्षेत्रो मे देश को अवदान दिए है। विरला अकादमी के माध्यम से सस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र मे उत्कर्प की उनकी योजना है। प्रकाशन की यह योजना अकादमी के माध्यम से ही सम्पन्न होने जा रही है। इसके लिए मै सौ० सरलाजी और श्री वसन्तकुमारजी का आभारी हूँ।

—रामकिंकर

द्वितीय संस्करण

मानस चतु शती के पावन प्रसग मे विरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर की ओर से 'मानस मुक्तावली' के रूप मे विनत श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी। यह कृति सुधी जनो के द्वारा सराही गई। इसका यह द्वितीय संस्करण इसी आकर्षण का परिणाम है।

इसके मुद्रण और पुनर्प्रकाशन का श्रेय विरला दम्पति श्री वसन्तकुमार जी विरला तथा सौजन्यमयी सरला जी विरला को ही है। इसके लिए मै इन दोनो के प्रति मगल कामना करता हूँ।

इसके पुनर्मुद्रण का सारा भार श्री वावूलाल जी वियाणी पर था, वर्तमान रूप मे इसका प्रकाशन उनकी कर्मशक्ति का परिणाम है। एतदर्थ उनके प्रति भी आभार प्रगट करता हूँ।

—रामकिंकर

मुक्तावली-क्रम

भूमिका

रामचरितमानस की चतु शती सारे देश मे सोत्साह सम्पन्न होने जा रही है। काव्य, नाट्य, चित्रकला और गोष्ठियो के माध्यम से राम-कथा के विविध पक्षो को प्रकाशित करने की चेष्टा भी इसका ही एक अग है। रामचरितमानस ने अपनी व्यापकता के कारण जीवन के विविध पक्षो को आलोकित किया है। इसलिए अनेक विधाओ के माध्यम से उसका आनन्द लिया जा सकता है। किंतु मानस के अतरग रस का आस्वादन करने के लिए यह आवश्यक है कि इसका उपयोग केवल क्षणिक परम्परा-प्रदर्शनों तक ही सीमित न रहे।

मन्दिर मे स्थापना के लिए शिल्पी जिस देव-प्रतिमा का निर्माण् करता है, उसके प्रति आकर्षण के लिए तो उसमे सौदर्य का सृजन-भर ही आवश्यक है, किन्तु पूजा की वेदी पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व उसमे जो प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, उसका वाह्य रूप आकर्षक न होने पर भी वह श्रद्धा के सृजन के लिए अनिवार्य है। तुलसीदास के काव्य-शिल्प पर तो सभी मुग्ध है, किंतु उस शिल्प-कला के द्वारा राम की जो मूर्ति निर्मित हुई है, वह केवल प्रदर्शन के लिए नही है—वह मन्दिर में प्रतिष्ठापित होने के लिए है। तुलसीदास केवल शिल्पी नही है। वे मन्दिर के निर्माता यजमान भी है। इस मूर्ति की वाह्य रूप-रेखा पर ही यदि हमारा ध्यान अटका रह गया, तो मन्दिर-निर्माण का उद्देश्य पूरा नही हुआ। इसमे तुलसीदास ने अपनी भावना के द्वारा जो प्राण-प्रतिष्ठा की है, वही इसकी सबसे मूल्यवान् वस्तु है। उनकी कला, कला के प्रदर्शन के लिए न होकर जन-मानस मे श्रद्धा के सृजन के लिए है। तुलसी के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जव हम उनके द्वारा स्थापित प्राण-प्रतिष्ठा के तत्त्व को हृदयंगम कर सके। इसके लिए हमे मानस को उनकी दृष्टि से देखने का प्रयास करना होमा। इसका तात्पर्य यह नही है कि हम उसे अपनी दृष्टि से न देखे। प्रत्येक व्यक्ति इसके लिए स्वतंत्र है कि वह अपने युग के सदर्भ मे उनकी कृति का साक्षात्कार करे, उसकी उपयोगिता पर विचार करे। किन्तु उसका यह प्रयास पूरा तभी माना जायेगा, जव वह **शिल्पी की कला, यजमान की श्रद्धा और अपनी दृष्टि में** समन्वय स्थापित कर सकेगा।

यद्यपि किसी के लिए यह दावा करना कठिन है कि उसका विश्लेषण तुलसीदास के दृष्टिकोण का पूरा प्रतिनिधित्व करता है—किन्तु उसके सन्निकट पहुँचने की चेष्टा तो की ही जा सकती है। विश्लेषण की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि अध्ययन के द्वारा निकाले गए निष्कर्ष समग्र रामचरितमानस के परिप्रेक्ष्य में सुसंगत सिद्ध होते है या नही! मानस के किसी एक प्रसंग या कुछ पंक्तियो को

लेकर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते है वे वहुधा व्यक्ति के अपने ही दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते है। इनके पीछे व्यक्ति के अपने उद्देश्य होते है। आज इस शैली का व्यापक प्रचार देखने को मिलता है। राजनैतिक तथा सामाजिक स्वार्थों को लेकर जन-भावना को भडकाने या उसका समर्थन प्राप्त करने के लिए मानस की कुछ पंक्तियों के उद्धरण देकर तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है। यह मनोवृत्ति नई नही है। आज राजनीति-प्रधान युग है इसलिए उसका उपयोग सत्ता-स्वार्थ के लिए किया जाता है। कुछ वर्ष पहले तक इसे सम्प्रदाय या दर्शन को दृष्टिगत रखकर किया जाता था। तुलसीदास किस सम्प्रदाय के थे या उनकी दार्शनिक मान्यताएँ क्या थी ?—यह विवाद वडा पुराना है। आज भी ये विवाद किसी सीमा तक चल ही रहे है, किन्तु सत्ता और राज-नीति के तुमुल घोष मे वह स्वर कुछ धीमा पड गया है। मानस की व्यापक लोक-प्रियता के दोहन या शोषण के लिए ही इस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता रहा है। इस प्रकार के उपयोग की प्रक्रिया मे सबसे वडी समानता यही है कि उनमे किसी अश-विशेप को ही उछालने की चेष्टा की जाती है। मानस-वक्ता के रूप मे मुझे इस प्रकार की समस्या का सामना वार-वार करना पडा है। बहुधा ही 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, ये सव ताडन के अधिकारी' चौपाई की व्याख्या का अनुरोध किया जाता है। यह पक्ति इतनी वार दुहराई गई है कि उन लोगो के मुख पर भी आ गई है जिनका परिचय सम्भवत मानस की केवल इसी एक पंक्ति से है। इनमें से अधिकाश के दयनीय मानस-ज्ञान को देखकर दु ख होता है। इनमे कई वेचारे शुद्ध-सद्भाव से प्रेरित होते है। यहाँ तक कि एक विश्वविद्यालय मे, जहाँ मुझे कई दिन प्रवचन करना था, सवसे पहले ही दिन मेरे सामने यह पंक्ति रख दी गई। मुझे हँसी आ गई। मैने कहा, "भाई, मानस मे कई हजार पक्तियाँ है। उनमे से हमारा-आपका परिचय इस विवादास्पद पक्ति से क्यो हो ? पहले मुझसे मानस का परिचय प्राप्त कीजिए। एकता के सूत्रो को समझिए। इसके वाद विवादास्पद प्रसग पर भी विचार करेगे। सभव है, आपको मानस की पंक्तियो मे हजारों जीवन-निर्माण के सूत्र उपलब्ध हो जायं।" मैने पक्ति प्रस्तुत करने वाले सज्जन को एक विनोद-भरा दृष्टान्त दिया। अनेक परिवारो मे यह परम्परा है कि नववधू जव प्रथम वार भोजनालय मे प्रविष्ट होकर भोजन वनाती है तव उसमे विशिष्ट रूप से कई लोगो को आमन्त्रित किया जाता है। लोग भोजन के वाद या पहले वधू को कुछ भेट देते है। घर मे नववधू ने पहले दिन भोजन वनाया, चावल परोसा गया और पतिदेव ने भोजन करने के स्यान पर कुरेद-कुरेदकर उसमे से एक नन्हा-सा चावल ढूंढ निकाला जो कुछ अपरिपक्व-सा प्रतीत होता था। नववधू को फटकारते हुए कहने लगे, "यही भोजन वनाना सीखकर आई हो ?" वताइए, पति पत्नी का दाम्पत्य जीवन कैसा वीतेगा ? किन्तु यह दृष्टान्त तो उन्हे प्रभावित कर सकता है जो अनजाने मे ही प्रचार के शिकार वन जाते है। पर जिनका लक्ष्य ही मानस को निमित्त वनाकर सघर्ष को उकसाना है वे अपने उद्देश्य से कैसे विरत

हो सकते है ? इसलिए जो लोग मानस को तुलसी की दृष्टि से देखना चाहते है, उन्हे धैर्यपूर्वक समग्र मानस का अध्ययन करना चाहिए। मानस को तुलसी की मान्यताओ के संदर्भ मे देखने के बाद अध्येता अपनी दृष्टि से ग्रन्थ की समीक्षा करे, यह एक युक्तिसंगत प्रक्रिया होगी।

अनेक ग्रन्थ काल-विशेष मे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते है। किन्तु यह भी यथार्थ सत्य है कि वस्तुओ का मूल्य शाश्वत सत्य नही है। वस्तुओ का मूल्य देश और काल की अपेक्षाओ से वदलता रहता है। क्या रामचरितमानस की उपयोगिता वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो मे है ? यदि इसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है तो इसके अध्ययन का केवल शैक्षणिक महत्त्व रह जाएगा। आज के युग-संदर्भ मे मानस की उपयोगिता और उसका मूल्य बढ़ा ही है। जिस समय मानस की रचना हुई थी, उस समय की अपेक्षा आज हम उसके उपयोग, प्रचार और प्रसार मे अधिक स्वतन्त्र है, उसकी आवश्यकता भी आज पहले से कही अधिक है।

तुलसी की दृष्टि को लेकर रामचरितमानस की अन्य मान्यताओ पर विवाद हो सकता है, किन्तु जिस धारणा पर कोई विवाद नही हो सकता, वह है, "राम की ईश्वरता के प्रति उनका आग्रह।" इसे सभी अध्ययनकर्ताओं ने समान रूप से स्वीकार किया है। यह बात और है कि कुछ लोगो को यह आग्रह प्रिय प्रतीत होता हो और कुछ को अप्रिय—किंतु तुलसीदास इस प्रश्न पर रंच-मात्र भी झुकने के लिए प्रस्तुत नही है। इस संदर्भ मे वे कटुता की सीमा तक पहुँच जाते है। श्रीराम को जो लोग शुद्ध परब्रह्म परमात्मा से रंच-मात्र भी कम सिद्ध करना चाहते है, उनके लिए वे जिस कठोर शब्दावली का प्रयोग करते है, वह स्वयं उनकी भाषण-परपरा के विपरीत है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस सम्बन्ध मे उनकी भावनाएँ कितनी कोमल है। राम को ब्रह्म से भिन्न मानने वालो के लिए वे इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं :

कहहि सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखण्डी हरि-पद बिमुख, जानहि झूठ न साँच॥

उनके श्रीराम इतिहास के पन्नो मे खोए हुए एक राजा-मात्र नही है। जब वे श्रीराम का वर्णन करते है, तव वे यह नही कहते कि "अयोध्या मे राम-नाम के एक राजा थे।" उनके लिए 'राम है।' उनके राम चित्रकूट मे रहते है। (अयोध्या कहिए या चिककूट, प्रश्न तो उनकी दृष्टि का है) कही भ्रान्ति न रह जाय, इसलिए वे 'वसत' (रहते है) की वर्तमानकालिक क्रिया के साथ-साथ 'नित' (सर्वदा) शब्द का भी प्रयोग करते है

चित्रकूट महँ वसत प्रभु, नित सिय लखन समेत।
राम-नाम जप जाचकहि तुलसी अभिमत देत॥

कुछ लोगो को गोस्वामीजी के इस आग्रह से निराशा हो सकती है। वे उन्हे अंधविश्वासी और दुराग्रही कह सकते है। ऐसे लोग जो राम को केवल ऐतिहासिक

पुरुप मानते हैं, उनका तुलसी की दृष्टि से सहमत होना असभव है। कुछ इसे उपयोगिता की दृष्टि से भी हानिकारक मानते हैं। "ईश्वर मानकर भला हम उनसे क्या सीखेंगे ? मनुष्य मानकर हम उनके चरित्र से कुछ ग्रहण भी कर सकते हैं" ऐसा तर्क एक राजनीतिज्ञ ने, जो उस समय बडे प्रभावशाली केन्द्रीय मन्त्री थे, मानस-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रस्तुत किया था। उनसे और उन-जैसे तथा-कथित विचारको से मेरा प्रश्न यह था कि "राम को छोड दीजिए, जिन्हे आप ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है, उन महापुरुपो के चरित्र से आपने क्या सीखा है ?" उन्हे भी जाने दे। यह सज्जन, जो स्वय को गाधीवादी मानते थे, पर महात्मा गाधी के चरित्र से कोसो दूर थे, स्वय से ही पूछ सकते थे कि गाधीजी को व्यक्ति मानकर और उनके सामीप्य से उन्होने क्या सीखा है ? इसलिए यह तर्क, कि राम को व्यक्ति मानकर ही उनसे सीखा जा सकता है, सर्वथा हास्यास्पद है।

क्या ऐतिहासिक दृष्टि भक्तिमूलक दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक उपयोगी है ?—इस प्रश्न पर गम्भीर विचार अपेक्षित है। यह विवाद नया नही है। श्रीमद्भागवत के पृष्ठो मे इन दोनो मान्यताओ के द्वन्द्व को लेकर एक विचारोत्तेजक गाथा प्राप्त होती है। इस गाथा के केन्द्र द्वैपायन व्यास है। व्यास ही महाभारत-सहित अष्टादश पुराणो के रचयिता माने जाते है। महाभारत भारतीय इतिहास की सर्वोत्कृष्ट कृति है, किन्तु उस रचना के पश्चात् भी व्यास का हृदय असतुष्ट था। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ मे इसका एक बडा ही मार्मिक शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया है। सरस्वती नदी के तट पर द्वैपायन व्यास विराजमान थे। उसी समय देवर्पि नारद का शुभागमन हुआ। व्यास ने विधिपूर्वक देवर्पि का पूजन किया। सुखासीन वीणापाणि यशस्वी देवर्पि नारद ने मुस्कराकर पास ही बैठे ब्रह्मर्पि व्यासजी से कहा, "महाभाग व्यासजी, आपके शरीर एव मन, दोनो ही अपने कर्म एव चिंतन से सन्तुष्ट है न ? अवश्य ही आपकी जिज्ञासा तो भली भाँति पूर्ण हो गई होगी, क्योकि आपने जो यह महाभारत की रचना की है वह बडी ही अद्भुत है। वह धर्म आदि सभी पुरुपार्थो से परिपूर्ण है। सनातन ब्रह्मतत्त्व को भी आपने खूब विचारा है, और जान भी लिया है। फिर भी प्रभु ! आप अकृतार्थ पुरुष के समान अपने विपय मे शोक क्यो कर रहे है ?" व्यासजी ने कहा, "आपने मेरे विपय मे जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है। वैसा होने पर भी मेरा हृदय सन्तुष्ट नही है। पता नही, इसका क्या कारण है ? आपका ज्ञान अगाध है। आप साक्षात् ब्रह्माजी के मानस-पुत्र है, इसलिए मैं आपसे ही इसका कारण पूछता हूँ। नारद-जी ! आप समस्त गोपनीय रहस्यो को जानते है, क्योकि आपने उन पुराण-पुरुप की उपासना की है, जो प्रकृति-पुरुप दोनो के स्वामी है और असग रहते हुए ही अपने सकल्प-मात्र से गुणो के द्वारा ससार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते रहते है। आप सूर्य की भाँति तीनो लोको मे भ्रमण करते रहते है और योगबल से प्राण-वायु के समान सबके भीतर रहकर अन्त करणो के साक्षी भी है। योगानुष्ठान और नियमो के द्वारा परब्रह्म और शब्द-ब्रह्म दोनो की पूर्ण प्राप्ति कर लेने पर भी

मुझ मे जो वडी कमी है, उसे आप कृपा करके वतलाइये !"

सूत उवाच : अथ तं सुखमासीनं उपासीनं बृहच्छ्रवा ।
देवर्षि: प्राह विप्रर्षि वीणापाणि स्मयन्निव ।।

नारद उपाच . पाराशर्य महाभाग भवत कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ।।
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।
कृतवान् भारतं यस्त्व सर्वार्थ-परिबृंहितम् ।।
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ।
अथापि शोचस्थात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ।।

व्यास उवाच . अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम् ।।

स वै भवान् वेद समस्त गुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराण. ।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यक्ति गुणैरसंग ।।
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो युवारिवात्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतै. स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ।।

द्वैपायन व्यास और देवर्षि नारद के वार्तालाप को केवल दो व्यक्तियो के सवाद के रूप मे नही देखा जाना चाहिए। महाभारत के रचयिता व्यास ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते है। वे सच्चे इतिहासकार है। इतिहासकार मे जिस निष्पक्षता की आवश्यकता होती है, उसका जैसा दर्शन व्यास के चरित्र मे होता है, उसकी तुलना विश्व के किसी इतिहासकार से की ही नही जा सकती। महाभारत का अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति के सामने यह वात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि चरित्र-वर्णन मे उन्होने किसी के प्रति रंच-मात्र पक्षपात का आश्रय नही लिया है, चाहे वे उनके पिता पराशर हो अथवा महाभारत के मुख्य नायक पाण्डव। वहाँ प्रत्येक पात्र पूरी तरह नग्न है। जो व्यक्ति निपाद-कन्या सत्य-वती से विचित्र परिस्थितियो मे अपने जन्म का वर्णन कर सकता है, वह कितना सत्यनिष्ठ रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। इतना ही नही, ऐसा कोई दर्शन अथवा विचार नही है जिसके मूल उत्स महाभारत मे विद्यमान न हो। महा-भारतकार का दावा है कि "विश्व मे ऐसा कुछ नही है जो महाभारत मे न हो, और जो इसमे नही है वह कही नही है।" इस दावे की यथार्थता को गभीरता से अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। इतनी उत्कृष्ट रचना करने के बाद भी व्यास का असन्तोष एक प्रश्न-चिह्न बनकर सामने आ जाता है। वह असन्तोष, जिसका अनुभव प्रत्येक यथार्थवादी इतिहासकार कर सकता है। प्रश्न यह है कि इतिहास व्यक्ति और समाज को क्या देता है? स्वय इतिहासकार की उपलब्धि क्या है? जो लोग यथार्थ का उद्देश्य केवल यथार्थ ही मानते है, वे केवल

इस गर्व-मात्र से सन्तुष्ट हो सकते है, या उसका तार्किक समर्थन कर सकते हैं, कि उन्होने सत्य को विना किसी आवरण के उपस्थित किया है। किन्तु यह तो वौद्धिक विवाद मे विजयी बनने का ही एक कौशल है। विश्व के इतिहास मे वडा-से-वडा यथार्थवादी भी जीवन को सर्वथा नग्न रूप मे नही जी सकता है। उसे यह सत्य ज्ञात होता है कि सर्वथा यथार्थ मे जीना असम्भव है। इसीलिए वे स्वय तो आवरण मे ही जीते है। वस्त्र, भोजन, भापण—इन सवको परिवर्तन के आवरण से आवृत करके ही व्यक्ति जीवन को जीने योग्य बनाता है। यथार्थवाद के प्रति उसका आग्रह केवल बौद्धिक गोष्ठियो मे विवाद के लिए ही दिखाई देता है। वह एक चतुर व्यापारी की भाँति यथार्थवाद को दूसरो के हाथ मे वेचकर स्वय के लिए सुख-सुविधा की सामग्री एकत्र करता है।

द्वैपायन व्यास प्रबुद्ध विचारक थे। यथार्थवाद आज की भापा है। प्राचीन काल मे इसे सत्यनिष्ठा के नाम से पुकारा जाता था। व्यास स्वय को सत्यनिष्ठ मानकर ही ऐसे इतिहास का सृजन करते है। किन्तु यह सत्यनिष्ठा उन्हे सन्तुष्ट नही कर पाती, उपर्युक्त उपाख्यान से यह सिद्ध हो जाता है।

देवर्षि नारद इतिहासकार नही है। उनकी दृष्टि भी इतिहासपरक नही है। केवल व्यक्तियो के राग-द्वेप, सघर्ष, गुण-अवगुण की व्याख्या ही तो इतिहास है। इतिहास मनुष्य की स्मृति को उन घटनाओ से वोझिल वनाता है, जो वीत चुकी है। वह देश, प्रान्त और जातियो मे वैमनस्य की सृष्टि करता है। इसका यह तात्पर्य नही कि साहित्य से इतिहास को वहिष्कृत कर दिया जाए, अपितु उसका प्रयोग सीमित मात्रा और सही सन्दर्भ मे ही किया जाना चाहिए। शवच्छेद (Post Mortem) चिकित्सा-शास्त्र का विशिष्ट अग है, किन्तु शवच्छेद की प्रक्रिया सर्वदा एकान्त मे सम्पन्न की जाती है। चिकित्सक केवल उसके निष्कर्षों को ही लिखित रूप मे प्रस्तुत करता है। यदि वह शवच्छेद की प्रक्रिया चौराहे पर पूरी करने लगे और न्यायालय मे लिखित निष्कर्प के स्थान पर शव का प्रदर्शन करने लगे, तो उसके परिणामस्वरूप ऐसे वीभत्स वातावरण की सृष्टि होगी कि वह लोगो के जीवन को दूभर बना देगी। इतिहास शवच्छेदन ही तो है! केवल उसके निष्कर्षो को ही जन-साधारण के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिए। उसे इस सीमा तक नग्न नही किया जाना चाहिए कि वह पाठक के मन मे घृणा की सृष्टि करे। चिकित्सा-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को स्वस्थ बनाना है। जहाँ तक शवच्छेदन उस प्रक्रिया में सहायक है, वहाँ तक उसका उपयोग किया जाना चाहिए। इतिहास भी यदि समाज के मन को स्वस्थता प्रदान कर सकता है, तभी उसकी सार्थकता है।

देवर्षि भक्तिशास्त्र के आचार्य है। भक्ति का मुख्य उद्देश्य 'सत्य शिवं सुन्दर' की सृष्टि है। इसीलिए वह व्यक्ति के इतिहास के स्थान पर भगवान् की लीला को अपना मुख्य केन्द्र बनाता है। उस लीला को गुण-दोप की दृष्टि से श्रवण, पठन का विषय नही बनाया जाना चाहिए। नारद ने द्वैपायन व्यास को भगवल्लीला के

वर्णन का आदेश दिया (श्रीमद्भागवत पुराण की रचना के पीछे यही प्रेरणा थी।) श्रीमद्भागवत में देवर्षि ने वडे ही विस्तार से इतिहास के स्थान पर भगवद्गुण-गायन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि के जो दोष बताए है, वह बड़े महत्त्व के है। "जो मनुष्य भगवान् की लीला छोड़कर अन्य कुछ कहने की इच्छा करता है वह उस-इस इच्छा से ही निर्मित अनेक नाम और रूपो के चक्कर में पड जाता है। उसकी बुद्धि भेद-भाव से भर जाती है। जैसे हवा के झकोरों से डगमगाती हुई नौका को कही भी ठहरने का ठौर नही मिलता, वैसे ही उसकी चंचल बुद्धि कही भी स्थिर नही हो पाती" :

ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षत पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।
न कुत्रचित्क्वापि च दु स्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥

देवर्षि का दृष्टिकोण केवल भावनात्मक ही नही, विचारोत्तेजक भी है। सारी सृष्टि ही गुण-दोष से भरी हुई है। वर्तमान मे ही व्यक्ति लाखो व्यक्तियो के सम्पर्क मे आता है, और उनमें से अधिकाश हमारे मन पर कोई-न-कोई छाप छोड़ जाते है। गुण के द्वारा राग और दोष-दर्शन के द्वारा द्वेष हमारे मन पर छाए रहते है। वर्तमान में हमारा जिन लोगो से सम्पर्क होता है, उनसे कुछ-न-कुछ लाभ-हानि की समस्या भी जुडी रहती है। अत एक सीमा तक उस प्रभाव से अछूता रहना असंभव नही तो कठिन अवश्य है। किन्तु इतिहास तो हमें उन लोगो से जोड देता है, जिनसे हमे आज कुछ भी लेना-देना नही है। उन पात्रों के प्रति भी हमारे अन्तर्मन मे राग-रोष उत्पन्न कर देता है। इस तरह वह हमारा वोझ हल्का करने के स्थान पर ऐसा अनावश्यक वोझ लाद देता है, जिसे केवल ढोना-ही-ढोना है।

प्रत्येक जाति और देश उसी परम्परा को ढोने का प्रयास कर रहा है। किसी जाति ने किसी समय दूसरी जाति को उत्पीड़ित किया था, अत. उसका बदला लेने के लिए आज भी उस घृणा-वृत्ति को जीवित रखता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का प्रतिद्वन्द्वी है और अपनी श्रेष्ठता की सुरा पीकर अन्य राष्ट्रो के विरुद्ध संघर्ष करता है और इस तरह हिंसा-प्रतिहिंसा के चक्र को आगे वढाता ही जाता है। घृणा और सघर्ष की ये प्रवृत्तियाँ मानव-मन मे आदिम-काल से विद्यमान है। उन्हें उकसाना वहुत सरल है। इससे नेतृत्व प्राप्त कर लेना अत्यन्त सरल हो जाता है। किन्तु इसके द्वारा व्यक्ति और समाज को क्या प्राप्त होता है? यदि हम शान्त चित्त से विचार करें तो देखेंगे कि अशान्ति ही इसकी उपलब्धि है। इसी को नारद हवा के थपेड़ों से भटकती हुई नौका के दृष्टान्त से स्पष्ट करते है। समुद्र या नदी का जल सहज भाव से अशान्त होता है और कही तूफान आ जाय तो कहना ही क्या है? मनुष्य का मन भी जल की ही भाँति चचल है। वुद्धि की नौका पर वैठकर व्यक्ति उस चचलता के माध्यम से नौका को खेता हुआ लक्ष्य की ओर वढता है। किन्तु उसी समय यदि सामूहिक द्वेष की आँधी चल पडे तो नौका और उसपर आरूढ़ यात्री की दशा की कल्पना की जा सकती है। व्यक्ति और समाज के जीवन

मे इस आँधी की सृष्टि करने मे इतिहास का बहुत बडा भाग है।

नारद का व्यास के प्रति यही व्यग्य था कि तुमने महाभारत-जैसे विशाल इतिहास की सृष्टि करके समाज को क्या देना चाहा है ? देवर्षि का उद्देश्य महाभारत के ज्ञान और दर्शन की अवहेलना करना नही था। इस क्षेत्र मे महाभारत के अद्वितीय अवदान की सराहना उन्होने प्रारम्भ मे ही कर दी थी। किन्तु महाभारत के जातीय युद्ध की गाथा और व्यक्तियो के इतिहास को लेकर वे प्रश्न-चिह्न अवश्य प्रस्तुत करते है। इस दृष्टि से महाभारत की उपयोगिता सदिग्ध है। तुलसीदास ने भी इस पर एक कटाक्ष किया, "मै तो चाहता हूँ कि लोग रामायण की शिक्षा का अनुगमन करे, किन्तु समाज तो महाभारत का अनुकरण कर रहा है। मुझ-जैसे दुष्ट की कौन सुने ? कलियुग का स्वभाव ही कुचाल से प्रेम करना है" ·

रामायन सिख अनुहरत, जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति॥

इसका उद्देश्य महाभारत से पडने वाले प्रभाव पर कटाक्ष करना है। महाभारत के मुख्य नायक पाण्डव है और प्रतिपक्षी उनके ही बन्धु कौरव है। दोनों राज्य के लिए सघर्ष करते हुए करोडो व्यक्तियो को कट जाने देते है। रामचरितमानस मे बन्धुत्व के आदर्श राम और भरत है, जो एक-दूसरे के लिए राज्य का परित्याग कर देने मे सन्तोष का अनुभव करते है। स्वभावत सघर्ष-प्रिय मानवमन कौरव-पाण्डवो के चरित्र को अपना आदर्श वना लेता है। वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि यदि द्वैपायन व्यास-जैसा महापुरुष पाण्डवों को आदर्श मानता है तो उसका अनुगमन करना क्या बुरा है ?

नारद व्यास को श्रीमद्भागवत की रचना के लिए प्रेरित करते है और इस रचना के वाद ही व्यास, सन्तोष, शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव करते है। श्रीमद्भागवत मे भी इतिहास का अभाव नही है। उसमे भी राजाओ का इतिहास और उनकी वशावली का वर्णन है, किन्तु इसमे दो भिन्नताएँ है—पाण्डवो के स्थान पर इसके केन्द्र भगवान् कृष्ण है और इतिहास-वर्णन का उद्देश्य इतिहास न होकर उसके प्रति वितृष्णा और वैराग्य उत्पन्न करना है। सारे इतिहास का वर्णन करने के वाद उसकी निरर्थकता की घोषणा की गई। इतिहास साधारणतया किस दिशा मे प्रेरित करता है, इसका वडा ही मार्मिक चित्र श्रीमद्भागवत के अन्तिम परिच्छेद मे प्रस्तुत किया गया है

कथं सेयमखण्डा भू पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा॥
तेजोऽब्वन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतया बुधा।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गता॥
ये ये भूपतयो राजन् भुंजन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृता. सर्वे कथामात्रा: कथासु च॥

"वे लोग यही सोचा करते है कि मेरे दादा-परदादा इस अखण्ड भूमडल का

शासन करते थे, अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रहे और मेरे बाद मेरे बेटे-पोते-मेरे वंशज किस प्रकार इसका उपभोग करे। वे मूर्ख इस आग, पानी और मिट्टी के शरीर को अपना आपा मान बैठते है, और बडे अभिमान के साथ डीग हाँकते है कि यह पृथ्वी मेरी है। अन्त मे शरीर और पृथ्वी, दोनो को छोडकर स्वय ही अदृश्य हो जाते है। प्रिय परीक्षित ! जो-जो नरपति बड़े उत्साह और बल-पौरुष से इस पृथ्वी के उपभोग मे लगे रहे, उन सबको काल ने अपने विकराल गाल मे धर दबाया। अब केवल इतिहास मे उनकी कहानी ही शेष रह गयी है"

कथा इमास्ते कथिता महीयसां हिताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥
यस्तूत्तम - श्लोक-गुणानुवाद संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्न ।
यमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समान ॥

"परीक्षित ! ससार मे बहुत-से महान् पुरुष हो गए है, जो सम्पूर्ण लोको मे अपने यश का विस्तार करके यहाँ से चल बसे। उनकी ये कथाएँ तुम्हे ज्ञान और वैराग्य का उपदेश करने के लिए कही गयी है। इन्हे वाणी का वैभव-मात्र न समझो। इनमे परमार्थ-तत्त्व भरा हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद समस्त अमगलो का नाश करने वाला है, बडे-बडे महात्मा उसी का गान करते रहते है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों मे अनन्य प्रेममयी भक्ति की लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान् के दिव्य गुणानुवाद का ही श्रवण करते रहना चाहिए !"

तुलसीदास की दृष्टि वही है जिसका उपदेश देवर्षि ने व्यास को दिया। तुलसीदास को बहुधा 'वाल्मीकि का अवतार' कहा जाता है। इसे तथ्य के रूप मे प्रमाणित करना सम्भव नही है, किन्तु भावात्मक रूप मे स्वीकार करना लाभदायक है। तुलसीदास के समय मे भी यही धारणा प्रचलित थी और वे उसे अस्वीकार नही करते। यदि व्यास ने अपने उसी जन्म मे महाभारत के बाद श्रीमद्भागवत की रचना करके अपनी भूल का परिमार्जन किया था तो वाल्मीकि ने तुलसी के रूप मे जन्म लेकर अपनी पुरानी धारणा को सशोधित रूप दिया। वाल्मीकि-रामायण मे ऐतिहासिक दृष्टि की प्रधानता थी। इसके स्थान पर रामचरितमानस भावनात्मक दर्शन को साकार रूप प्रदान करता है। इसके वर्ण्य भगवान् श्रीराम है।

श्रीराम का चरित्र भी आदर्श जीवन की उच्चतम अभिव्यक्ति है, किन्तु उन्हें केवल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करने पर अनेक प्रश्न उठ खडे होते है। यहाँ यह पूरी तरह समझ लिया जाना चाहिए कि ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव का तात्पर्य श्रीराम और श्रीकृष्ण के अवतरण को अस्वीकार करना नही है।

मेरे लिए यह स्पष्टीकरण अत्यधिक आवश्यक है। क्योंकि इस विषय में मेरी विचार-धारा को लेकर एक वर्ग द्वारा भ्रान्ति फैलाने की चेष्टा की गई है। कुछ लोगो के द्वारा यह प्रचारित किया गया है कि मैं राम को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर उन्हे काल्पनिक व्यक्तित्व-मात्र मानता हूँ। इस प्रकार प्रचारित करने वालो मे कुछ तो द्वेष से पीडित थे और कुछ बेचारे न तो तुलसीदास को समझ

पाते हैं, न ही मुझे। व्यास और तुलसीदास, दोनों ही श्रीकृष्ण और श्रीराम को काल्पनिक तो क्या, इतना ठोम सत्य मानते है कि उनकी तुलना मे उन्हें सारा इतिहास मिथ्या प्रतीत होता है। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनो इस पृथ्वी पर स्थूल रूप मे काल-विशेष मे अवतरित होते है, किन्तु उनका 'जन्म' नही होता। यद्यपि तत्कालीन अधिकाश व्यक्तियों ने उन्हे साधारण वालको की भाँति ही जन्म लेते हुए देखा था। उनके जीवन मे जो घटनाएँ घटित हुईं वे उनकी लीला हैं। साधारण व्यक्तियो के जीवन मे जो घटनाएँ होती हैं, उन पर उनका कोई नियन्त्रण नही होता। इसलिए उसे हम केवल व्यक्ति के चरित्र के रूप मे ही देख सकते है, किन्तु अभिनेता नाट्यमच पर जो अभिनय प्रस्तुत करता है, उससे वह पूर्व-परिचित होता है। क्योकि वह स्वेच्छा से भूमिका सम्पन्न करता है, अत. उससे अभिनेता के चरित्र का परिचय प्राप्त नही होता। इसलिए श्रीराम का चरित्र वस्तुत लीला है :

यथा अनेकनि वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपु न होइ न सोइ॥

रगमच पर अभिनेता के द्वारा जो क्रियाएँ की जाती है, उनके द्वारा उसके चरित्र की आलोचना नही की जाती—केवल अभिनय और उद्देश्य पर ही दृष्टि रखी जाती है। भगवान् अपने परिचित पार्षदो के साथ विश्व-रगमच पर अवतरित हुए। भगवान् यदि राम की भूमिका मे उतरते हैं तो उनके पार्षद जय-विजय रावण-कुम्भकर्ण की भूमिका मे आते है। सत्-असत् के शाश्वत सघर्ष को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना ही उसका उद्देश्य था, जिससे व्यक्ति अपने हृदयस्थ रावण को पहचानकर उसके विनाश की प्रक्रिया को जान ले।

ऐतिहासिक दृष्टि से राम का चरित्र देखने पर अनगिनत प्रश्न उठ खड़े होते हैं। उन राम को ऐतिहासिक दृष्टि से एक भूतकालीन राजकुमार के रूप मे देखना उसी दलदल मे फस जाना है जिससे भक्तो ने हमे उवारने की चेष्टा की है। आज भी ऐसे लोग वहुत वडी सख्या मे हैं, जो श्रीराम के चरित्र को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे रखकर दुर्भावनाओ की सृष्टि मे सलग्न है। कुछ लोग इसमे उत्तर-दक्षिण का सघर्ष देखते है। उसे आर्य और द्रविड के सघर्ष के रूप मे भी देखा जा रहा है। दक्षिण मे यह वहुत प्रचलित तथ्य वनता जा रहा है कि उत्तर ने दक्षिण पर आक्रमण किया था। आर्य राम ने द्राविड रावण को परास्त किया। भूतकाल का वदला अव श्रीराम के चित्रो से लेने की चेष्टा की जा रही है। वर्तमान युग की राजनीति को उसी परिप्रेक्ष्य मे देखा जा रहा है। भविष्य के लिए सावधान किया जा रहा है—"सावधान, वही इतिहास फिर लौटने न पावे!" एक मिथ्या उन्माद की सृष्टि करके राजनीतिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा की जा रही है। कोई यह भी न समझ ले कि उत्तर भारत मे राम निर्विवाद है। यहाँ भी एक ओर तो उन्हे वर्ण-व्यवस्था के आधार पर आलोचना का विषय वनाया जा रहा है। राम शूद्रविरोधी और ब्राह्मणवादी है। इससे लगता होगा कि ब्राह्मण तो उनके समर्थक होंगे ही; किन्तु अपने को ब्राह्मण-पुगव मानने वाले एक विद्वान् ने मुझसे

स्पष्ट शब्दो मे कहा कि क्षत्रिय राम के समक्ष भगवान् परशुराम की पराजय और स्तुति कराकर तुलसीदास ने अनर्थ ही कर डाला है। इन सज्जन को भगवान् भी चाहिए तो अपनी जाति का ! और एक प्राचार्य तो राम-रावण के युद्ध को भी ब्राह्मण-क्षत्रिय के सघर्ष के रूप में ही देखते है। कोई आश्चर्य न होगा कि कुछ दिनों के बाद ब्राह्मणों को क्षत्रिय राम से विरत रहने की प्रेरणा दी जाय। श्रीराम को ब्राह्मण-द्वेषी सिद्ध किया जाय, क्योकि उन्होने महाविद्वान् रावण का वध किया था। क्षत्रियो को भी शायद वे आलोच्य लगने लगे क्योकि उन्होने ब्राह्मणो का पद-प्रक्षालन करके क्षत्रिय जाति की मर्यादा कम कर दी। कुछ वर्ष पहले भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की आलोचना इसी प्रकार के प्रसग को लेकर की गई थी। तव श्रीराम किसके पूज्य और आराध्य रह जाएँगे ? यह सब ऐतिहासिक दृष्टि की देन है। हिन्दू जाति को बडा उलाहना दिया जाता है कि उसमे ऐतिहासिक दृष्टि का वडा अभाव रहा है। शायद अव उसी कमी को पूर्ण करने के लिए एक साथ ऐतिहासिक दृष्टि से श्रीराम के चरित्र की समीक्षा की जा रही है, उन्हे विविध प्रकार के सघर्षो का केन्द्र बनाया जा रहा है।

तुलसीदास के राम व्यक्ति नही, ब्रह्म है। उत्तर-दक्षिण, आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-शूद्र—सब उन्हीके अग है। सब उन्हीमे समाए हुए है। तुलसीदास उन राम को देखने का निमत्रण देते है, जो नन्हे-से दिखाई देने पर भी साक्षात् विराट् है। मन्दोदरी के शब्दों मे वे साक्षात् विराट् है ·

बिस्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला॥
जासु घ्रान अश्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥
श्रवण दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अबल अम्बुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अधगो जातना। जग मय प्रभु का बहु कलपना॥
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान॥

वे अवतरित होकर लीला करते है। रावण-कुम्भकर्ण उनके ही पार्षद जय-विजय हैं। न तो राम आर्य है और न तो रावण द्राविड। रंगमच के अभिनेताओं को अच्छा-बुरा कहना व्यर्थ है। प्रभु के नाट्य का रसास्वादन कीजिए। किसी जाति के होते तो सम्वन्ध भी अपनी जाति मे करते। शवरी उनकी माँ नही हो सकती थी। शवरी द्वारा यह सुनकर, कि वह स्त्री और शूद्र है, उन्हें उठकर चले जाना चाहिए था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे कहा—"मै तो केवल भक्ति का ही

नाता मानता हूँ। जाति-पाँति को मैं बिना जल का मेघ मानता हूँ" :

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुलधर्म बड़ाई। धन बल परिसन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

वे ब्राह्मणों को समादर देते है, पर आनन्द तो उन्हे तभी आता है, जब केवट उन्हे मित्र कहकर पुकारता है

सहज सरूप कथा मुनि बरनत, रहे सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बन्धु बड़ाई॥

निषाद, निशाचर और वानर उनके मित्र है। छोटो पर वे दया नही करते, अपितु उन्हे मित्र मानकर प्रेम करते हैं

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों, प्रेम को पहिचानि॥
गीध कौन दयालु, जो बिधि रच्यो हिंसा सानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ, दियो जल निज पानि॥
प्रकृति मलिन कुजाति सबरी, सकल अवगुन खानि।
खात ताके दिए फल अति, रुचि बखानि-बखानि॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन, सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत, देह-दसा भुलानि॥
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहि सुमिरत हानि।
किए ते सब सखा पूजे, भवन अपने आनि॥
राम सहज कृपालु कोमल, दीन हित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि 'तुलसी', कुटिल कपट न ठानि॥

अपनी भक्ति का उपदेश देते हुए वे प्रत्येक देश, काल और व्यक्ति में इन्ही को देखते हुए सबसे प्रेम करने का उपदेश देते है .

अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्व-गत सर्व-हित, जानि करेहु अति प्रेम॥

तुलसी के राम प्रत्येक देश, काल और व्यक्ति के है। वे ईश्वर है। उन्हे देश, काल, जाति की सकीर्ण परिधि मे नही बाँधा जा सकता है। अनाथ तुलसी इन्ही राम का आश्रय पाकर धन्य हुए थे।

वर्तमान मे वे निर्भय है क्योकि राम उनके समर्थ रक्षक है .

को भरि है हरि के रितए, रितवै पुनिको हरि जौ भरिहै।
उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपि है तेहि को हरि जौ टरिहै॥
तुलसी यह जानि हिये अपने, सपने नहिं कालहु ते डरिहै।
कुमया कछु हानि न और न की जो पै जानकीनाथ मया करिहै॥

भविष्य की आशका से भी वे मुक्त है, क्योकि उन्हे "न घटै जन जो रघुवीर बढ़ायो" पर भरोसा है। मृत्यु के बाद भी वह उन्हे अपने पास बुला लेगा। अत. सुदूरगामी भविष्य भी उन्हे सन्नस्त नही करता

आपु हों आपु को नीके कै जानत रावरो राम भरायो बढ़ायो।
कीर ज्यों नाम रटै तुलसी कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो॥
सोई है खेद जो बेद कहै, न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयन्द चढ़ायो॥

जबै जमराज रजायसु ते मोहि लै चलिहै भट बाँधि नटैया।
तात न मातु न स्वामि सखा सुत बंधु बिसाल बिपत्ति बँटैया॥
साँसत घोर पुकारत आरत कौन सुनै चहुँ ओर डटैया।
एक कृपालु तहाँ 'तुलसी' दसरत्थ को नन्दन बंदि कटैया॥

चतु.शती के सन्दर्भ मे मानस की चार सौ पक्तियो पर इस ग्रन्थ-माला का प्रकाशन उन्ही प्रभु श्रीराम के चरणो मे पुष्पाजलि-समर्पण मात्र है। यह पुष्पाजलि भी उसी प्रकार की है, जैसे पुजारी देव-मन्दिर की वाटिका के पुष्प उन्ही आराध्य देवता को अर्पित करते हुए आनन्द का अनुभव करता है।

मानस-सर मे इतनी विविधता है कि उसकी समग्र विशेषताओ के विश्लेषण के लिए मुझे एक जीवन यथेष्ट प्रतीत नही होता है। जितनी बार मानस में प्रवेश करता हूँ, वहाँ सर्वथा नवीन सृष्टि का साक्षात्कार होता है—'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता' का दावा मुझे कभी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत नही हुआ। चतु.शती के संदर्भ मे चार सौ पक्तियो का चुनाव अपनी ही असमर्थता का परिचायक है। मानस की प्रत्येक पंक्ति अनुपम है। इस दिव्य सर में राम के गुण-गणो के अनन्त मोती है :

जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकुता हल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

उन मोतियो मे से कुछ आपके सामने है। इन मुक्ताओ का उपयोग करने मे आप स्वतन्त्र है। हंस बनकर चुगिए अथवा माला बनाकर हृदय पर धारण कीजिए; या हृदयरोगो के निवारण के लिए मुक्तापिष्टी बनाकर इनका सेवन कीजिए!

इस ग्रन्थ के लेखन मे विभिन्न व्यक्तियो ने अलग-अलग रूपो मे अपना योग-दान दिया है। उनके नामो का स्मरण कृतज्ञता की परम्परा के सरक्षण के लिए आवश्यक है। श्रीरमणलाल बिन्नानी का आग्रह ही इस रचना का मूलप्रेरक बना, इसके लिए मै उनका आभारी हू।

श्रीमती शीला कोचर, प्रेम, कु० मीरा, श्रीउमाशकर शर्मा, श्रीजीवन पटेल, श्रीनरेन्द्र पटेल, श्रीजगदीश गुप्त, श्रीगौरीशकर शास्त्री और गोविन्दप्रसाद दुवे ने इसकी लेखन-प्रक्रिया मे विविध रूपो मे बड़ा परिश्रम किया है। मै इन सबको अपना स्नेहाशीष देता हूं।

तुलसी-जयन्ती, सं० २०३० —रामकिंकर

'**मानस-मुक्तावली**' का प्रथम खण्ड जिन सौ चौपाइयो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, वे निम्नलिखित है :

१. वर्णानामर्थसघाना रसाना छन्दसामपि ।
मगलाना च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥

२. भवानीशकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ ।
याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त.स्थमीश्वरम् ॥

३. राम भगति जहँ सुरसरि धारा । सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा ॥

४. विधि-निषेधमय कलिमल-हरनी । करम कथा रविनंदिनि बरनी ॥

५. मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥

६. सो जानब सतसग प्रभाऊ । लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ॥

७. जड चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार ।
सत हस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि विकार ॥

८. खलउ करहिं भल पाइ सुसगू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥

९. स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहिं सुनहिं सुजान ॥

१०. कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

११. प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना । जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ॥

१२. रामचरन पकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥

१३. वन्दउँ लछिमन पद जल जाता । सीतल सुभग भगत सुखदाता ॥

१४. रघुपति कीरति विमल पताका । दण्ड समान भयउ जस जाका ॥

१५. सेस सहस्र सीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥

१६. सदा सो सानुकूल रहु मो पर । कृपासिन्धु सौमित्रि गुनाकर ॥

१७. रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ।

१८. महावीर विनवउँ हनुमाना । राम जासु जस आपु बखाना ।

१९. जनकसुता जग जननि जानकी । अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥

२०. ताके जुग पद कमल मनावउँ । जासु कृपा निरमल मति पावउँ ॥

२१. गिरा अरथ जल वीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बदउँ सीता राम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

२२. बदउँ नाम राम रघुवर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥

२३. अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥

२४. रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबर बिहारु ॥

२५. सबत सोरह सै एकतीसा । करउँ कथा हरिपद धरि सीसा ॥

२६. नौमी भौमबार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

७. रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥

२८. ताते रामचरित मानस वर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ॥
२९. सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू ॥
३०. बरषहिं राम सुजस वर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥
३१. सुठि सुन्दर सम्वाद बर, विरचै बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥
३२. होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा।
३३. नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ ॥
३४. गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥
३५. काम जारि रति कहँ वर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥
३६. साँसति करि पुनि करहि पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥
३७. तेहि गिरि पर वट विटप विसाला। नित नूतन सुन्दर सब काला ॥
३८. सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरात बुध वेदा ॥
३९. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
४०. जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥
४१. मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज वचन प्रवाना।
४२. छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जव तेहि जानेउ मरम तव, स्राप कोप करि दीन्ह।
४३. वोले विहँसि महेस तव, ग्यानी मूढ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥
४४. करुनानिधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी ॥
४५. बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी ॥
४६. होइ न विषय विराग, भवन वसत भा चौथपन।
हृदय वहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति विनु ॥
४७. पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ग्यान भगति जनु धरे सरीरा।
४८. तुलसी जसि भवितब्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ।
४९. बाढ़े खल वहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा ॥
५०. मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहि सेवा ॥
५१. जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचिर सब प्रानी ॥
५२. भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥
५३. यह हवि बाँटि देहु नृप जाई। जथा जोग जेहि भाग बनाई ॥
५४. विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार ॥
५५. रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥
५६. गाधितनय मन चिंता व्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।
५७. पूछा मुनिहिं सिला प्रभ देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेषी ॥

५८. अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाँडि कपट जजाल ॥
५९. मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह बिसेषी ॥
६०. धर्म सेतु पालक तुम्ह ताता । प्रेम विवस सेवक सुखदाता ॥
६१. ककन किंकिन नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥
६२. मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही । मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही ॥
६३. चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गए नृप किसोर मन चिता ॥
६४. जहँ बिलोक मृग सावक नयनी । जनु तहँ वरिस कमलसित श्रेनी ॥
६५ लता ओट तव सखिन्ह लखाए । वय किसोर सव भाँति सुहाए ॥
६६. देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥
६७ थके नयन रघुपति छवि देखे । पलकन्हि हूँ परिहरी निमेषे ॥
६८. अधिक सनेह देह भै भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
६९. लोचन मग रामहिं उर आनी । दीन्हेउ पलक कपाट सयानी ॥
७०. उदित उदयगिरि मच पर, रघुवर वाल पतग ।
विकसे सन्त सरोज सव, हरषे लोचन भृग ॥
७१ नृपन्ह केरि आसा निसि नासी । बचन नखत अवली न प्रकासी ॥
७२. मानी महिप कुमुद सकुचाने । कपटी भूप उलूक लुकाने ॥
७३. भए विसोक कोक मुनि देवा । वरसहि सुमन जनावहिं सेवा ॥
७४. लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल ।
जेहि वस जन अनुचित करहि चरहि, विस्व प्रतिकूल ॥
७५. मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया । परिहरि कोप करिअ अव दाया ॥
७६. टूट चाप नहि जुरिहि रिसाने । बैठिअ होइहिं पायँ पिराने ॥
७७. जौ अति प्रिय तौ करिअ उपाई । जोरिअ कोउ वड गुनी वोलाई ॥
७८. जाना राम प्रभाउ तव, पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि वोले बचन, हृदयँ न प्रेम समात ॥
७९. जेहि वर वाजि राम असवारा । तेहि सारदउ न वरनै पारा ॥
८०. सकर रामरूप अनुरागे । नयन पचदस अति प्रिय लागे ॥
८१. हरि हित सहित राम जव जोहे । रमा समेत रमापति मोहे ॥
८२. निरखि राम छवि विधि हरषाने । आठइ नयन जानि पछिताने ॥
८३. सुर सेनप उर वहुत उछाहू । विधि ते डेवढ लोचन लाहू ॥
८४. रामहि चितव सुरेस सुजाना । गौतम स्राप परमहित माना ॥
८५. देव सकल सुरपतिहि सिहाही । आजु पुरदर सम कोउ नाही ॥
८६. वैठे वरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भए ।
तन पुलकि पुनि पुनि देखि अपने सुकृत सुरतरु फल नए ॥
भरि भुवन रहा उछाहु राम विवाहु भा सवही कहा ।
केहि भाँति वरनि सिरात रसना एक यह मगल महा ॥१॥

८७. तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतिकीरति उरमिला कुँअरि लईं हँकारि कै ॥
कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुनसील सुख सोभामई।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई ॥२॥

८८. जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहिं सकल बिधि सनमानि कै ॥
जेहि नामु श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुख सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी ॥३॥

८९. अनुरूप बर दुलहिनि परस्पर लखि सकुच हियँ हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुर गन बरषहीं ॥
सुंदरी सुंदर बरन्ह सहँ सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं ॥४॥

९०. मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाए महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि ॥

९१. गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुर सुंदरी बरहि बिलोकि सब तिन तोरहीं ॥
मनिवसन भूषन वारि आरति करहि मंगल गावहीं।
सुर सुमन बरसहि सूत मागध बंदि सुजस सुनावहीं ॥१॥

९२. कोहबरहिं आने कुँअर कुँअरि सुआसिनिन्ह सुख पाइकै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइकै ॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहै।
रनिवास हास बिलास रस बस जनम को फल सब लहै ॥२॥

९३. निज पानि मनि महुँ देखि अति मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजवल्ली बिलोकनि बिरह भयबस जानकी ॥
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहि अली।
बर कुँअरि सुंदर सकल सखी लवाइ जनवासेहि चलीं ॥३॥

९४. तेहि समय सुनिअ असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा।
चिर जिअहु जोरी चारु चार्‌यो मुदित मन सबहीं कहा।
जोगीन्द्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुन्दुभि हनी।
चले हरषि बरसि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी ॥४॥

९५. पावा परम तत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥
९६. जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभ सुहावा ॥
९७. मूक बदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई ॥
९८. एहि सुख ते सत कोटि गुन, पावहि मातु अनन्द।
भाइन्ह सहित बिआहि घर, आए रघुकुल चंद ॥

९९. निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो।
रघुवीर चरित अपार बारिधि पारु कवि कौने लह्यो॥
उपवीत ब्याह उछाह मगल सुनि जे सादर गावही।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुखु पावही॥

१००. सिय रघुवीर बिबाह, जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कहँ दसा उछाह, मंगलायतन राम जसु॥

मानस-मुक्तावली

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥

उपर्युक्त पंक्तियों मे ग्रन्थ के प्रारम्भ में वन्दना की परम्परा का पालन तो है ही, पर तुलसीदास की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओ को समझने के लिए इससे अधिक उपयुक्त सूत्र नही हो सकता।

कविता क्या है ? और कविता का उद्देश्य क्या है ?

उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्ध मे प्रयुक्त चारो शब्द कविता के तात्त्विक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत करते है।

वर्ण, अर्थ, रस और छन्द का सही अर्थो मे संयोजन ही कविता है और '**मंगल**' की सृष्टि ही उसका उद्देश्य है।

वर्णमाला कितनी सक्षिप्त है—केवल ५२ वर्ण ही तो है। इतनी सरल कि शिक्षा का श्रीगणेश यही से होता है। नन्हा बालक भी उसे सरलता से पढ-लिख ले। पर यह सारा साहित्य और शब्द-कोष वर्णमाला का विस्तार ही तो है। जिसका कोई अर्थ नही प्रतीत होता, पर जो 'शब्द' सृष्टि का मूल है, कुछ न प्रतीत होने पर भी जो सब-कुछ है—ब्रह्म की ही भाँति निर्गुण और सगुण। साधारण कवि काव्य के लिए शब्दो का चयन करता है। वर्ण उसके लिए निरर्थक है। उसकी दृष्टि कार्य पर है, वह द्रष्टा नही भोक्ता है। उसके लिए कारण की खोज व्यर्थ है। पर जिसे "कविर्मनीषी परिभू स्वयभू" कहकर अमरकोष मे स्मरण किया गया है वह तो शब्द का ज्ञाता ही नही है। वह वर्ण के दिव्य रूप से परिचित है, वह उसका साक्षात्कार करता है। वर्ण ध्वनि-प्रधान है और शब्द अर्थ-प्रधान। इसलिए शब्द उसके लिए व्यर्थ है जो उसके अर्थ से परिचित नही है—किन्तु वर्ण ध्वनि-प्रधान होने से अपरिचय की सीमा से मुक्त है। ध्वनि हमारे हृदय को छूती है और शब्द मे रस लेने के लिए हमे मस्तिष्क के पास जाना पडता है। कोयल की कुहू-कुहू, पक्षियो का कलरव सुनकर हमे मस्तिष्क से उसका अर्थ पूछने की आवश्यकता नही है। हृदय को उसमे सहज भाव से रसानुभूति होती है। जिन देशो की भाषा से व्यक्ति परिचित नही होता, उसके मधुर सगीत मे भी आनन्द का उद्रेक ध्वनि की महिमा को ही प्रकट करता है। वस्तुत काव्य का मूल वीज यह 'वर्ण' है। कुछ वर्ण ऐसे है जो कानो को मधुर प्रतीत होते है, तो कुछ वर्ण कर्ण-कटु। किन्ही वर्णों का उच्चारण सहज है तो कुछ मे प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। कवि के लिए सभी प्रकार के वर्णो की अपेक्षा है। रस और वर्ण, विषय की भिन्नता मे सभी की उपयोगिता है। काव्य की पक्तियो को पढते समय ध्वनि के द्वारा ही रस-विशेष की अनुभूति करा देना रस-सिद्ध कवि का ही

कार्य है। रामचरितमानस में वर्णों का यह चमत्कार पूरे ग्रन्थ में सर्वत्र परिलक्षित होता है।

वर्णों के द्वारा जिन शब्दो की रचना होती है, उनके अर्थ व्यवहार के लिए ही आरोपित है, जिनसे विशेष भाषा-भाषी ही परिचित होता है। जब 'कमल' शब्द का उच्चारण किया जाता है, तब उससे किसी विशेष पुष्प का स्मरण संस्कृत या हिन्दी भाषा का प्रयोग करने वाला ही कर सकता है। पर प्रश्न तो यह है कि 'क' 'म' 'ल' ये जो तीन वर्ण है, इनका स्वत. कोई तात्पर्य है या नही? मंत्रशास्त्र इन वर्णों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व और सामर्थ्य को स्वीकार करता है। भले ही पलाश के पत्तो को कोई पत्तल या दोने के रूप मे प्रयुक्त करता हो, पर उस पत्ते मे स्वत. क्या-क्या है, इसकी खोज वनस्पतिशास्त्री का कार्य है। सम्भव है पलाशपत्र मे ओषधि के रूप मे ऐसे तत्त्व हो, जो अनेक रोगो का उपशमन कर सकते हो—अत उपयोग और सामर्थ्य अलग-अलग वस्तु है।

तन्त्र या मन्त्रशास्त्र को अनेक व्यक्ति अन्धविश्वास का प्रतीक मानते है; किन्तु मंत्रशास्त्र का स्वय अपना विज्ञान है। ब्रह्माण्ड मे कोई भी पदार्थ शक्ति-शून्य नही है—आवश्यकता है पदार्थ मे निहित शक्ति को प्रकट करने की। प्रत्येक पदार्थ से शक्ति को प्रकट करने की प्रक्रिया अलग-अलग है। वर्णसामर्थ्य को प्रकट करने के लिए ही मंत्रशास्त्र ने वर्ण की बार-बार आवृत्ति के रूप मे जप-प्रक्रिया का अन्वेपण किया है। जप मे जिन वर्णों का प्रयोग किया जाता है, उनका कोई अर्थ होता है या नही? इसका उत्तर दो रूपो में दिया जा सकता है। एक अर्थ वह है जिसे हम आरोपित अर्थ कह सकते हैं। पर मंत्रशास्त्र का मुख्य तात्पर्य अर्थपरक नही है। जिसे व्यवहार मे अर्थ कहा जाता है, उसका मंत्रशास्त्र मे बहुत अधिक महत्त्व नही है। पातजलि ने "जपस्तदर्थभावनं" मे जप मे अर्थ-भावना की जो बात कही है, उसे अधिक गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। जब किसी श्लोक के अर्थ का ज्ञान व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है तब वह किसी विद्वान् या टीका के आश्रय से उसे जानकर सन्तुष्ट हो जाता है। मंत्र के अर्थ का भी यदि इसी रूप मे ज्ञान अभीष्ट हो तो यह अत्यन्त सरल है। एक नन्हे-से मंत्र के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी लाखो या करोडो की संख्या मे आवृत्ति आवश्यक नही है। पर इस आवृत्ति मे ही उसका रहस्य छिपा हुआ है। वस्तुत, साधक इस आवृत्ति के माध्यम से उस वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार चाहता है, जो भाषा-सापेक्ष न होकर सार्वभौम है। मंत्र का लौकिक अर्थ हो भी सकता है और नही भी। तुलसीदास ने 'सावरमंत्र' का उल्लेख करते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कलियुग के जीवो का कल्याण करने के लिए शिव ने सावरमंत्रो की रचना की, जिनमे अनमिल और अर्थ-रहित शब्द भी सिद्धि देने मे समर्थ है

कलि बिलोकि जग-हित हर गिरिजा। साबरमंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥
अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू॥

यदि सावरमंत्रो को भाषा व्याकरण की कसौटी पर कसकर देखा जाय तो

वे सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होते है, किन्तु यह तो कसौटी ही गलत है। एक विद्वान् ने शुद्ध व्याकरण-सम्मत भाषा में भोजन या किसी पदार्थ की याचना की और एक नन्हे वालक ने अपनी तोतली भाषा मे माँ से कुछ माँगा। दोनो की उपलब्धि मे कोई अन्तर नही होता। वालक की भापा को साहित्य या व्याकरण की कसौटी पर कसना ही बुद्धि का अतिरेक है। वेद या पुराणो मे ऐसे बहुत-से शब्द प्रयुक्त किए गए है जो व्याकरण-सम्मत नही है; उनका भी 'आर्प प्रयोग' कहकर ही समाधान किया जाता है। व्याकरण शब्दानुशासन है—पर अनुशासन व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति अनुशासन के लिए। व्याकरण जव एक भवन की भाँति होता है, तब वह भाषा को सुरक्षा प्रदान करता है, किन्तु उसका अतिरेक व्याकरण को कारागार का रूप दे देता है, जहाँ भाषा का सहज स्वरूप समाप्त होकर केवल कृत्रिमता ही शेष रह जाती है।

वर्णो का एक अपना स्वरूप है। साधारण अर्थ-परम्परा से भिन्न मन्त्रात्मक रूप मे वह ऐसे फलो का सृजन करते है जिन्हे हम तर्कसगत रूप मे नही समझ पाते। मानस को केवल एक महान् साहित्यिक कृति समझने वाले उसका एकागी आनन्द तो ले पाते है, पर वर्णो के माध्यम से उसमे जिस मन्त्रात्मक दिव्यता का सचार हुआ है, उसे उनकी बुद्धि ग्रहण नही कर पाती। विविध कामनाओ की पूर्ति के लिए किए जाने वाले मानस-पाठ को वे अन्ध-श्रद्धा के प्रतीक के रूप मे देखते है। तुलसीदास इस फलश्रुति की असदिग्ध शब्दो मे घोपणा करते है। सीता-राम के विवाह का प्रसग साहित्यिक दृष्टि से तो अत्यन्त मधुर है ही, पर उसमे रस और आनन्द का पारावार उमड रहा है·

कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।

पर विवाह-प्रसग के अन्त मे वे आश्वासन देते है कि इस मागलिक प्रसग के गायन-श्रवण से व्यक्ति के जीवन मे आनन्द एव उछाह की प्राप्ति होती है :

सिय रघुबीर बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जस॥

इस दोहे का मर्म साहित्य की प्रचलित तथाकथित बुद्धिवादी विधा से हृदयंगम नही किया जा सकता। इसके लिए वर्ण के मन्त्रात्मक सामर्थ्य को समझना होगा। वहुधा विवाह-सम्वन्धी कठिनाइयो को दूर करने के लिए श्रद्धालु लोग विवाह-प्रसग का पाठ करते है। प्रश्न किया जा सकता है कि विवाह-सम्वन्धी समस्या के समाधान के लिए प्रयास की आवश्यकता है या पाठ की? उत्तर मे यह पूछा जा सकता है कि पाठ भी क्या स्वय प्रयास नही है? विवाह के लिए हम मध्यस्थ की खोज करते है। यदि कुछ लोगो की श्रद्धा इसमे ईश्वर को सहायक वनाने की हो, तो उसमे अनौचित्य कहाँ है? रामचरितमानस महाकाव्य तो है ही, पर उसके साथ वह मन्त्र भी है। यह हमारी रुचि और आवश्यकता पर है कि हम उसमें से क्या लेना चाहते है। कुछ लोग मानस-पाठ की प्रक्रिया को तोता-रटन्त कहकर उपहास की दृष्टि से देखते है—इसे बुद्धिवादी दृष्टिकोण समझा जाता

है—किन्तु इसमे यथार्थ का अश कितना है ? तोता किसी पाठ को रट लेता है, उसका तात्पर्य नही जानता, यह ठीक है। पर इस रट लेने का महत्त्व है या नही ? अन्य पक्षियो की तुलना मे तोता व्यक्ति को इसीलिए प्रिय है कि उसमे मानवीय भाषा के अनुकरण की सामर्थ्य है। इसीलिए मनुष्य उसे पालता है, उससे प्यार करता है और उसको सुविधाओ का ध्यान रखता है। यदि व्यक्ति मे 'तोता-रटन्त' की ऐसी सामर्थ्य है तो केवल इसलिए उसे व्यर्थ मानना, कि वह समझ नही पा रहा है, बुद्धिवाद का अधूरापन ही सिद्ध करता है। तुलसीदास तो स्वय को मौलिक प्रतिभाशाली मानने के स्थान पर 'तोता' कहलाने के लिए ही व्यग्र है। वे स्वयं 'कवितावली' मे घोषित करते है

आपुहि आपु हौ नीकै कै जानत राम तिहारो भरायो गढायो ।
कीर ज्यो नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढायो ।।
सोई है खेद जो बेद कह्यो न घटै जन जो रघुबीर वढायो ।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयन्द चढ़ायो ।।

यदि तुलसीदास तोता है तो इस कीर को पाठ पढाने वाले भी तो स्वय राम है। अव भले ही भाषणदाता अपने भाषण मे कीर के अज्ञान का उपहास करे, किन्तु जो तोते को पालने वाला है, वह तो उसे प्यार ही करता है। भाषणदाता की समस्या यह है कि तोते मे जो नही है, उसे ढूँढकर निराश हो रहा है। पालक की विशेषता यह है कि वह तोते से वही कुछ चाहता है, जो उसमे विद्यमान है। यदि समझना एक कला है, तो स्मरण और अनुकरण भी एक कला ही है। दोनो का अपना अलग महत्त्व है। अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता मे एक महान् विद्वान् भी पराजित हो सकता है यदि उसमे स्मरणशक्ति का अभाव है। अस्तु, वर्ण-सामर्थ्य को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) वर्णो मे निहित सामर्थ्य का परिचय, जिसे हम साधारणतया नही देख पाते, किन्तु आवृत्ति के माध्यम से जिसे अभिव्यक्त किया जाता है। (२) काव्य के विविध प्रसगो मे रस और प्रसग के अनुकूल वर्णो का प्रयोग। केवल शब्दो के पर्यायवाची प्रयोग ही उत्कृष्ट काव्य मे प्रयुक्त नही किए जाते, अपितु शब्द मे प्रयुक्त होने वाले वर्ण भी रस की वृद्धि मे सहायक वनते है।

प्रसगत पुष्प-वाटिका मे श्री सीताजी के आभूषणो की ध्वनि कौशलेन्द्र के कर्ण-कुहरो मे प्रविष्ट हुई

कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि ।।

उक्त पक्ति मे केवल आभूषणो की ध्वनि का उल्लेख ही नही है, अपितु प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दो मे भी एक झकार है। श्रीसीता सखियो के साथ मन्थर गति से चल रही है, अत शब्द सहज प्रवाहयुक्त न होकर, रुक-रुककर उच्चारण के लिए बाध्य करते है। 'ककण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' का प्रत्येक शब्द अवरोध उत्पन्न करता हुआ मन्थर गति का भान कराता है।

इसी प्रकार युद्ध के लिए प्रस्तुत रघुवीर के इस चित्र मे परुष वर्णो की

प्रधानता है ·

कोदण्ड कठिन चढ़ाइ सिर जटा जूट वाँधत सोह क्यों।

वर्णो के वाद गोस्वामीजी ने 'अर्थ' का उल्लेख किया। कविता का ध्वन्यात्मक आनन्द भी रस की सृष्टि करता है, और मन और कानो को इससे भले ही रस प्राप्त हो, पर बुद्धि इतने से ही सन्तुष्ट नही हो पाती। उसके लिए स्वर या वर्ण के स्थान पर शव्द मे निहित अर्थ का महत्त्व अधिक है। कवि यदि आनन्द के साथ-साथ कोई स्थायी सन्देश देना चाहता है तो उसके लिए अर्थ का आश्रय लेना होगा। वह अर्थ जो भापा-विशेप मे उस स्थान के लिए मान्य हो, प्रयुक्त होकर श्रोता या पाठक की बुद्धि के माध्यम से ग्राह्य होता है। मानस-सर के रूपक मे तुलसी भापा, भाव और अर्थ के सामजस्य की तुलना कमल की सुगन्ध, पराग और मकरन्द से करते है। भापा कमल के सौरभ-सी है, अर्थ उसका पराग है और भाव मकरन्द है

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुवासा॥

कमल के सौरभ का अनुभव दूर से ही होता है, किन्तु पराग के लिए कमल-कर्णिका मे प्रवेश करना होगा। भापा का ध्वन्यात्मक आनन्द तो दूर से ही अप्रयास व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है, पर अर्थ-ग्रहण के लिए शव्द के अन्तराल मे प्रविष्ट होना होगा। कविता मे शव्दो के प्रयोग की कोई सीमा तो नही निश्चित की जा सकती, पर उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर उसका मापदण्ड वनाया जा सकता है। पहला प्रश्न तो यही है कि कवि श्रोता या पाठक पर अपने पाण्डित्य की छाप डालना चाहता है; अथवा कविता को अधिक-से-अधिक वोधगम्य वनाना चाहता है? पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए अप्रचलित और कठिन-से-कठिन शव्दों का प्रयोग करना उचित ही है, क्योकि उससे साधारण श्रोता और पाठक के मन पर यह छाप पड़ती है कि कवि की विद्वत्ता की सीमा उसकी बुद्धि से वहुत आगे है। पर जव कवि अपना सन्देश व्यापक रूप मे प्रसारित करना चाहता हो, तव उसका रुझान सरलता की ओर होगा। गोस्वामीजी सरल कविता के पक्षधर है ·

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज वयर विसराइ रिपु, जो सुनि करहिं वखान॥

किन्तु यह सरलीकरण जितना सरल जान पड़ता है, उतना सरल नही है। किसी सीधी वात को सरल रूप मे रख देना कोई कला नही है। अपने दिन-भर के क्रिया-कलापो मे नित्य ही व्यक्ति सरल भापा का प्रयोग करता है। तुकवन्दी करने वाला उसे भी कविता का रूप दे देता है

उठो वालको, हुआ सवेरा। चिड़ियों ने तज दिया वसेरा॥

यह भी कविता ही है और सरल भी, यह सरलता एक वालक के लिए उपयोगी हो सकती है, पर एक विद्वान् या रसिक कविता-प्रेमी को इसमे आनन्द की अनुभूति नही हो सकती। गोस्वामीजी के समक्ष सरलता का यह विरोधाभास

था। वे रामकथा को जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे। अत सरल काव्य तो अपेक्षित था ही, पर जहाँ वे अन्य विद्वानो की तरह साधारण जन की उपेक्षा नही करना चाहते थे, वही बुध की अवहेलना भी उन्हे अभीष्ट नही थी। वे बुध के गौरव को स्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहते है—"जिस प्रबन्ध का आदर विद्वान् नही करते वह व्यर्थ श्रम देने वाला है, और ऐसी चेष्टा बालकवि ही कर सकते है" .

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरही। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।।

ऐसी स्थिति मे उनकी सरलता की विलक्षणता है—गम्भीर को सरल बना देने की कला। एक सादगी वह है जिसे हम अभावग्रस्त व्यक्ति के जीवन मे पाते है। मूल्यवान् वस्त्रो के अभाव मे वस्त्रो की सादगी उच्च विचारो का प्रतीक न होकर उस व्यक्ति की बाध्यता को ही प्रदर्शित करती हे। ऐसे व्यक्ति को देखकर श्रद्धा के स्थान पर दया का उदय होना स्वाभाविक है। महात्मा गाधी की सादगी इसलिए श्रद्धा उत्पन्न करती थी क्योकि वह दरिद्रता की बाध्यता से प्रेरित नही थी, वह स्वस्वीकृत थी, जिसे उन्होने साधारण जन मे स्वयं को सम्मिलित करने की भावना से स्वीकार किया था। गोस्वामीजी के काव्य की सरलता भी इसी प्रकार की है। इसीलिए उनके काव्य की सरलता मे गम्भीरता है और गम्भीरता मे सरलता। गोस्वामीजी ने श्रीभरत की वाणी की सराहना मे जो पक्ति लिखी है, वह उनके काव्य पर भी पूरी तरह चरितार्थ होती है :

सुगम अगम मृदु मजु कठोरे। अरथ अमित अरु आखर थोरे।।

"श्रीभरत की वाणी सुगम के साथ अगम भी है। उसमे मृदुता और कठोरता दोनो विद्यमान है। थोडे वाक्य होते हुए भी उसमे अमित अर्थ विद्यमान है।" वैसे यह पक्ति एक पहेली-सी प्रतीत होती है। पर मानस का अन्तर्दर्शन करते ही यह पहेली सुलझ जाती है। वैसे इस अमित अर्थ की आड मे अनर्थ भी कम नही हुए हैं। मानस की एक-एक पक्ति के न जाने कितने अर्थ किए गए है—एक पक्ति के सवा लाख अर्थो का भी दावा किया गया है—किन्तु शब्दो की तोड-मरोड के द्वारा किए जाने वाले ये अर्थ साहित्य का सारा गौरव ही नष्ट कर देते है। सत्य तो यह है कि इस अमित अर्थ के लिए शब्दो को छिन्न-भिन्न करने की कोई आवश्यकता ही नही है।

यदि शब्द ससीम है तो उसका अर्थ भी ससीम होगा। अत अर्थ की असीमता से गोस्वामीजी का तात्पर्य क्या है? वस्तुत, शब्द अकेला नही होता। शब्द-समूह से निर्मित वाक्य मे अर्थ करते हुए, किसी शब्द को केन्द्र बना देने पर, उसके अर्थो मे भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है। कभी शब्दो का प्रयोग करने वाला शब्द की आड मे कुछ और ही कहना चाहता है। ऐसी स्थिति मे अर्थ करते हुए उस व्यक्ति को भी दृष्टिगत रखना चाहिए जिसका वह वाक्य है। कभी एक ही वाक्य को श्रवण करने वाले अनेक व्यक्ति होते है। उस समय योग्य वक्ता को यह भी अभीष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका वही अर्थ ग्रहण करे जो उसके लिए कल्याणकारी हो। देश और काल की भिन्नता से भी शब्दो के अर्थ मे एक पार्थक्य उत्पन्न हो

जाता है। इस तरह अर्थ की असीमता के लिए अनगिनत मार्ग है। यहां दृष्टान्त-रूप मे कुछ पक्तियां प्रस्तुत की जा सकती है।

मनु की प्रार्थना से प्रसन्न होकर श्रीराम उनके समक्ष प्रकट होते है। गोस्वामी-जी इस प्राकट्य को इस रूप मे प्रस्तुत करते है .

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्ववास प्रगटे भगवाना ॥

इसका सरल अर्थ है—"समस्त विश्व मे निवास करने वाले भक्तवत्सल कृपा-निधान प्रभु भगवान् (राम) प्रगट हुए।" साधारण व्यक्ति के लिए इतना ही यथेष्ट है, कि मनु की प्रार्थना सुनकर प्रगट हुए, किन्तु इस शब्द-योजना को एक भिन्न रूप मे भी देखा जा सकता है। रामचरितमानस मे चार घाटो की कल्पना की गई है

सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचे बुद्धि विचारि।
ते एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥

रामकथा के चार वक्ता ही इन चारो घाटो के आचार्य है। वे चार वक्ता है : भगवान् शकर, श्री काकभुशुण्डि, मुनि याज्ञवल्क्य और गोस्वामी तुलसीदास। एक ही राम-चरित्र की चार वक्ता अलग-अलग प्रकार से व्याख्या करते है। शकर ज्ञानी है, भुशुण्डि भक्त, याज्ञवल्क्य कर्मकाण्डी और तुलसी दीन। उनके दृष्टिकोण मे यत्किचित् भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। मनु के समक्ष राम के प्राकट्य का वर्णन सभी वक्ता करते है, पर ज्ञानी के लिए मुख्य शब्द 'विश्व-वास' है। वह मानो अपने श्रोता को यह स्पष्ट करना चाहते है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, उसे केवल देखने वाली दृष्टि अपेक्षित है। भक्त भुशुण्डि के लिए महत्त्वपूर्ण शब्द 'भगत-बछल' है। वे कह सकते है 'विश्व-वास' तो एक सैद्धान्तिक शब्द है। वस्तुत भक्त जब बछडे की तरह स्नेह से पुकारता है, तब ईश्वर की वत्सलता ही उन्हे प्रकट होने की प्रेरणा देती है। कर्मकाण्डी की ऐश्वर्यमूलक दृष्टि को व्यक्त करने वाला शब्द 'भगवान्' है। वे समस्त विश्व के स्वामी ऐश्वर्ययुक्त भगवान् है। वे साधना की पूर्णता मे सामने आते है। किन्तु तुलसीदास की दीनता-भरी दृष्टि एकमात्र प्रभु की महती कृपा का दर्शन करती है—उनके लिए तो वे 'कृपा-निधाना' है। प्रभु तो अकारण कृपालु है, मेघ के समान कृपा बरस पडी :

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

इस तरह उपर्युक्त पक्ति मे ज्ञान, भक्ति, कर्म और दीनता के वे सभी सूत्र विद्यमान है जिनके आधार पर उसकी विस्तृत व्याख्या संभव है। साधारण व्यक्ति एक पक्ति को झूमकर आनन्द-भरे स्वर मे गा उठता है, किन्तु विद्वान् के लिए उसमे विचार के अनेक सूत्र है

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष बिभंजनि ॥

मुख्य बात तो यह है कि कवि का काव्य कहा से उद्भूत हुआ है? यदि वह सकीर्ण देशकाल और व्यक्तित्व के घेरे मे निर्मित हुआ है तो उस काव्य की सीमाए भी उतनी ही क्षुद्र होगी। किन्तु जहा कवि अपनी सीमाओ से मुक्त होकर विराट्

से एकाकार हो जाता है, तव उससे अभिव्यक्त काव्य देश-काल की सीमाओ से उठकर शाश्वत सिद्ध होता है। मानस-निर्माण के चार सौ वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, किन्तु तुलसी का काव्य काल की मीमाओ को लाघकर ऐसे सत्य का सन्देश देता है जो प्रत्येक देश-काल मे उपयोगी है। दो देशो के सघर्ष को लेकर तात्कालिक वीर-काव्य लिखे जाते है, उन्हे उस मन स्थिति और परिस्थिति मे अपार लोक-प्रियता प्राप्त होती है, किन्तु समय पाकर वह काव्य अपनी सारी प्रेरणा खो बैठता है। तुलसी के काव्य मे जिस सघर्ष की गाथा है वह न तो दो देशो का युद्ध है और न दो जातियो की लडाई। वह तो प्रत्येक देश-काल मे दरिद्रता, दीनता ओर दु ख के विरुद्ध लडा जाने वाला सघर्ष है जो प्रत्येक देश-काल के लिए शाश्वत सत्य है। रामचरितमानस के सारे सघर्षो की समाप्ति राम-राज्य मे है जिसकी अतिम परिणति वैर, विरोध, दीनता, दरिद्रता और दु ख की समाप्ति मे है

बैर न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥

समाज और व्यक्ति के जीवन मे उठने वाली कोई भी समस्या चाहे वह आन्तरिक हो अथवा बाह्य, उसका सादृश्य और समाधान रामचरितमानस के किसी-न-किसी प्रसग मे प्राप्त हो ही जाता है। इसका तात्कालिक दृष्टान्त पिछला भारत-पाक युद्ध है। याह्या खान और शेख मुजीव के मतभेद और सघर्ष के सन्दर्भ मे भारत की नीति की व्याख्या करते हुए वहुधा लोगो को रामायण की याद आई। रावण के द्वारा उत्पीडित विभीषण राम की शरण मे आता है और वे रावण को परास्त कर विभीषण को लका का राज्य प्रदान करते हैं। भारत की विजेता सेना द्वारा वगला देश पर शेख मुजीव के शासन की स्थापना की तुलना के लिए इससे अधिक उपयुक्त प्रसग कोई हो भी तो नही सकता था। ब्रिटिश पराधीनता के काल मे—"पराधीन सपनेहुँ सुख नाही"—यह अर्धाली एक प्रेरक वाक्य के रूप मे वार-वार दोहराई जाती थी। ब्रिटिश अत्याचार से असन्तुष्ट प्रजा को रामचरित-मानस की निम्न पक्ति का स्मरण आना स्वाभाविक था

जासु राज्य प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

प्रजातन्त्र मे सर्वहितकारी समाज के लिए इस पक्ति से वढकर उपयुक्त आदर्श-वाक्य कौन-सा हो सकता है

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

यद्यपि उपर्युक्त पक्तिया भिन्न सदर्भ मे लिखी गई है, किन्तु उनकी अर्थवत्ता इतनी व्यापक है कि समाज की विविध समस्याओ के समाधान मे उनका प्रयोग विना किसी खीचतान के किया जा सकता है। उपनिषद् मे एकाक्षरी उपदेश की एक कथा आती है। समस्त ब्रह्माण्ड के निवासियो ने प्रजापति ब्रह्मा से उपदेश देने की प्रार्थना की। जहाँ विभिन्न वर्गो के व्यक्ति उपस्थित हो, जिनकी रुचि और सस्कारो मे टकराहट हो, क्या एक ही प्रकार का उपदेश कल्याणकारी हो सकता है? क्या उनके लिए पृथक्-पृथक् भाषणमाला आयोजित की जानी चाहिए?

ऐसा करने पर क्या उनमे परस्पर अविश्वास और कलह की भावना उत्पन्न नही होगी ? दैत्यों को प्रतीत होता कि प्रजापति ने देवताओ को एकान्त मे न जाने कौन-सा उत्कृष्ट ज्ञान दिया होगा और हम लोगो को विद्वेप या उपेक्षा के कारण साधारण उपदेश दिया होगा। परम विवेकी ब्रह्मा ने देवताओ, दैत्यो और मानवों को एक साथ उपदेश दिया और वह उपदेश भी केवल एक अक्षर मे था—'द','द', 'द'। उन्होने भले ही 'द' का उच्चारण किया हो, परन्तु तीनो को उसमे पृथक्-पृथक् अर्थ की अनुभूति हुई। देवताओं को लगा, 'द' का अर्थ है '**दमन**'। हम लोगों के जीवन मे विपय-परायणता है इसलिए पितामह ने हमे इन्द्रिय-दमन का आदेश दिया है। दैत्यो को प्रतीत हुआ—हम लोगो के कठोर स्वभाव को दृष्टिगत रखकर विधाता ने '**दया**' करने का उपदेश दिया है। मनुष्यो ने इस 'द' से '**दान**' का अर्थ ग्रहण किया, क्योकि उन्हे स्वय मे लोभ के आधिक्य की अनुभूति हुई। इसका तात्पर्य यह है कि प्रश्न केवल इतना ही नही है कि किसी शव्द या वाक्य का क्या अर्थ है ? अपितु यह कि किसके द्वारा क्या अर्थ लिया जाना चाहिए ? यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि पाठक या श्रोता की दृष्टि कवि या वक्ता के अभिप्रेत अर्थ की ओर होनी चाहिए या नही ? इस पर दो दृष्टियो से प्रकाश डाला जा सकता है। उद्देश्यवादी लेखक या कवि जव किसी कृति का निर्माण करता है तव उसके समक्ष उद्देश्य प्रमुख होता है। एक भक्त के काव्य का उद्देश्य यदि भक्ति का प्रचार है तो उसका मुख्य अभिप्रेत अर्थ भक्तिपरक ही होगा। ऐसी स्थिति मे शव्द का कोई भी ऐसा अर्थ, जो साहित्य की सीमा मे सुसगत हो और जिससे पाठक अथवा श्रोता के मन मे भक्ति का उदय हो, यथार्थ माना जाना चाहिए

तुलसी सोइ सव भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होई सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

'विनयपत्रिका' मे सम्वन्धो को लेकर तुलसी ने जो वाक्य लिखा है, उनके काव्य के अर्थ को लेकर भी इसी पक्ति को उद्धृत किया जा सकता है। मानस की इन पक्तियो के माध्यम से इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट रूप मे हृदयगम किया जा सकता है

सोइ सरवग्य गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुवीरा॥

साधारणतया शव्दकोप के माध्यम से, उपर्युक्त शव्दो के अर्थो का अन्वेपण करने पर सर्वथा भिन्न-भिन्न अर्थो का भान होगा, किन्तु इन भिन्न अर्थो को अस्वीकार किए विना भी तुलसी की दृष्टि मे इन सव शव्दो का अर्थ है—राम-भक्ति। प्रथम दृष्टि मे यह साहित्य और शव्द-कोप के हनन-जैसा प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर इस प्रकार के अर्थ मे कोई असगति प्रतीत नहीं होती।

दृष्टान्त के लिए कुछ शब्दो को ले। 'रणधीर' शब्द का अर्थ है—युद्ध में विचलित न होना। साधारणतया युद्ध-क्षेत्र मे वीरता प्रदर्शित करने वाले योद्धा के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु भक्त की दृष्टि में युद्ध केवल बाहर ही नही लडे जाते। प्रत्येक साधक के अन्तर्जीवन मे इस प्रकार का सघर्ष चलता ही रहता है। दुर्गुणो, दुर्विचारो के इस आक्रमण मे जो साधक अधीर नही होता, तुलसीदास की दृष्टि मे 'रणधीर' विशेपण का उपयुक्त अधिकारी वही है। इस सघर्ष की अन्तिम परिणति है—भक्ति-रूपा विजयश्री की उपलब्धि .

बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सोइ हरि भगति, देखु खगेस बिचारि॥

'नीति-निपुण' शब्द का अर्थ है—राजनीति मे कुशल। यदि एक भक्त के लिए नीति-निपुण शब्द का प्रयोग किया जाय, तो यह अटपटा-सा लगेगा, पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर इसका औचित्य सिद्ध हो जाता है। राजनीति को चार भागो मे विभक्त किया गया है—साम, दाम, दण्ड और भेद। प्रजा की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए योग्य शासक इन सभी का उचित अवसर देखकर प्रयोग करता है। समाज मे भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग होते है। सत्पुरुपो को राजा सामनीति के माध्यम से वश मे रखता है, लोभ-प्रधान व्यक्तियो के लिए दामनीति है; दुप्टो को सगठित न होने देने के लिए 'भेद' की आवश्यकता है और अपराधियो के लिए दण्ड अपेक्षित है। भक्त या साधक के समक्ष भी मन को वश मे रखने की समस्या है, और यह अकेला मन ही इतने रूपो मे सामने आता है कि उसे वश मे रखना दुस्साध्य जान पडता है। यहा साधक की नीति-निपुणता की परीक्षा है। चतुर साधक मन के प्रति चारों प्रकार की नीतियो का प्रयोग करता है। गोस्वामीजी के काव्य मे मन के प्रति चारो प्रकार की नीतियो का प्रयोग मिलता है। मन शान्त है, कुछ समझने की मुद्रा मे है। तुलसी सामनीति की भापा मे उसे समझाते है :

जौ मन भज्यौ चहै हरि सुरतरु।
तौ तज विषय बिकार, सार भजु, अजहूँ मैं जो कहौं सोइ करु॥
सम, सन्तोष, विचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम, क्रोध अरु लोभ मोह मद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु॥
श्रवन कथा, मुख नाम हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरख कृपा समुद्र हरि, अग जग रूप भूप सीता वरु॥
इहै भगति, बैराग्य, ज्ञान यह, हरि तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास शिव मत मारग यहि, चलति सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥

कभी मन को कामनाओ की पूर्ति का आश्वासन देते हुए दामनीति का प्रयोग करते है ·

भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागि है।
मन राम-नाम सों सुभाय अनुरागि है॥

राम नाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि है।
सहित सहाय कलिकाल भीरु भागि है॥
राम नाम सो बिराग जोग जप जागि है।
बाम बिधि भालहू न करम दाग दागि है॥
राम नाम मोदक सनेह सुधा पागि है।
पाइ परितोष तू न द्वार-द्वार बागि है॥
राम नाम कामतरु जोइ जोइ माँगि है।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगि है॥

मन कभी परिवार तथा प्रियजनों की आसक्ति मे उलझकर अनर्थ करने पर तुला हुआ है तो गोस्वामीजी उसे याद दिलाते है, "मूर्ख, जिनके लिए सब-कुछ करने पर तुला हुआ है क्या वे तेरा साथ देगे ?" यह भेद-नीति का ही तो प्रयोग है .

मन पछितैहसि अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरि पद भजु, करम बचन अरु हीते॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहिं तजहिंगे पामर, तू न तजै अबही ते॥
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझैकि काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते॥

श्रीराम के हाथ के धनुष को साक्षात् काल का रूप बताकर वे मन को धमकी देते है—"यदि तू कोदण्ड से दण्डित नही होना चाहता तो प्रभु का भजन कर !" दण्डनीति का प्रयोग वे मन को भयभीत करने के लिए करते है .

लव निमेष परमाणु जुग, बरस कलप सर चण्ड।
भजसि मन तेहिं राम कहुँ, काल जासु कोदण्ड॥

इस तरह मन के विरुद्ध राजनीति के चारो सिद्धान्तो का उपयोग करता हुआ जो भक्त अन्त.करण मे शान्ति-साम्राज्य को सुस्थिर रखता है, उससे बढ़कर 'नीति-निपुण' कौन हो सकता है ? इसलिए तुलसी के काव्य का अर्थ ग्रहण करने के लिए केवल रूढ़ि की तरह प्रचलित अर्थो को ग्रहण करने से ही काम नही चलेगा, अपितु तुलसी के उद्देश्य पर भी दृष्टि रखनी होगी।

वस्तुत', मुख्य प्रश्न यह है कि काव्य-निर्माण की वास्तविक प्रक्रिया क्या है ? कवियो को दो श्रेणी मे विभक्त किया जा सकता है · एक तो वे जिनकी कविता मे प्रयास विद्यमान है—जो स्वयं को कवि मानकर काव्य का प्रणयन करते है। दूसरी ओर वे कवि है जो स्वय को काव्य के प्राकट्य का माध्यम-मात्र स्वीकार करते है। उसके हृदय-प्रागण मे ईश्वर की प्रेरणा से सरस्वती नृत्य करती है, दूसरो की दृष्टि मे वह कवि हो सकता है, किन्तु वह स्वयं को इस रूप मे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही है ·

सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधार अंतरजामी ॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥

दूसरे प्रकार के काव्य मे अमित अर्थ की सम्भावनाएँ विद्यमान है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओ का प्रयोग करते हुए, रचयिता के उद्देश्य की सीमाओ का पता लगाना अनावश्यक श्रम-मात्र है। वाटिका मे खुले हुए गुलाब का क्या अर्थ है? कवि उसमे मुस्कराहट ढूँढता है, माली को वह वाटिका के शृगार के रूप मे दिखाई देता है, कामिनी को शृगार-प्रसाधन और एक भक्त को पूजा का उपकरण प्रतीत हो सकता है। एक चिकित्सक को उसमे औषधि का तत्त्व दिखाई देता है। क्या कोई दावे से यह कह सकता है कि रचयिता का इनमे से मुख्य उद्देश्य कौन था ? असीम रचयिता के उद्देश्यो को किसी सीमा मे बाँध पाना सभव नही है। ईश्वर की प्रेरणा से निर्मित काव्य के विषय मे यही बात और भी दावे से कही जा सकती है। फिर जब काव्य का प्रतिपाद्य भी असीम ब्रह्म हो, तब उसकी सीमाएँ खीच पाना और भी असभव है। इसीलिए तुलसीदास हरि-कथा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते है

हरि अनंत, हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहि बहु बिधि सब संता ॥

'बहु-विधि' कहने-सुनने की स्वतत्रता भी रामचरित मे इसलिए प्राप्त है कि शब्द यहाँ केवल सरोवर के रूप मे ही नही है जिसके अर्थ-जल की कोई सीमा हो। सीमित सरोवर के जल का सूख जाना अवश्यम्भावी है, किन्तु शब्द जहाँ नदी की मूल धारा के समान है वहाँ शब्द, मूलस्रोत की भाँति, नूतन अर्थ का जल प्रवाहित करता रहता है। शाश्वत काव्य का स्वरूप भी यही है।

वर्ण और अर्थ के साथ काव्य का सर्वोत्कृष्ट अश 'रस' है। "वाक्य रसात्मक काव्यम्" मे रसात्मक वाक्य को ही काव्य स्वीकार किया गया है। वर्ण और अर्थ का उचित सयोजन होते हुए भी यदि रचना मे रस का अभाव हो तो उसे काव्य नही कह सकते। अग्निपुराण मे तो परब्रह्मपरमेश्वर के स्वरूपभूत आनन्द की अभिव्यजना को ही 'रस' का नाम दिया गया है। उपनिषद् भी ब्रह्म को साक्षात् रस-रूप बताते है—"रसो वै स"। साहित्य के आचार्यो ने काव्य मे नौ रस स्वीकार किए है। इन रसो के विभाजन मे अद्भुत विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली अनुभूतियो को समान रूप से रस का नाम दिया गया है। यदि शान्त रस है तो उसके प्रतिकूल शृगार भी रस ही है। हास्य और करुण रस सर्वथा एक-दूसरे के विरोधी-से प्रतीत होते है। इन समस्त विरोधाभासो मे रस का दर्शन सर्वव्यापी ब्रह्म की अनुभूति के बिना सम्भव भी नही है—ब्रह्म का आनन्द भी अखण्ड इसीलिए है।

यो तो समग्र जीवन-चक्र ही हास्य-करुण आदि भावो मे परिव्याप्त है, किन्तु जीवन मे व्यक्ति सारी घटनाओ को रस मानकर उनमे रस ले नही पाता। रस की अनुभूति व्यक्ति काव्य मे ही कर पाता है। घर-बाहर न जाने कितनी करुण घटनाएँ नित्य घटती रहती है और उन घटनाओ से हमारा अन्त.करण भी द्रवित

हो उठता है, किन्तु काव्य मे करुण रस के द्वारा द्रवता के साथ-साथ अन्तर्मन में आनन्द की भी एक धारा प्रवाहित होती रहती है। जहाँ करुण परिस्थितियों में रोकर व्यक्ति थकान का अनुभव करता है, वहाँ काव्य मे करुण प्रसग पढकर आँसू वहाने के वाद उसे हल्केपन और सुख की अनुभूति भी होती है। करुण के साथ रस की सार्थकता इसी विचित्र विरोधाभास मे निहित है। करुण घटना और करुण रस मे मुख्य अन्तर भी यही है। यदि कोई व्यक्ति समग्र जीवन के घटनाक्रम को ही रसात्मक रूप मे देख सके, तो यही मानना होगा कि उसने समग्र विश्व और जीवन को काव्य के रूप मे परिवर्तित कर लिया है। भगवान् शिव का जो स्वरूप मानस मे प्रस्तुत किया गया है, उसे हम जीवन-काव्य का ज्वलन्त दृष्टान्त कह सकते है। उन्होने समग्र रसो को स्थूल रूप मे भी जीवन मे स्वीकार कर लिया है, इसीलिए वे सर्व है।

किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए समग्र जीवन को ही काव्य-रूप मे परिणत कर पाना सम्भव नही है। उसे तो यह समग्र रसानुभूति काव्य-जगत् मे ही प्राप्त होती है। इस काव्य-जगत् का निर्माता कवि है। कवि हमे स्वनिर्मित उस विश्व मे ले जाता है जहाँ देश-काल की सारी सीमाएँ समाप्त हो गई है। कवि केवल वर्तमान का ही चित्र प्रस्तुत नही करता, अपितु भूत और भविष्य को भी हमारे समक्ष ला खडा करता है। व्यक्ति यहाँ विना कुछ खोये सव-कुछ पा लेता है। विना युद्ध मे गये वह वीररस का साक्षात्कार कर लेता है। व्यवहार मे हास्य का आनन्द लेते समय यह आशका वनी रहती है कि कही हमारी हँसी किसी के मन मे कटुता की सृष्टि न कर दे, किन्तु कविता मे हास्य का आनन्द लेते हुए इस प्रकार की कोई आशका नही होती। कवि का सूक्ष्म जगत् उन कठिनाइयो से सर्वथा मुक्त है, जिनका स्थूल जगत् मे हम पग-पग पर अनुभव करते हैं, किन्तु यह रसमयी सृष्टि हमारे स्थूल जीवन को कम प्रभावित नही करती। कोई भी व्यक्ति सर्वदा काव्य के सूक्ष्म जगत् मे नही रह सकता। काव्य का अन्तर्मन पर जो प्रभाव पडता है, वह स्थूल जगत् के व्यवहार मे भी परिलक्षित होता है। शृगार रस का अमर्यादित चित्र हमे वाह्य जगत् मे भी मासलता और भोगातिरेक की दिशा में ले जा सकता है, इसलिए यह रसोद्रेक अमगल की दिशा मे प्रेरित न करे, यह कवि का पुनीत कर्त्तव्य है। रस साधन है साध्य नही—यह तुलसी की स्पष्ट घोषित मान्यता है। उनकी दृष्टि मे नवरसो की अन्तिम परिणति राम-रस मे है

जौं मोहिं राम लागते मीठे।
तौ षटरस नवरस अनरस सब, होइ जाते अति सीठे॥

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से रामचरितमानस मे सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। शृगार रस के चित्रण मे तो तुलसी ने अपनी समन्वय-कला का अद्भुत परिचय दिया है।

श्रीसीता के सौन्दर्य को कवि अनुपमेय मानता है। पुष्प-वाटिका मे श्रीजानकी के अनुपम सौन्दर्य से प्रभु के अन्त.करण मे कवित्व का संचार हुआ। उन्होने सीता

के सौन्दर्य के लिए किसी उपमा का प्रयोग करना चाहा, किन्तु ऐसी कोई उपमा ही प्राप्त नही हुई जो लौकिक रमणियो के वर्णन मे प्रयुक्त न की गई हो। कवियों की आलोचना मे उनका स्वर गूजा

सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेह कुमारी॥

गोस्वामीजी ने विदेह-नन्दिनी की उपमा के लिए नयी लक्ष्मी का सृजन किया। उसके लिए उन्होने जो उपकरण एकत्र किये, वे इन पक्तियो मे गुम्फित किए गए है:

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिगारू। मथइ पानि पंकज निज मारू॥
एहि विधि उपजै लच्छि जव, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल॥

नई लक्ष्मी के सृजन के लिए छवि-समुद्र मे मन्थन के लिए शृगार रस को ही मदराचल के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, और उस शृगार रस को आवेष्टित करने के लिए गोस्वामीजी शोभा को ही रज्जु का स्वरूप प्रदान करते है। साथ ही मदराचल के आधार के रूप मे वे भगवान् को ही पुन कच्छप-रूप मे स्थित करते हैं। इन पक्तियो मे गोस्वामीजी का रसराज शृगार के प्रति क्या दृष्टिकोण है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। समुद्र के द्वारा उत्पन्न समस्त रत्नों मे लक्ष्मी सर्वाधिक विलक्षण है। समुद्र-मथन का मुख्य उद्देश्य अमृत को पाना था, किन्तु अमृत के साथ-साथ अन्य अनेक रत्न प्रकट हुए—लक्ष्मी भी उनमे से एक हैं। रत्नो के वितरण में केवल लक्ष्मी ही ऐसी है जिन्हे यह चुनाव करने की छूट थी कि चाहे जिसका वरण करे। लक्ष्मीजी ने स्वय ही भगवान् नारायण का चुनाव किया—समर्पण की सार्थकता एकमात्र प्रभु मे है। भगवती लक्ष्मी के निर्णय ने उनके विवेक और भाव की गरिमा को समस्त ससार के समक्ष प्रकट कर दिया। समुद्र-मथन के उपकरणो मे मथन करने वाले देवता और दैत्य, वासुकि नाग और मदराचल प्रत्यक्ष थे। अतः परिश्रम का परिणाम भी इन्हे ही प्राप्त होना चाहिए, ऐसी मान्यता स्वाभाविक थी, किन्तु समुद्र के अन्तराल मे छिपे हुए आधार पर किसी की दृष्टि नही थी, और वह थे स्वय कच्छप-रूपधारी भगवान् नारायण। यही जीव की प्रकृति है। वह अपने पुरुषार्थ और साधनो को तो देखता है, किन्तु इन सवके पीछे प्रभु की महती अनुकम्पा पर उसकी दृष्टि नही जाती। यह तो देवी लक्ष्मी की श्रद्धामयी दृष्टि है जो आधार की पहचान कर उन्ही के प्रति अर्पित हो जाती हे। साधारण कवि भी काव्य-सौन्दर्य के समुद्र का मथन करता है—अमृत पाने के लिए। उसका उद्देश्य होता है, काव्य के द्वारा अपने-आपको अमर वना लेने का। उसकी दृष्टि रस-परक होती है, क्योकि वह समझता है कि रस के माध्यम से ही वह अमरता प्राप्त करने मे सफल होगा। शृगार रसराज है, इसलिए उसे अमृत की उपलव्धि का मुख्य साधन समझना स्वाभाविक ही है। जहा शृगार मदराचल पर्वत की भाँति मथानी वन गया हो, वहाँ शोभा रज्जु से आवेष्टित शृगार के साथ ही काम की उपस्थिति अनिवार्य है। गोस्वामीजी भी काव्य के इन उपकरणो को अस्वीकार

नही करते; किन्तु वे यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि समस्त सौन्दर्य, काव्य के समुद्र मे जहा शोभा, छवि, शृंगार और काम की अपेक्षा है, वहां पर सबके आधार-रूप मे भगवान् अवश्य हो। इस काव्य का उद्देश्य कवि की अपनी अमरता न होकर लक्ष्मी के रूप मे उस समर्पण की वृत्ति को प्रगट करना है जो प्रभु के प्रति ही अर्पित है।

साहित्य की दोनो विधाओं गद्य और पद्य मे वर्ण, अर्थ और रस की उपस्थिति अनिवार्य है। पर दोनो विधाओ मे अन्तर प्रकट करने वाला 'छन्द' है। गद्य मे छन्द का अभाव है पर कविता का एक मुख्य चिह्न छन्द है। छन्द के माध्यम से काव्य और संगीत एक-दूसरे के सहयोगी वन जाते है। गद्य मे भी रस का प्राकट्य हो सकता है किन्तु उसकी मुख्य उपयोगिता विचार और चिन्तन मे है। पद्य के माध्यम से रसानुभूति और गहरी हो जाती है। साहित्य-सृजन के लिए बुद्धि और हृदय के समन्वित सामर्थ्य की आवश्यकता है, किन्तु गद्य मे जहाँ हृदय बुद्धि का अनुगामी है वहाँ कविता मे बुद्धि को हृदय का अनुगमन करना चाहिए। वन्दना के श्लोक मे जिन दो देवताओ की वन्दना की गई है, उनमे गणेश का स्वरूप गद्य-पक्ष का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। सरस्वती के विग्रह मे कविता का साक्षात्कार होता है। गणेश की आकृति मे कविता की नपी-तुली छन्दोमयता के स्थान पर गद्य की स्वच्छन्दता का ही दर्शन होता है। पद्य मे मात्रा और वाक्य की लम्वाई-चौड़ाई की सीमाएँ सुनिश्चित है, किन्तु गद्य इन सव वन्धनो से मुक्त है। लम्वोदर, गजकर्ण गणेश की आकृति को देखकर गद्य की उसी उन्मुक्तता का वोध होता है। छन्द की ही भाँति सरस्वती का श्री-विग्रह सौन्दर्य के सुगठित स्वरूप की अभिव्यक्ति-सा जान पड़ता है और फिर सरस्वती के हाथ की वीणा कविता और छन्द के मधुर सम्वन्ध को प्रकट करती है। काव्य मे छन्द के प्रश्न को लेकर वहुधा विवाद होते रहे है। कुछ लोगो की दृष्टि मे छन्द से कविता की सहजता नष्ट हो जाती है। छन्द विरोधियो के तर्क सर्वथा असगत हो, ऐसा नही कहा जा सकता। यदि छन्द कारागार का रूप ग्रहण कर ले, तो उसमें कविता वन्दिनी होकर अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को नष्ट कर वैठेगी। छन्द तो एक भव्य भवन का प्रतीक है। उसका निर्माण सुव्यवस्थित पद्धति से किया जाता है। उसमे लगे हुए कपाट परतन्त्रता के प्रतीक-जैसे जान पडते है, किन्तु वे परतन्त्रता के स्थान पर सुरक्षा से ही अधिक सम्वद्ध है। छन्द के भवन मे विराजमान कविता गृहस्वामिनी के गौरव से मण्डित होती है। और आज नई धारा के इस युग मे कविता यदि स्वच्छन्द होकर छन्द-विधान को अस्वीकार कर दे तो यह आश्चर्यजनक नही होगा, किंतु यह तो परतंत्रता की अतिरेक-भरी प्रतिक्रिया-मात्र है।

वर्ण, अर्थ, रस और छन्द के सामजस्य से समन्वित कविता का उद्देश्य क्या है ? इसी उद्देश्य को गोस्वामीजी 'मगलानाम्' शव्द से प्रकट करते है। काव्य का उद्देश्य जीवन मे मंगल की सृष्टि करना है। 'मगल' और 'कल्याण' शव्द अत्यन्त समीप होते हुए भी पूरी तरह एकार्थक नही है। मानस मे इन दोनो शव्दो का

प्रयोग एक ही पक्ति मे करते हुए गोस्वामीजी ने दोनो के सूक्ष्म अन्तर की ओर इगित किया है। अयोध्या से जनकपुर की ओर जाती हुई वारात के मार्ग मे अनेक शकुन होते है। उन शकुनो की सराहना मे 'मगल' और 'कल्याण' दोनो ही शब्दो का प्रयोग किया गया

मंगलमय कल्यानमय, अभिमत फल दातार।
जनु सब साँचे होन हित, भए सगुन एक वार॥

'कल्याण' शब्द भविष्य के परिणाम की ओर इगित करता जान पडता है। 'कल्याण' शब्द की अन्तर्भावना मे तत्काल सुखानुभूति न होने पर भी परिणाम में भलाई की कल्पना है। 'मगल' शब्द न केवल भविष्य अपितु वर्तमान के भी आनन्द का अभिव्यजक है। अधिकाश औपधियो का सेवन करते हुए व्यक्ति को स्वाद की अनुभूति नही होती, फिर भी कल्याण-कामना से व्यक्ति उनका सेवन करता है। सुरुचिपूर्ण भोजन मे तत्काल स्वाद की तृप्ति तो प्राप्त होती ही हे, परिणाम मे भी वह शरीर को पुष्टि प्रदान करता हे। काव्य औपधि के समान कडवा न होकर सुस्वादु व्यजन के समान है। इसलिए उसे कल्याणकारी की अपेक्षा 'मगलमय' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

काव्य के समुचित सृजन और मगल की सृष्टि कवि को स्वय के सीमित व्यक्तित्व से सम्भव प्रतीत नही होती, इसके लिए वह काव्य के देवताओ—वाणी और विनायक—की वन्दना करता है।

वाणी और विनायक उस रूप मे सम्वद्ध नही हैं जिस तरह श्रीपार्वती और शिव या श्रीसीता और राम। वाणी और गणेश की संयुक्त वन्दना का केन्द्र है दोनो की बुद्धि से सम्वद्धता। वाणी विद्या की देवी है और गणेश हैं विवेक के देवता। वाणी ब्रह्मलोकवासिनी है और गणेश हे शिवलोकवासी। ब्रह्मा—जिन्हे विराट् की बुद्धि के रूप मे मानस मे प्रस्तुत किया गया है

अहंकार शिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान॥

शिव विश्वास के घनीभूत रूप हैं—"श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ"। तुलसी का अभीष्ट दोनो का समन्वय है। वह विवेक जो विचार से सम्वद्ध है और वह विवेक जो विश्वास के माध्यम से व्यक्त होता है, दोनो का एकत्रीकरण उन्हे अभीष्ट है। इसीलिए मानस हृदय और बुद्धि, दोनो ही, को समान रूप से आकृष्ट करता है।

शारदा सौन्दर्यमयी है। गौर वर्ण, वीणा, पुस्तक एव स्फटिकमाला से सुशोभित हंसवाहिनी वाणी का स्वरूप वडा ही कलात्मक है। गणेश वहिरग दृष्टि से सुन्दर प्रतीत नही होते। उनका अद्भुत रूप है। उनका श्री-विग्रह वड़ा ही अटपटा-सा लगता है—लम्वोदर, गजकर्ण, एक दाँत टूटा हुआ, वाहन के रूप मे मूपक—यहाँ सव-कुछ विलक्षण है। फिर भी गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' मे उनकी वन्दना मे 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करते है .

गाइये गनपति जगबंदन। संकर-सुवन भवानी-नन्दन ॥ १ ॥
सिद्धि-सदन,गज-वदन बिनायक। कृपा-सिन्धु, सुन्दर, सब लायक ॥ २ ॥
मोदक-प्रिय, मुद मंगल-दाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता ॥ ३ ॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे ॥ ४ ॥

लगता है गणेश गद्य है और सरस्वती पद्य। गणेश दर्शन है और सरस्वती कविता। गणेश को समझना कठिन है, वे दर्शन की भाँति दुरूह है। सरस्वती कविता के ही समान सहज ग्राह्य है।

सरस्वती वीणापाणि है। वीणा के तार जीवन की विवधता को प्रगट करते हैं। वीणा के तारो का स्पर्श अनाडी हाथो से होने पर ध्वनि की सृष्टि तो होती है, पर उसका वेसुरापन कानो को कष्ट पहुँचाता है। वही वीणा सगीत-साधक के हाथों का स्पर्श पाकर रस और तन्मयता की सृष्टि करती है। विद्या की सार्थकता पुस्तको का अध्ययन कर लेने मे ही नही है। प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति जीवन-वीणा कैसे वजा रहा है? जीवन की विविधता मे, उसके आरोह-अवरोह मे, द्रुत और मन्थर स्थितियो मे एक तारतम्य स्थापित करने की क्षमता उसमे है या नही ?' वीणा मे आनन्द-उल्लास के ही स्वर तो नही हैं। वीणा के तारो मे करुणा के बोल भी तो निकलते है। पर सभी सन्तुलित, स्वरवद्ध, रस और तन्मयता की सृष्टि करते है। सुनने वाला करुणा मे द्रवित होकर भी रसानुभूति करता है। यदि जीवन मे उल्लास और आनन्द के क्षण हमारी अहम्मन्यता से दूसरो को आघात पहुँचावे और करुणा का चीत्कार दूसरो की सुख-शान्ति छीन ले, तो वीणापाणि की कृपा जीवन मे नही हुई, यही मानना होगा।

ईश्वर की स्मृति कराने वाली स्फटिक-मालिका विद्या के चरम लक्ष्य की ओर इगित करती है; विद्या का चरम लक्ष्य मुक्ति है—"सा विद्या या विमुक्तये।" विद्या का एक रूप पुस्तक के रूप मे है, उसे कौन कितनी शीघ्रता से हृदयगम कर सकता है यही योग्यता का मापदड है—किन्तु स्फटिक-मालिका मे तो एक ही मत्र की लक्ष-लक्ष बार आवृत्ति अपेक्षित है। पुस्तक व्यावहारिक अर्थ को प्रकट करती है, किन्तु मत्र का उद्देश्य परमार्थ-वोध है।

हस का नीर-क्षीर-विवेक तो प्रसिद्ध ही है। इस तरह वीणापाणि का वाहन गुण-ग्राही है

जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥

सरस्वती के एक हाथ मे पुस्तक है। बुद्धि की देवी पुस्तक धारण करे, यह समझना सरल है। पर विवेक के देवता गणेश के हाथ मे पुस्तक का अभाव चौकाता है। किन्तु विवेक पुस्तको से ही उपलब्ध हो, ऐसी मान्यता का खण्डन ही उसका उद्देश्य है। गणेश के हाथ मे शास्त्र के स्थान पर शस्त्र दिखाई देता है। अकुश और पाश, उनके दो प्रिय अस्त्र है। हाथी को वश में करने के लिए अकुश आवश्यक है, वह अंकुश जिसका प्रयोग आवश्यक होने पर महावत तत्काल करता है। पर यहाँ

तो गज-वदन स्वय ही अकुश धारण करते हैं। हाथी के ही समान व्यक्ति पर नियत्रण रखने के लिए भी अकुश वनाए गए हैं—कही राज-सत्ता का अकुश, कही समाज के भय का अकुश, पर सच्चा विवेक स्वयं पर, अपने-आप पर ही अकुश रखता है। वह आत्म-नियन्त्रित हे। इसी मे उसका गौरव है। ऐसा महापुरुष ही समाज को नियन्त्रित रख सकता हे, गणपति का यह अकुश विवेक का अकुश है। पीलवान के हाथ का अकुश हाथी पर प्रतिक्षण शासन नही कर सकता। आत्म-नियत्रण ही विवेक का सच्चा फल हे।

पाश वन्धन है। विवेक से व्यक्ति पाश-मुक्त होता है। फिर भी जीवन में पाश की आवश्यकता है या नही? व्यवहार के लिए कर्तव्य का वन्धन तो स्वीकार करना पडता है। सृष्टि-मिथ्यात्व का ज्ञान व्यक्ति को ममता के पाश से मुक्त कर दे यह तो उचित ही है, किन्तु यदि इस ज्ञान के आधार पर पुत्र पिता से यह कहने लगे कि "ससार मिथ्या है, पिता-पुत्र का सम्बन्ध मिथ्या है, इसलिए आपके प्रति मेरा कोई कर्तव्य नही हे," तो तर्क की दृष्टि से युक्ति-युक्त होते हुए भी, यह पाश से मुक्ति उच्छृंखलता की पर्यायवाची वन जाएगी। अत ममता-पाश से मुक्त रहकर भी व्यक्ति का कर्तव्य-वन्धन स्वीकार कर लेना ही विवेक की सार्थकता है। गणेश के हाथ का पाश इसकी ओर इगित करता है।

गणपति की अभय-मुद्रा उपासको को निर्भयता का सकेत देती है। विवेक हमें मिथ्या भय से मुक्त करता है। भय का अधिकाश भाग कल्पित आशकाओ पर आधारित होता है। विवेक कल्पना के स्थान पर यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठापित करता है। चौथे हाथ की वरदान-मुद्रा मे कल्याणकारी तत्त्वों के वितरण की प्रक्रिया का सकेत प्राप्त होता हे स्वार्थ-सिद्धि के लिए तो बुद्धि-विवेक का प्रयोग सभी करते है, पर लोक-मगल का वरदान दूसरो को वितरित करना ही सच्चे विवेक का परिचायक है।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥

अर्थ—मैं भवानी और शकर की वन्दना करता हूँ जो श्रद्धा और विश्वास के रूप है और जिनके विना सिद्ध जन भी अन्त करण मे स्थित ईश्वर को नही देख पाते ।

कवीर से विवाद करते हुए किसी पण्डित ने शास्त्र-प्रमाणों की झडी लगा दी । कवीर ने व्यग-भरा उत्तर दिया

तू कहता कागद की लेखी । मै कहता आँखिन की देखी ॥

"तुम वह कहते हो जो कागज मे लिखा हुआ है । मै वह कहता हू जो मैने आँखो से देखा है ।" शास्त्र या प्रमाणो का साधारण महत्त्व नही है । व्यक्ति को अधिकाश ज्ञान तो 'कागद की लेखी' से ही प्राप्त होता है; किन्तु कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष का स्थान नही ले सकता । पर ईश्वर की समस्या वड़ी जटिल है । ब्रह्म प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता, अतः उसकी प्रामाणिकता का आधार क्या होगा ? एक उत्तर वही है जो शास्त्र के समर्थक विद्वान् देते है—'श्रुति-प्रमाण'। ऋषि ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुके है । उन मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो ने जो वाक्य कहे है वे प्रामाणिक है । उसी के आधार पर व्यक्ति को ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए । इस तर्क को सर्वथा अस्वीकार नही किया जा सकता, फिर भी शास्त्र की प्रामाणिकता को असंदिग्ध वनाने के लिए यह आवश्यक है कि 'लेखी' को 'देखी' के रूप मे परिणत किया जाय । सिद्धान्त को व्यवहार के रूप मे परिणत करने की साधना करने वाला ही योगी है । योगी ईश्वर-अस्तित्व को केवल ग्रन्थो के आधार पर नही, वल्कि अनुभूति के आधार पर स्वीकार करता है । वह ईश्वर का साक्षात्कार करता है । शास्त्र कहते है कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी के अन्त.करण मे स्थित है ·

ईश्वर· सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

किन्तु इतना निकटस्थ ईश्वर व्यक्ति को दृष्टिगोचर नही होता । उसे देखने के लिए जिस दृष्टि की अपेक्षा है, तुलसी की भापा मे उसका नाम है—श्रद्धा और विश्वास । भगवती उमा और भगवान् शकर श्रद्धा और विश्वास के घनीभूत रूप है । श्रद्धा और विश्वास तत्त्वत अभिन्न है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्हे दो के रूप मे ही देखना होगा । साधना की यही प्रणाली है । पार्वती के जन्म की गाथा का मानस मे वर्णन किया गया है किन्तु भगवान् शिव अजन्मा है । श्रद्धा का जन्म होता है, किन्तु विश्वास का नही । श्रद्धा का उदय बुद्धि मे होता है पर विश्वास हृदय का सहज स्वभाव है । वुद्धि प्रत्येक वस्तु को कार्य-कारण के आधार पर ही स्वीकार करती है, किन्तु हृदय की स्वीकृति के पीछे कोई तर्क नही होता ।

तर्क को इतना महत्त्व देना स्वय मे ही तर्कसगत नही है, क्योंकि प्रत्येक तर्क किसी न किसी दूसरे तर्क के द्वारा काटा जा सकता है। फिर भी व्यक्ति के अन्त करण मे तर्क के प्रति इतनी महत्त्व-वुद्धि उसकी मनोवैज्ञानिक दुर्वलता को ही प्रकट करती है। तर्क व्यक्ति के अह को तुष्ट करने का ही एक साधन है। इसके द्वारा वह स्वय को वुद्धिमानो की श्रेणी मे मान लेता है।

श्रद्धा पूर्वजन्म मे दक्ष-पुत्री है, उन्ही का पुनर्जन्म शैल-पुत्री के रूप मे होता है। दक्ष चतुर है। उन्हे अपनी योग्यता और वुद्धिमत्ता पर गर्व है। सती जिज्ञासा है। वुद्धिमान् व्यक्ति मे जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है, किन्तु इस जिज्ञासा का सदुपयोग क्या है? लोक-पितामह व्रह्मा ने दक्ष को आदेश दिया कि वे अपनी पुत्री शिव को अर्पित करे। जिज्ञासा की पूर्णता है—सशय का विनाश और विश्वास की उपलव्धि। जानने की इच्छा यदि व्यक्ति को 'सशयात्मा' के रूप मे परिणत कर दे, तो इसे वुद्धि का सवसे वडा दुर्भाग्य और दुरुपयोग कह सकते है। जिज्ञासा और विश्वास का परिणय लोक-मगल के लिए आवश्यक है, यही व्रह्मा का दृष्टिकोण था। किन्तु इस विवाह का वह परिणाम नही हुआ जिसकी कल्पना व्रह्मा के मन मे थी। यद्यपि सती ने समग्र समर्पण की भावना से ही शिव का वरण किया था, किन्तु वे अन्तश्चेतना की गहराइयो मे छिपे हुए, पिता के सस्कारो से स्वय को मुक्त नही कर पाई। जव तक जिज्ञासा अह-शून्य नही होगी, तव तक उसके लिए विश्वास के प्रति अर्पित होना सम्भव भी नही है। अहकारपूर्वक की गई जिज्ञासा, वस्तुत जिज्ञासा न होकर परीक्षा है। जिज्ञासा मे जहाँ स्वय के अज्ञान को मिटाने की अभिलाषा होती है, वहाँ परीक्षा मे दूसरे के ज्ञान की थाह लेने का प्रयास होता है। अत जिज्ञासा और परीक्षा दोनो वहिरग दृष्टि से एक-जैसी प्रतीत होने पर भी, भावना की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। सतीजी के जीवन का दुर्भाग्य यही था कि वे जिज्ञासु के स्थान पर परीक्षक वन गई।

भगवान् शिव के साथ सती जव कथा श्रवण के लिए दण्डकारण्य मे जाती है, तव वे मूर्तिमती जिज्ञासा ही जान पडती है, किन्तु दण्डकारण्य मे पहुँचकर वे भिन्न प्रकार की मनोभूमि मे प्रकट होती है। प्रारम्भ मे ही महर्षि के द्वारा शिव और सती का पूजन किया जाता है। सती को ऐसा प्रतीत होता है कि अगस्त्य योग्यता मे उनकी अपेक्षा न्यून है, इसीलिए उन्होने मेरी पूजा की है। स्वाभाविक था कि ऐसी मन स्थिति मे वे महर्षि अगस्त्य द्वारा कही गई राम-कथा को ध्यान से न सुनती। यहा वे शिवप्रिया की अपेक्षा दक्ष-पुत्री होने का ही परिचय देती है। तुलसीदास ने भी उन्हे उस प्रसंग मे इसी नाम से स्मरण किया है·

मुनि सन विदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दक्ष कुमारी॥

कथा से लौटते हुए दृश्य परिवर्तन होता है। सामने से प्रिया-वियोगातुर श्री रामभद्र का आगमन होता है। लता-वृक्षो से अपनी प्रिया का पता पूछते हुए, व्याकुल श्रीराम का दर्शन करते ही शिव पुलकित हो उठते है, और मुख से शब्द फूट पडे—"जय सच्चिदानन्द!" दूसरी ओर सती है जो चकितदृष्टि से कभी शिव

की ओर निहारती है, तो कभी विरही राजकुमार को। क्या विरह-विक्षुब्ध राजकुमार को 'सच्चिदानन्द' कहकर पुकारना, इस शब्द का अनादर नही है? फिर भी वे अपने अन्त करण के सशय को नि सकोच भाव से शिव के समक्ष न रख पाई। शिव के समक्ष यह सकोच भी इस मिथ्या भय पर आधारित था कि कही इस प्रश्न से मै स्वामी की दृष्टि मे न गिर जाऊँ। शकर ने स्वय सती को अपनी ओर से समझाने की चेष्टा की, किन्तु उनके उद्बोधन से भी सती का समाधान नही हुआ। हो भी नही सकता था, क्योकि स्वय उनमे अभी श्रद्धा-दृष्टि का उदय नही हुआ था और शिव की विश्वास-दृष्टि पर उन्हे भरोसा नही था। स्वय के पास दृष्टि न हो और दूसरे की दृष्टि पर विश्वास भी न हो, ऐसी स्थिति मे कल्याण की कल्पना भी बुद्धि की विडम्बना है। सती का समाधान किसी प्रकार न होते देखकर शिव ने उनसे कहा—"यदि तुम्हारे मन मे अत्यन्त सन्देह है तो तुम जाकर प्रभु की परीक्षा क्यो नही लेती हो? जब तक तुम लौटकर मेरे पास आओगी, तब तक मै वट की छाया मे बैठकर विश्राम करूँगा।" सती ने शिव के शब्दो का वाच्यार्थ ग्रहण किया। उसके वास्तविक अर्थ को यदि उन्होने हृदयगम किया होता तो वे परीक्षा लेने के लिए प्रभु के पास न जाती। वस्तुत. इन वाक्यों के द्वारा शंकर सती के मनोभाव की ही परीक्षा ले रहे थे। वे यह देखना चाहते थे कि सती का रोग अन्त.करण की कितनी गहराई तक पहुँचा हुआ है। उनका यह कहना कि—तुम अकेले जाकर परीक्षा लो—शिव के आन्तरिक रोष की ही अभिव्यंजना थी। इसका तात्पर्य था कि आज से हम दोनो जीवन-पथ पर एक-दूसरे से भिन्न दिशा मे जा रहे है। क्या तुम मेरा परित्याग कर जीवन-भर अकेले चलने के लिए प्रस्तुत हो? शम्भु को यह भली प्रकार ज्ञात था कि परीक्षा के द्वारा ईश्वर को समझ पाना सम्भव नही है। इसीलिए परीक्षा के हेतु सती को जाते देखकर, किसी परिणाम के पहले ही भगवान् शिव सती को अनुत्तीर्ण घोषित कर देते है·

इहाँ सम्भु अस मन अनुमाना। दक्ष सुता कहँ नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहे न संशय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं॥

ईश्वर जिज्ञासा का विषय हो सकता है, परीक्षा का नही। सती ने उसे परीक्षा का विषय बनाना चाहा। उनकी परीक्षा अपनी ही मान्यताओ पर आधारित थी। ईश्वर सर्वज्ञ होगा। यदि वह लता-वृक्षो से प्रिया सीता का पता पूछता है तो सर्वज्ञ कैसा? दूसरी ओर वे शिव को भी सर्वज्ञ मानती है—"शिव सर्वज्ञ जान सब कोई।" किन्तु सर्वज्ञ शिव की वाणी पर भी उन्हे विश्वास नही है। सती स्वय के विरोधाभासो से ही सत्रस्त है। फिर भी उन्हे अपनी ही बुद्धि पर भरोसा है। उनकी मान्यता है—यदि सीता का वेश देखकर भी वे मुझे पहचान ले तो मै समझ लूँगी कि राम ईश्वर है। रावण भी राम को परीक्षा लेकर ही मानना चाहता है। उसकी कसौटी भी नकली स्वर्ण-मृग है। यदि वे ईश्वर है तो स्वर्ण-मृग के पीछे नही भागेगे। और 'राम' है कि दोनो ही प्रसंगो मे भिन्न रूप मे सामने आते है।

वे स्वर्ण-मृग के पीछे भागते है और रावण की दृष्टि मे ईश्वरत्व की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते है। सती को उन्होंने सीता के वेश मे भी देखकर पहचानने का अभिनय किया, और सती की परीक्षा में उत्तीर्ण सिद्ध हुए। कुछ ही घंटो के अतर से, ईश्वर के विषय मे परिवर्तित होने वाली धारणा के आधार पर ही जिनकी आस्था का निर्णय होना है, उनकी बुद्धिमत्ता स्वय सदिग्ध है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मान्यताओ और आकांक्षाओं को ही कसौटी बनाने लगे, तो शायद प्रतिक्षण ईश्वर-सम्बन्धी धारणाओ मे परिवर्तन करना होगा। उसका अस्तित्व प्रमाण-सापेक्ष नही है, इसलिए उसकी सिद्धि मे बुद्धि और तर्क की कोई उपयोगिता नही है। ईश्वर की सर्वव्यापकता की स्वीकृति के बाद भी उसे हृदय-देश का निवासी कहना विशेष अर्थ रखता है। सबके हृदय मे निरन्तरवासी के रूप मे प्रतिदिन ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति, हृदय के माध्यम से ही सम्भव है। मस्तिष्क उसके निवास-स्थल से कुछ दूरी पर है और उसकी रचना शरीर के सर्वोच्च भाग मे की गई है। मस्तिष्क-निवासिनी बुद्धि को सम्भवत: इसीलिए अपनी सर्वोच्चता का अहकार है। व्यावहारिक विश्व मे उसकी सर्वश्रेष्ठता असदिग्ध है, किन्तु हृदयदेश-निवासी ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए उसे सर्वोच्चता का गर्व छोडकर नीचे उतरना ही होगा। बुद्धि विश्वास के निकट पहुँचकर ही भगवान् का साक्षात्कार कर पाती है।

सती का पुनर्जन्म इसी अवतरण की प्रक्रिया की ओर सकेत करता है। प्रथम जन्म मे यदि वे दक्ष-पुत्री है, तो पार्वती के रूप मे वे शैल-पुत्री बन जाती है। दक्ष यदि चैतन्यता और चतुराई का प्रतीकार्थ बन चुका है तो पर्वत और प्रस्तर जड़ता का घनीभूत रूप जान पडता है। यद्यपि हिमाचल भी मानस मे केवल जड़ पर्वत के रूप मे ही प्रस्तुत नही किए गए है। वे भी चैतन्य हैं, किन्तु लोक-दृष्टि मे जडता के ही प्रतीक हैं। पार्वती को तो शैलपुत्री के रूप मे कभी-कभी उपहास का पात्र भी बनना पडा है। सप्तर्षियो ने 'गिरि-पुत्री' कहकर पार्वती का उपहास किया है

सुनत बचन बिहँसे रिषय, गिरि संभव तव देह।
नारद कर उपदेश सुनि, कहहु बसेहु किसु गेह॥

वस्तुत गिरिराज हिमाचल अभिमान-रहित विवेक का प्रतिनिधित्व करते है। उनमे दक्ष के समान अपनी चैतन्यता और चतुराई के अभिमान का लेश भी नही है। उनकी पुत्री के रूप मे पार्वती भी उन दोषो से सर्वथा मुक्त है, जो दक्षपुत्री के रूप मे उनके सस्कार मे विद्यमान थे।

हिमाचल के सर्वोच्च शिखर कैलास पर ही भगवान् शिव शाश्वत रूप मे निवास करते है। वे दक्ष के समान शिवद्रोही नही है। यहाँ भी वे परस्पर एक-दूसरे से भिन्न रूप मे सामने आते है। दक्ष अभिमानयुक्त विवेक का मूर्त रूप है, इसीलिए वह शिव के रूप मे विश्वास का तिरस्कार करता है। हिमाचल सच्चे विवेक के रूप मे विश्वास को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते है।

शैली-पुत्री के रूप मे जन्म लेने वाली पार्वती श्रद्धामयी हो, यह स्वाभाविक

था। पार्वती सती के रूप में दक्ष द्वारा शिव को अर्पित की गई थी; इसमे कोई उनकी स्वत आन्तरिक प्रेरणा न थी, किन्तु पार्वती के रूप में वे प्रारम्भ से ही शिव की अनन्यानुरागिणी है। शकर को पति-रूप मे प्राप्त कर लेना उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य था। बुद्धि के क्रमिक विकास की यह यात्रा उनके श्रद्धा के रूप मे परिणत होने तक चलती रहती है, और इसका चरमोत्कर्ष तब आता है जब भगवान् शिव न केवल पार्वती का पाणिग्रहण करते है, अपितु उन्हे अपने अभिन्न अग के रूप मे परिवर्तित कर लेते है। शिव का अर्धनारीश्वर रूप श्रद्धा-विश्वास के एकत्व का परिचायक है।

राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।।
बिधि-निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबि-नदिनि बरनी।।

अर्थ—उपर्युक्त पक्तियो मे सत-समाज की तुलना प्रयाग से करते हुए त्रिवेणी का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। "राम-भक्ति गगा की धारा है, ब्रह्म-विचार का प्रचार ही सरस्वती है, विधि-निषेध से युक्त कर्म-कथा ही पापनाशिनी यमुना है।"

उक्त पक्तियो द्वारा गोस्वामीजी की समन्वय-साधना और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-सम्बन्धी मान्यताओ पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अधिकाश तीर्थो का सबध किसी-न-किसी नदी से है। किन्तु तीर्थराज मे तीन नदियो का अनोखा सगम है। वे तीनो है गगा, यमुना और सरस्वती। इस सगम से ही गोस्वामीजी समन्वय का सूत्र ग्रहण करते है, तीर्थ और तीर्थराज की तुलना सम्भवत वे आचार्य और सत-परम्परा से करते है। आचार्यो ने ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म मे से किसी एक की श्रेष्ठता स्वीकार कर, उसकी विशिष्टता के पक्ष को समाज के समक्ष उपस्थित किया है। किन्तु सत-परम्परा ने ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय को ही मगल के लिए आवश्यक माना है।

गगा जब ब्रह्मा के कमण्डलु से विनि सृत होकर मृत्युलोक की ओर चली, तब प्रत्येक के अन्त करण मे यह भय समाया हुआ था कि मृत्युलोक मे उनके वेग को रोक पाना क्या सम्भव होगा? कही ऐसा न हो कि पृथ्वी पर आकर भी वे टिक न सके और उनकी वेगवती धारा पाताल मे समा जाए। भगीरथ की प्रार्थना पर भगवान् शिव ने यह गुरुतर भार उठाना स्वीकार कर लिया। वेगवती गगा ब्रह्म-लोक से उतरकर भूतभावन शकर की जटा मे स्थित हो गई। इस तरह शिव की जटा ही गगा की आधारभूमि बनी। गगा की भाँति भक्ति की दुर्लभता का शास्त्रों मे वर्णन प्राप्त होता है। रामचरितमानस मे भी भक्ति की दुर्लभता के समर्थन मे अनेक पक्तिया उपलब्ध है

सब ते दुर्लभ सो खगराया। राम-भगतिरत गत-मद-माया।।

इस दुर्लभ भक्ति का साधारण जन के लिए सुलभ हो सकना असम्भव-सा प्रतीत होता था। किन्तु जब यही भक्ति-गगा विज्ञान के ब्रह्मलोक को छोडकर विश्वास के जटा-जूट मे स्थित होती है, तब वे लोक-कल्याण के लिए सुलभ हो जाती है। अब भक्ति के लिए विज्ञान नही, विश्वास की आवश्यकता है·

बिनु बिश्वास भगति नहि, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह बिश्राम।।

यह मान्यता सर्वथा युक्तिसगत है। बडा होकर व्यक्ति जिसे पुरुषार्थ या

ज्ञान के माध्यम से पाता है, नन्हा बालक असमर्थ होते हुए भी विश्वास के बल पर वही सब-कुछ पा लेता है। उसे अपनी योग्यता पर कोई भरोसा नही होता, किन्तु माँ के वात्सल्य का विश्वास ही उसे निश्चित बना देता है। विज्ञान के स्थान पर विश्वास पर आधारित यह भक्ति ही गगा के समान अवतीर्ण होकर जन-जन को धन्य बनाती है। साधारण व्यक्ति के लिए ब्रह्म का दार्शनिक विवेचन ग्रहण कर पाना सम्भव नही है। उसके लिए तो कृतज्ञतापूर्वक उनके गुणो मे गोते लगा लेना ही यथेष्ट है। एक साधारण ग्रामीण गद्‌गदभाव से गगा मे गोते लगाता हुआ स्वयं को शीतल और पापमुक्त अनुभव करता है। विनयपत्रिका मे गोस्वामीजी ने भक्ति की दुर्लभता की ओर इगित करते हुए जिस भक्ति का वर्णन किया है, वह ब्रह्मलोकवासिनी गगा की भाँति है .

रघुपति भगति करत कठिनाई !
कहत सुगम करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ।।
जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ, सुलभसदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख जल-प्रवाह, सुरसरी बहै गज भारी ।।
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बलतें न कोउ बिलगावै ।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ।।
सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत बियोगी ।।
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि, देसकाल तहँ नाहीं ।
तुलसिदास यहि दसाहीन संशय निरमूल न जाहीं ।।

इसके विपरीत रामचरितमानस मे भक्ति की सुलभता की ओर संकेत करने वाली निम्न पक्ति प्रस्तुत की जा सकती है

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ।।

× × ×

भाव कुभाव अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।।

यह भक्ति-गगा का वह रूप है जो साधारण मर्त्यधर्मा मानव को भी आश्वस्त करता है कि वह भी प्रभु की कृपा का अधिकारी हो सकता है। सत समाज प्रधानत: इसी भक्ति का प्रचारक है। हिम-गिरि के शिखरो से तीर्थराज प्रयाग तक पहुँचते-पहुँचते गगा मे, अनगिनत नदी-नाले मिलकर उनसे एकाकार हो जाते है। अपने तट पर स्थित लक्ष-लक्ष निवासियो के जीवन की हर परिस्थिति मे वे सहायिका है। स्वार्थ और परमार्थ दोनो की सिद्धि के लिए प्राणी गंगा का आश्रय ग्रहण करता है। सगति न होने पर भोली-भाली नारिया गगा की मनौती मनाती है और लोक-गीतो मे उन्हे गगा का आशीर्वाद प्राप्त होता है—"नवएँ महीने हरिल तोहे होइ है," तब वे यह आशीर्वाद पाकर गद्‌गद हो जाती है। गगा किसान के लिए धान्य देती है, उनका जल स्वच्छता और तृप्ति देता है। न केवल जीवन-काल मे ही, अपितु मृत्यु की वेला मे भी गगा-तट पर पहुँचने की बलवती आकाक्षा उसे

व्याकुल बना देती है। गगा-तट पर उसकी चिता सजाई जाती है एव भस्म होकर राख के रूप मे परिणत उसका शरीर गगा मे प्रवाहित हो जाता है। उसका यह विश्वास है कि जीवन मे उससे अनगिनत त्रुटियाँ क्यो न हुई हो, किन्तु पतितपावनी गंगा के सस्पर्श से वे धुल चुकी है। उसे मृत्यु के पश्चात् भी विष्णु अथवा शिवलोक ही प्राप्त होगा। यह विश्वास रहीम को इतना अनुप्राणित करता है कि वे गगा से कह उठते है—"मा, मै जानता हूँ कि मृत्यु के पश्चात् तुम्हारी कृपा से शिव अथवा विष्णु ही बनूँगा, पर मेरी यही प्रार्थना है कि तुम मुझे शिव बनाना, विष्णु नही। विष्णु-रूप मे तुम मेरे चरणो मे रहो, यह मुझे असह्य है। मै तो यही चाहता हूँ कि शिव बनकर सर्वदा तुम्हे अपने मस्तक पर धारण किए रहूँ :

अच्युत चरण तरंगिनि, सिव सिर मालति माल।
मोहि न बनायउ सुरसरि, कीजिअ ऐन्दव भाल॥

कवितावली मे गोस्वामीजी का भी यही स्वर गूँजता है

बारि तिहारो निहारि मुरारि भएँ परसे पद पापु लहौंगो।
ईसु ह्वै सीसु धरौं पै डरौं प्रभु की समता बड़े दोष दहौंगो॥
बरु बारहिं बार सरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागिरथी ! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो॥

वात्सल्यमयी भक्ति-गगा के प्रति भी यही श्रद्धा जन-मन को अनुप्राणित करती है। वह अपनी छोटी-से-छोटी आवश्यकताओ के लिए भी प्रभु से प्रार्थना करता है। न केवल परमार्थ अपितु स्वार्थ भी भगवत्कृपा से सिद्ध हो सकता है, यह आश्वासन उसे आत्मग्लानि से बचाता है। क्योकि उसे यह ज्ञात है कि माँगने पर समाज में व्यक्ति का सम्मान नही रह जाता, किन्तु सत उसे आश्वासन देता है कि एकमात्र प्रभु श्रीराम ही ऐसे उदार है जो माँगने वाले को भी सम्मान देते है। विभीषण और सुग्रीव-जैसे व्यक्ति भी, जो राज्य किंवा अन्य वासनाओ से प्रेरित होकर प्रभु की शरण मे आए थे, कामना की पूर्ति के साथ-साथ मित्र बनाए जाने का सम्मान भी प्राप्त करते है। भक्तो की गणना मे न केवल जिज्ञासु और ज्ञानियो का नाम लिया गया है, अपितु आर्त अर्थार्थी भी उसी श्रेणी मे गिन लिए गए

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥

भक्ति-गगा की यह उदारता ही व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

सरस्वती ब्रह्म-विचार का प्रतीक है। तीर्थराज प्रयाग मे गगा और यमुना का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। किन्तु पौराणिक श्रद्धा एक तृतीय नदी की उपस्थिति का भी वर्णन करती है, वह है सरस्वती। जो दृष्टिगोचर है, उसकी सत्ता को स्वीकार कर लेना ही आस्तिकता नही है। प्रत्यक्ष के प्रति आग्रह का अतिरेक ही नास्तिकता का मूल आधार है। दृष्टिगोचर न होने वाला ईश्वर नास्तिक के लिए कोई अर्थ नही रखता। किन्तु आस्तिक के लिए सर्वाधिक महत्त्व उसका ही है जो नही दिखाई देता, किन्तु जिसके प्रकाश मे समस्त विश्व-प्रपच दिखाई देता है। ज्ञान का प्रतिपाद्य भी निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। अमूर्त ब्रह्म के निरूपण का सर्व-

श्रेष्ठ प्रतीक सरस्वती ही है, जो स्वयं भी अमूर्त है। भक्ति का मुख्य आधार सगुण साकार ब्रह्म है, अत. उसके निर्वचन के लिए गगा का आश्रय भी स्वाभाविक ही है। गगा और सरस्वती का यह सगम, निर्गुण और सगुण के एकत्व की ओर इंगित करता है। ज्ञान की पवित्रता के साथ-साथ उसकी गुह्यता का परिचय भी इस प्रतीक के द्वारा प्राप्त होता है। ज्ञान दुर्लभ है। भक्ति के समान उसमें सुलभता का तत्त्व नही है :

कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ॥

सन्त-समाज मे जहाँ भक्ति और कर्म का खुला निरूपण होता है, वहाँ ज्ञान के निरूपण मे गोप्यता का आश्रय लिया जाता है। ज्ञान का अधिकार कठिनाई से प्राप्त होता है। अशुद्ध बुद्धि मे ज्ञान अभिमान की सृष्टि करता है। बात समझ मे आने-जैसी है। भक्ति का प्रतिपाद्य ईश्वर और उसका गौरव है। ईश्वर की महत्ता एव स्वय की लघुता के मान से भक्ति का उदय होता है। कर्म का उद्देश्य विराट् का परिचय देते हुए व्यक्ति को कर्तव्य का भाव कराना है। व्यक्ति विराट् विश्व और समाज का एक अग है। अग का कर्तव्य है कि वह सारे शरीर की सेवा के लिए कार्य करे। अत भक्ति और कर्म का निरूपण प्रत्येक के लिए उपादेय है, किन्तु ज्ञान तो जीव और ब्रह्म के एकत्व का दर्शन है :

'सोऽहमस्मि' इति वृत्ति अखण्डा। दीप सिखा सोइ परम प्रचण्डा ॥

एकत्व की दीप-शिखा के प्रकाश मे व्यक्ति उलझी हुई ग्रन्थि को सुलझा ले, यही उसका उद्देश्य है। पर दीप-शिखा की प्रचण्ड लौ कही आग न लगा दे, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। एकमात्र शुद्ध 'अहं' का पूर्ण वोध सच्चा ज्ञान है; पर जिस 'अह' के हम अभ्यस्त है, द्वैत के विना उसकी स्थिति नही हो सकती। उस अह का आश्रय दूसरे की क्षुद्रता है। बुद्धिमत्ता के अह के लिए बुद्धिहीन चाहिए। वलवत्ता का अहकार निर्वल के समक्ष ही प्रकट होता है। यही स्थिति धन की है। ज्ञान की मुख्य समस्या यही है कि पूर्ण अह के स्थान पर व्यक्ति ज्ञानी होने का परिच्छिन्न अभिमान न पाल ले। वहुधा ऐसा ही होता है। अत: एक ओर जहाँ ज्ञान की परिभाषा ही परिच्छिन्नता के अभिमान का अभाव है, वहाँ ज्ञान के अभिमान मे उन्मत्त होने वालो का मानस मे वर्णन किया गया है

ज्ञान मान जहँ **एकउ नाही। देख ब्रह्म समान सब नाहीं ॥**
जे ज्ञान मान विमत्त **तव भव हरणि भक्ति न आदरी।**
ते पाइसुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥

सुरा उन्ही पदार्थो से वनती है जिन्हें हम खाद्य पदार्थ के रूप में प्रयुक्त करते है। अगूर सात्त्विक फल है, वह व्रत-उपवास मे ग्रहण करने योग्य है। पर वही विशेष प्रक्रिया से विकृत होकर सुरा का रूप ग्रहण कर लेता है। अगूर का सेवन करते हुए व्यक्ति को स्वय मे तत्काल किसी परिवर्तन का अनुभव नही होता, किन्तु परिवर्तित सुरा के रूप मे उसका सेवन करते ही व्यक्ति स्वयं को न जाने क्या समझने लग जाता है! सारी वास्तविकता को भूलकर व्यक्ति कल्पित

सृष्टि मे पहुच जाता है। सुरापायी मे निर्भीकता आ जाती है, वह किसी को कुछ नहीं समझता। प्रसिद्ध लोककथा की भाँति, वह दरिद्र होते हुए भी हाथी पर वैठे हुए राजा को देखकर, उससे हाथी खरीदने को प्रस्तुत हो जाता है। ठीक यही स्थिति ज्ञान और अभिमान की है। ब्रह्मात्मैक्य-वोध के रूप मे जो सच्चा ज्ञान है, वह व्यक्ति को वाह्य रूप मे परिवर्तित नही करता, किन्तु ज्ञानाभिमान का उदय होते ही वह स्वय को महान् और अन्य लोगो को अज्ञानी एव तुच्छ मानने लग जाता है। अत. ज्ञान और अभिमान के पार्थक्य के लिए गोस्वामीजी का प्रतीक सर्वश्रेष्ठ माध्यम है जैसे सरस्वती होते हुए भी गुप्त है, इसी तरह सच्चा ज्ञान साधारणतया स्वय को प्रकट करने की चेष्टा नही करता। जहाँ ज्ञान के प्रदर्शन की प्रवृति है वहाँ ज्ञान के रूप मे अभिमान ही सक्रिय है।

भगवान् राम स्वय अखण्ड ज्ञान-घन हैं। "ज्ञान अखण्ड एक सीतावर" कह-कर तुलसीदास उनके तात्त्विक स्वरूप का परिचय देते है। पर व्यवहार मे श्रीराम जी की कर्तव्यपरायणता और गुरुजनो के प्रति भक्ति का ही परिचय वार-वार प्राप्त होता है। महाराज श्री दशरथ की मृत्यु पर आँसू वहाने मे उन्हे कोई सकोच नही होता

मरण हेतु निज नेह निहारी। भे अति विकल धीर धुर धारी॥

किन्तु मेघनाद की मृत्यु पर रावण धीरता का प्रदर्शन करता हुआ विलाप करती हुई रानियो को ज्ञान और वैराग्य का उपदेश देने लगता है

तव दस कन्ध विविध विधि, समुझाई सव नारि।
नश्वर रूप जगत यह, देखहु हृदय विचारि॥

गोस्वामी जी ने इस ज्ञान पर कटाक्ष करते हुए लिखा है

तिन्हहि ज्ञान उपदेशा रावण। आपुनि मन्द कथा शुभ पावन।
पर उपदेश कुशल वहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

भीतर से प्रशान्त होते हुए भी श्रीराम लोक-व्यहार मे भावुकता और सहृद-यता से भरे हुए है। भीतर से अशान्ति और पराजय का अनुभव करता हुआ रावण ज्ञान का प्रदर्शन करता है। उसका मिथ्या दभ और अह वास्तविकता को प्रकट करने से रोकता है। सच्चा ज्ञान सरस्वती की भाँति गुप्त रहकर, भक्ति और कर्म की गगा-यमुना मे समाया रहता है। 'त्रिवेणी' नाम की सार्थकता भी उसके ही माध्यम से चरितार्थ होती है।

यमुना को कर्म-कथा के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यमुना सूर्य की पुत्री है। सृष्टि मे कर्म का मूल प्रेरक सूर्य होता है। प्रात कालीन सूर्य उदित होकर तमोमयी निद्रा को छोडकर व्यक्ति को कर्म की प्रेरणा प्रदान करता है। स्वत सूर्य भी कर्म का अप्रतिम आदर्श प्रस्तुत करता है। नियमितता उसके जीवन का अभिन्न अग है। प्रतिक्षण दूसरो को प्रकाश और कर्म की प्रेरणा देता हुआ, वह स्वय आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से शून्य है। जव भी हम सूर्य की ओर दृष्टि डालने की चेष्टा करते हैं, उससे दृष्टि मिला पाना असम्भव हो जाता है। मानो

सूर्य कह उठता है—"मुझे देखने की कोई आवश्यकता नही, अपना काम करो !" सच्चा कर्म आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से सर्वथा शून्य होता है। आत्म-प्रदर्शन कर्म के स्थान पर अहं को प्रतिष्ठित कर देता है। अहं से प्रेरित कर्म किसी श्रेष्ठ परिणाम की सृष्टि नही कर सकता।

यमुना का स्मरण रवि-नन्दिनी के रूप मे करना कर्म मे निष्कामता की ओर इंगित करता है। पिता और पुत्री का सम्बन्ध निष्कामता का परिचायक है। पिता और पुत्र का नाता कामना और स्वार्थ की पृष्ठभूमि पर आधारित है। पुत्र के प्रति पिता जो कुछ भी करता है, उसमे यह प्रत्याशा तो छिपी ही रहती है कि पुत्र योग्य होकर इसका प्रतिदान देगा। किन्तु पुत्री को तो देना ही देना है। यमुना रवि-नन्दिनी के रूप मे कर्म मे निष्कामता के तत्त्व की स्मृति दिलाती है। निरन्तर प्रवाहमान यमुना कर्म की अखण्डता का साक्षात्कार कराती रहती है। यमुनोत्री से निकलकर धरित्री को धन्य बनाती हुई यमुना कही भी आसक्त होकर रुक नही जाती। अर्थात् प्रकृति, वैभव और पूजा के बीच भी, अनासक्त भाव से चलते जाना वह महामन्त्र है जो किसी भी कर्मयोगी का आदर्श हो सकता है।

यमराज यमुना के भाई है। पुराणगाथा के अनुकूल यमराज भ्रातृ-द्वितीया को अपनी भगिनी यमुना के घर गए तथा परम्परा के अनुकूल उन्हे वरदान दिया। वह वरदान यह था कि भ्रातृ-द्वितीय को जो व्यक्ति यमुना मे स्नान करेगा, उसे यमगण कष्ट नही देंगे। इस कथा का व्यवहार और भावना के सन्दर्भ मे विशिष्ट महत्त्व तो है ही, पर विचार की दृष्टि से भी यह कथा प्रेरक है। यमराज कर्मफल दाता है। मृत्यु के पश्चात् न्याय के सिंहासन पर आरूढ होकर, व्यक्ति को उसके कर्म का दण्ड अथवा पुरस्कार प्रदान करते है। यम की सत्ता व्यक्ति को सतत सावधान रहने की प्रेरणा देती है। जीवन मे किए गए कर्म यही समाप्त नही हो जाते। लोक मे भले ही हम दुष्कर्मो के दण्ड से बच जाएँ, पर उसके पश्चात् भी सूर्य-पुत्र यम की दृष्टि से बच पाना असम्भव है। पर सतत जागरूक रहता हुआ भी क्या कोई व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि उसके कर्म मे कोई त्रुटि नही होगी ? त्रिगुण की सीमा में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए यह सर्वथा असम्भव है। ऐसी परिस्थिति मे यमुना की कथा कर्म की निर्ममता को समाप्त कर देती है। यमराज भी भावना-शून्य नही है। यमुना से कर्म की प्रेरणा प्राप्त करने वाला व्यक्ति यह आशा कर सकता है कि कर्मजन्य त्रुटि का परिणाम उसे नही भोगना पडेगा। इसका तात्पर्य यह भी है कि जिसने यमुना से अनासक्ति, निष्कामता और अकर्तृत्व का पाठ ग्रहण कर लिया, उसे यमराज से भय कैसे हो सकता है

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात्—जिसमे कर्तृत्व नही है और जिसकी बुद्धि कर्म मे लिप्त नही होती, वह (आवश्यक होने पर) अगणित प्राणियों का वध करने पर भी मृत्यु अथवा बन्धन का भागी नही बनता।

यमुना का तीर्थराज प्रयाग मे पहुचकर गंगा मे विलीन हो जाना कर्म के उद्देश्य की ओर इगित करता है। सत्कर्मो का अन्तिम उद्देश्य भक्ति की उपलब्धि है·

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँलगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढे सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सव साधन कर यह फल सुन्दर॥

इसी तरह सरस्वती जहाँ अपनी उपस्थिति से त्रिवेणी को पूर्णता प्रदान करती है, वही गगा मे विलीन होकर अपनी पृथक्ता भी समाप्त कर देती है। प्रयाग के पश्चात् गगा ही समुद्र की ओर अभिमुख होती है। साधना के प्रारम्भ मे ज्ञान, कर्म और भक्ति पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है। जैसे गगा-यमुना का प्राकट्य अलग-अलग स्थानो से होता है, किन्तु एक ऐसी स्थिति आती है जव ज्ञान, कर्म और भक्ति मे कोई पार्थक्य शेप नही रह जाता। प्रारम्भ मे व्यक्ति को कर्म करते हुए विधि और निषेध का ध्यान रखना पडता है। स्वभावत उस समय साधक को मन की वासनाओ पर नियन्त्रण करने के लिए विवेक का आश्रय लेना पडता है। अधर्म की वृत्तियाँ अन्त करण से पूरी तरह समाप्त नही हो जाती। पर ज्योही साधक स्वय को भक्ति के प्रति अर्पित कर देता है, त्यो ही उसके कर्म विवेक के स्थान पर ईश्वर के द्वारा सचालित होने लगते है।

भक्तो के जो चार भेद वताए गए है, उनमे ज्ञानी को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि विशेष पिआरा॥

ज्ञान मे किस अद्वैत स्थिति की कल्पना की गई है, उसमे व्यवहार का कोई आधार प्राप्त नही हो सकता। ज्ञानी को भी व्यवहार का निर्वाह करने के लिए भक्त के जीवन को स्वीकार करना होगा। इसीलिए ज्ञान की सरस्वती का भक्ति की गगा मे विलीन हो जाना सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत होता है।

।। श्रीराम. शरणं मम ।।

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ।।

अर्थ—बुद्धि, यश, श्रेष्ठ गति, ऐश्वर्य तथा कल्याण किसी ने जब भी, जिस प्रकार भी कही पाया होगा, वह सत्सग का ही प्रभाव होगा। लोक और वेद मे भी इसका दूसरा उपाय नही है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण अत्यन्त आग्रहपूर्ण प्रतीत होता है, क्योकि इसमे न केवल सत्सग की महिमा है, अपितु एक चुनौती भी है। कवि यदि केवल यह कहता कि सत्सग के द्वारा ये वस्तुएँ प्राप्तव्य है, तो इसमे कोई अस्वाभाविकता न होती। किन्तु कवि का यह दावा करना कि "किसी भी देश अथवा काल मे जब भी किसी को इनकी उपलब्धि हुई होगी तो एकमात्र सत्सग से ही", उक्त कथन को बल प्रदान करता है।

उल्लिखित पक्ति मे जब काल का, जहाँ देश का तथा जेहि शब्द, व्यक्ति का वाचक है। इस सम्बन्ध मे स्पष्ट है कि कवि को अन्य कोई भी विकल्प स्वीकार्य नही। यहाँ तक कि उसने यह दावा लोक और वेद, दोनो, की ओर से किया है। इस दावे को केवल सद्गत्यर्थ स्वीकार करने मे कोई विशेप आपत्ति न थी, किन्तु इसका विस्तार तब अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है जब वह बुद्धि, ऐश्वर्य और कीर्ति को भी सत्संग के ही द्वारा प्राप्तव्य मानता है। क्या प्रत्येक देश और काल मे ऐसे अनगिनत लोगों का दृष्टान्त सामने नही आता, जिनकी सत्सग में रचमात्र भी रुचि नही है, फिर भी वे बुद्धिमान् और यशस्वी है? समृद्धि के शिखर पर प्रतिष्ठित अनेक व्यक्ति सत्सग के सन्निकट भी नही फटकना चाहते। उनमे से अधिकाश सत्सग की ओर से उदासीन तथा उसके कट्टर आलोचक भी हैं। यही नही, द्वेप से प्रेरित ऐसे व्यक्ति अवसर मिलने पर विरोध करने मे भी सकोच नही करते।

इसका एक उत्तर यह है, जिसे हम पारम्परिक कह सकते है। इस सिद्धान्त पर दृढ आस्था रखने वालो की मान्यता यह है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई दे, जो इन विशेपताओं से युक्त होते हुए भी सत्सग मे रुचि नही रखता है, तो इसका तात्पर्य यही है किसी-न-किसी जन्म मे उसने सत-कृपा प्राप्त की होगी। इस उत्तर मे भी एक बल है। किन्तु मानस मे इस प्रश्न का उत्तर भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इस उत्तर का केन्द्र 'पाई' शब्द है—"जब भी किसी ने पाया होगा" का तात्पर्य इतना ही नही है कि यदि किसी व्यक्ति के पास बुद्धि, वैभव

इत्यादि दिखाई दे रहा है तो उस व्यक्ति ने उस वस्तु को सच्चे अर्थो मे पा लिया है। इसका सूत्र श्रीहनुमानजी और रावण के सम्वाद मे प्राप्त होता है। आजनेय रावण को राम-भक्ति का उपदेश देते हुए उसे आश्वासन देते है कि श्रीराम के चरणो को हृदय मे धारण कर तुम लका का राज्य करो '

राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम करहू॥

रावण यह कह सकता था कि "लका का अचल राज्य तो मैं अब भी कर ही रहा हूँ"; किन्तु सम्भावित प्रश्न को दृष्टिगत रखते हुए श्रीहनुमान ने यह स्पष्ट कर दिया कि "वस्तुत. लका के अचल राजा अभी तुम नही हो, क्योंकि किसी भी वस्तु की उपलब्धि की सार्थकता तभी है, जब उसके चले जाने का भय समाप्त हो जाए।" श्रीराम से विमुख रहकर जो सम्पत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है, वह आकर भी चली जाती है। उसका पाना उसी प्रकार न पाने के समान है जिस प्रकार मूलस्रोत-शून्य सरिता का वर्षाऋतु के पश्चात् शुष्क हो जाना '

रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहिं ससि महुँ जनि होहु कलंका॥
राम नाम बिन गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥

उपर्युक्त पक्तियों मे उपलब्धि के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वही सत्सग के प्रसग मे 'पाई' का वास्तविक अर्थ है। सत्य तो यह है कि किसी वस्तु की प्राप्ति ही नही, अपितु उसकी उपलब्धि के माध्यम का भी असाधारण महत्त्व है। द्रव्य के द्वारा क्रय शाल तथा चोरी से प्राप्त शाल की उपलब्धि मे समानता होते हुए भी, दोनो की उपलब्धि-क्रिया से उत्पन्न मनोवृत्ति मे सर्वथा भिन्नता होगी। क्योकि एक की क्रिया मे स्वामित्व का बोध होता है और दूसरे की क्रिया से चौर्यत्व का। दोनो मे उपयोग की क्रिया समान होते हुए भी चौर्यवृत्ति का स्वामी दण्ड की आशका मे सत्रस्त है, किन्तु उचितमार्ग से प्राप्त वस्तु मे भी वस्तु के छिन जाने अथवा चोरी हो जाने का भी भय तो बना ही रहता है। अत: जिसे पा लेने के पश्चात् खो जाने का भय न हो, वह पाना सत्सग के माध्यम मे ही सम्भव है। सत्सग के अभाव में इन पाँचो की उपलब्धि कठिन प्रयास मे ही सम्भव है। प्राप्ति के पश्चात् भी जब तक ये वस्तुएँ रहती है, तब तक व्यक्ति उन्हें बोझ की तरह ढोता रहता है और जब ये जाती है तब महान् दु ख होता है।

मति तो पुरातन प्रारब्ध से प्राप्त होती है पर उसका विकास व्यक्ति के अपने ही प्रयास पर निर्भर है। केवल बुद्धि का होना ही महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस वरदान को अभिशाप मे बदलते भी देर नही लगती। हिरण्यकशिपु, रावण आदि असुरो की बुद्धिमत्ता इसमे प्रत्यक्ष प्रमाण है जिन्होने अपनी तपस्या और साधना के द्वारा ब्रह्मा तथा शिव को सन्तुष्ट किया। किन्तु इन प्रसन्न हुए देवताओं से वरदान माँगने मे इनकी बुद्धिमत्ता ही विघातक बन बैठी।

देवताओ की सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए भी बुद्धि के अहकारी ये राक्षस असम्भव को भी सम्भव वनाने की कल्पना से स्वय के ही विनाश का पथ प्रशस्त करते रहे। रावण ने वरदान मॉगा

हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥

उसकी तार्किक धारणा थी कि वदरो और मनुष्यो को तो मै स्वय के पुरुपार्थ से ही समाप्त कर दूँगा, एव वरदान के फलस्वरूप देवतादिको से अवध्य होकर अमर हो आऊँगा। किन्तु भगवान् शकर व्यग-भरे स्वर मे कहते है—"रावण मरण मनुज कर जॉचा"—रावण ने मनुष्य के हाथो से मृत्यु मॉगी है। मृत्यु चिर सत्य है, उसके लिए तप की कोई आवश्यकता नही है। किन्तु इतनी कठिन साधना के पश्चात् भी बुद्धिमत्ता का मिथ्या अहकार उसे कही का नही रखता। रावण को निश्चित विश्वास था कि वह अमर हो चुका है। इसी भ्राति ने उसे मदोन्मत्त वना दिया और अन्त में वह समग्र लका के विनाश का कारण वना। यदि इसे ही बुद्धि की उपलब्धि कहे तो मूर्खता का और क्या परिणाम हो सकता है? बुद्धिहीन व्यक्ति तो उस नेत्रहीन की तरह है जिसे अपनी नेत्रहीनता का कम-से-कम ज्ञान तो रहता है—जो ध्वनि, लाठी और अन्य व्यक्तियो के आश्रय से काम तो चला लेता है; किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति उस शरावी के तुल्य है जिसे अपनी बुद्धि और दृष्टि पर इतना विश्वास है कि वह समझाने वाले को ही मूर्ख मानता है। वह किसी भी अन्य व्यक्ति का आश्रय नही लेता, नाली मे गिर जाने पर भी स्वय को गिरा हुआ नही मानता। काकभुशुण्डि ने गरुड को अपने पूर्वजीवन के सस्मरण सुनाते हुए अपने आत्म-विश्लेपण मे इसी रूप को प्रस्तुत किया ·

धन मदमत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ विशाला ॥

वहुधा सुरा-सेवी सुरा-सेवन के समर्थन मे आत्म-विश्वास जाग्रत् होने तथा वक्तृत्वशक्ति के उदय के तर्क को प्रस्तुत करते है। किन्तु उन्हे यह ज्ञान नही कि आत्म-विश्वास आन्तरिक वस्तु है, उसके लिए किसी वाह्य आलम्बन की आव-श्यकता की कल्पना स्वय मे एक रोग है। शराव के माध्यम से उत्पन्न आत्म-विश्वास व्यक्ति को उस सीमा तक ले जा सकता है, जहॉ उसका आत्म-विश्वास घोर अहकार का रूप ग्रहण कर लेता है। काकभुशुण्डि का सकेत भी इसी ओर है "धन की सुरा पीकर मै उन्मत्त हो उठा, बुद्धि मे सौम्यता के स्थान पर उग्रता आ गई, वहुत वाचाल हो गया, पर उस वाचालता मे भी मेरा मद ही प्रेरक था, गुरुदेव ने मुझे समझाने की चेष्टा की, पर वे सफल नही हुए। अन्धे को मार्ग वताना सरल है, परन्तु यदि ऑखो वाला व्यक्ति शरावी हो, तो वह मार्ग दिखाने वाले को ही मूर्ख समझता है। परिणामस्वरूप शकर के शाप से मुझे दण्डित होना पड़ा।" अत यह निर्विवाद सत्य है कि सत्सग के माध्यम से व्यक्ति को बुद्धि के सदुपयोग का ज्ञान होता है।

कीर्ति की कामना वडे-से-वडे व्यक्ति के भी अन्त.करण में विद्यमान रहती है। समाज मे श्रेष्ठ कार्यो के पीछे यश की आकांक्षा ही प्रेरक के रूप मे कार्य करती है।

महापुरुषो की प्रशसा मे 'यशोधन' शब्द का प्रयोग किया जाता है (यश ही जिनका धन है वे यशोधन हैं)। यश के लिए व्यक्ति धन, प्राण सभी कुछ वलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। कीर्ति की कामना से जहाँ व्यक्ति को सत्कर्मो की प्रेरणा प्राप्त होती है, वही उससे व्यक्ति की वुद्धि मलिन भी हो जाती है

सुत वित लोक ईषना तीनी। किन्ह कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥

"पुत्र, धन और कीर्ति की आकाक्षाओ ने किस व्यक्ति की वुद्धि को मलिन नही वना दिया ?" प्रथम दृष्टि मे यह अटपटा-सा प्रतीत होता है कि जिस कीर्ति की कामना से व्यक्ति सत्क्रिया की ओर प्रवृत्त हो, वही उसकी वुद्धि को मलिन वना दे। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इसका रहस्य प्रकट हो जाता है। व्यक्ति को केवल इतने मात्र से ही सतोष नही हो जाता कि उसका यश हो, उसकी कीर्ति हो, अपितु वह अपनी कीर्ति को दूसरो की तुलना मे अधिक समादृत देखना चाहता है। ऐसी परिस्थिति मे व्यक्ति जव अपनी समता मे किसी अन्य व्यक्ति को सत्कार्य करते हुए देखता है, तव स्वभावत उसके अन्त करण मे 'मात्सर्य' का उदय हो जाता है।

मात्सर्य शब्द का तात्पर्य है, "मत्त सरति" ("यह व्यक्ति मुझसे आगे वढता जा रहा है")। इसे देखकर मनुष्य के अन्त करण मे जिस वृत्ति का प्राकट्य होता है उसे ही मात्सर्य कहते हैं। जव एक वार व्यक्ति के मन मे मात्सर्य वृत्ति का उदय हो जाता है, तव एक ओर जहाँ वह स्वय की कीर्ति के लिए प्रयास करता है, वही दूसरी ओर वह दूसरे यशस्वी व्यक्ति की कीर्ति को विनष्ट करने की भी चेष्ट करता है। सारे इतिहास और पुराणो को पढने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मात्सर्य की वृत्ति ने अनेक महापुरुषो के जीवन मे क्षुद्रता की सृष्टि की, वे परस्पर एक-दूसरे के विरोधी रहे। इस प्रकार की कीर्ति की कामना ने जहाँ प्रारम्भ मे सत्कार्य की प्रेरणा प्रदान की, वही वाद मे यश की आकाक्षा से प्रेरित होकर वे ईर्ष्या, मात्सर्य एव सघर्ष के चक्रजाल मे उलझ गए। अत केवल कीर्ति की उपलव्धि को ही यदि जीवन का लक्ष्य वना दिया जाए, तो ऐसा यश अपने साथ अनेक समस्याओ को लेकर ही आता है। एक ओर व्यक्ति जहाँ कीर्ति की उपलव्धि के लिए व्यग्र रहता है, वही दूसरी ओर उसे निरन्तर यह आशका सत्रस्त रखती है कि कही उसकी कीर्ति नष्ट न हो जाय। अत वह व्यक्ति उसके लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। ऐसी मन.स्थिति मे व्यक्ति जिन सत्कार्यो को करता है, उनके पीछे आन्तरिक प्रेरणा न होकर वाह्य लोकदृष्टि से प्रशसा पाने की वृत्ति अधिक होती है। दूसरो की दृष्टि मे भला वनने की आकाक्षा वाला व्यक्ति स्वभावत आदर्श के प्रति निष्ठावान् नही रह सकता। लक्ष-लक्ष व्यक्तियो की दृष्टि से जव कोई अपने मूल्य को ऑकने का प्रयास करेगा, तव स्वभावत उसे लोक-सन्तुष्टि के लिए अनगिनत ऐसे कार्य करने होगे जिन कार्यो के द्वारा वह लोक-रंजन कर सके। किन्तु यह लोक-रजन की चेष्टा उसके अन्त करण की प्रेरणा और आदर्शो का हनन करेगी। कठिनाई से प्राप्त वह यश

एक ओर जहाँ व्यक्ति के जीवन मे भार बन जाता है, वही दूसरी ओर ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति के कारण, परस्पर सघर्ष की सृष्टि करता हुआ, अन्त मे अच्छे कार्य के उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है। इसलिए जब रामचरितमानस मे यह कहा जाता है कि कीर्ति बिना सत की कृपा के प्राप्त नही होती है, तब उसका तात्पर्य भी यही है कि सच्चे अर्थो मे यश तभी कल्याणकारी है जब वह केवल प्रदर्शन के लिए सत्कार्य के स्थान पर अन्त प्रेरित कर्त्तव्य की दिशा मे ले जाए। और यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति सत्सग के माध्यम से इस सत्य को समझ ले कि वस्तुतः कीर्ति की प्रेरणा ही मनुष्य के जीवन मे, सच्चे अर्थो मे महत्कार्य की दिशा मे ले जाने वाली नही है। लोक-प्रशसा ऐसी अस्थायी वस्तु है कि जिसके विनष्ट होते देर नही लगती। इसीलिए गोस्वामी ने दोहावली रामायण मे लिखा कि दुर्भाग्य है उन लोगो का, जो लोग केवल लोक-सम्मान के लिए श्रेष्ठ कार्य करना चाहते हैं। क्योकि यह समाज तो 'भेडी की धसनि' के रूप मे ही प्रशसा करता है

तुलसी भेडी की धसनि, जड जडता सनमान।
पाए ते अभिमान पुनि, खोए मूढ़ अपान॥

एक ओर व्यक्ति को कीर्ति प्राप्त करके अभिमान होता है, तो दूसरी ओर जब वह यश को खो बैठता है, तब उसके अन्त करण मे अपार पीड़ा का उदय होता है। वस्तुत कीर्ति का मूल उत्स सम्मान की आकाक्षा नही, अपितु भगवान् की प्रसन्नता तथा भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म ही होना चाहिए। इसलिए रामचरितमानस मे एक ओर ऐसे यशस्वियो का भी वर्णन है कि जिनका यश दूसरे यशस्वी के समक्ष धूमिल हो जाता है

प्रभुहिं देखि सब नृप हियँ हारे। जनु राकेस उदय भए तारे॥

इसका तात्पर्य है कि प्रकाशित तारो के मध्य चन्द्रोदय होते ही तारो के प्रकाश मे न्यूनता प्रतीत होती है। वही चन्द्रमा जब कभी सूर्यमण्डल मे दिखाई देता है, तब सूर्य के समक्ष उसका प्रकाश न्यून हो जाता है। ठीक यही स्थिति कीर्ति को लेकर है, किन्तु यश का वास्तविक स्वरूप यह नही हो सकता। कीर्ति का यथार्थ स्वरूप वह है जिसका सकेत गोस्वामीजी ने श्रीभरत के चरित्र मे किया है।

श्रीभरत के जीवन मे लोक-सम्मान की रच-मात्र भी आकाक्षा नही है, किन्तु सत भरद्वाज उनकी कीर्ति-कौमुदी की प्रशसा करते हुए कहते हैं कि आपने जिस नवीन यश-चन्द्र की सृष्टि की है वह तो अनुपम है :

नव बिधु बिमल तात यश तोरा। रघुवर किंकर कुमुदचकोरा॥
उदित सदा अथ इहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति पति करिही। प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुरु अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहू। कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू॥

उनके जीवन का एक ही महान् लक्ष्य है—केवल प्रभु की प्रसन्नता और

उसकी उपलब्धि के लिए कर्म करना। इसलिए श्रीभरत का जीवन ईर्ष्या एव मात्सर्य से सर्वथा शून्य है। यदि एक ओर श्रीभरत का चरित्र है तो दूसरी ओर श्री लक्ष्मण का। श्रीभरत के अन्त करण मे श्रीलक्ष्मण के प्रति ईर्ष्या का होना असभव न था, क्योकि वे निरन्तर श्रीराम के साथ रहते है, उनकी सेवा-भावना विश्व-विश्रुत है। किन्तु श्रीभरत के जीवन मे, श्रीलक्ष्मण के प्रति ईर्ष्या का प्रादुर्भाव हुआ ही नही। उन्हे सतत प्रतिभासित होता रहा कि वस्तुत श्रीलक्ष्मण तो प्रभु के अनन्यानुरागी है, सेवक है तथा उनकी क्षमता का कोई अन्य सेवक अभी तक प्रादुर्भूत नही हुआ

लालन जोग लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने ॥

यही नही, श्रीलक्ष्मण के भी अन्त करण मे श्रीभरत के प्रति पूर्ण समादर की भावना विद्यमान है

लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सव तुम्हहिं सराहत वीती ॥

चौथी वस्तु 'भूति' है। भूति का अर्थ है 'ऐश्वर्य'। ऐश्वर्य एक व्यापक शव्द है। उसमे धन, रत्न, आभूषण, वस्त्र आदि सभी को सम्मिलित किया जा सकता है। वहुधा व्यक्ति लोक-दृष्टि से अपने-आपको उच्च सिद्ध करने के लिए ऐश्वर्य का प्रदर्शन करता है। तात्पर्य यह है कि उसको यह विश्वास नही है कि वह अपने आन्तरिक सद्गुणो और सद्विचारो के द्वारा लोक-सम्मान प्राप्त कर सकता है। अत आन्तरिक सद्गुणो के अभाव को वह वाह्य वस्तुओ के प्रदर्शन के द्वारा पूर्ण करना चाहता है। स्वभावत जव वैभव का उद्देश्य लोक-दृष्टि मे स्वय को सम्मानित करना हो, तव वह व्यक्ति की आन्तरिक हीनता को ही प्रकट करता है। भगवान् शकर के शरीर पर चिता की राख है, उसके लिए 'विभूति' शव्द का प्रयोग किया गया है·

भव अग भूति मसान की **सुमिरत सुहावनि पावनी।**

ऐश्वर्य को विभूति मानने वालो पर इससे वडा कोई व्यग्य नही हो सकता। लोक-दृष्टि मे 'राख' एक तुच्छ वस्तु मानी जाती है। किन्तु भगवान् शिव विभूति के रूप मे चिता की भस्म को ही शरीर पर धारण करते है। यदि एक ओर व्यक्ति वस्त्र, रत्न और आभूषण के माध्यम से अपने ऐश्वर्य को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर वस्त्र-आभूषण और वैभव से सर्वथा शून्य भगवान् शकर का यह नग्न स्वरूप सामाजिक मान्यताओ पर करारा व्यग्य करता है। सत्य तो यह है कि जिस व्यक्ति के पास सच्चे सद्गुण है, उसके सम्पर्क मे आकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी ऐश्वर्य का रूप धारण कर लेती है। चिता की राख अत्यन्त अपवित्र मानी जाती है, लेकिन यह राख जीवन के वास्तविक सत्य को प्रकट करती है। दरिद्रता और वैभव दोनो परस्पर विरोधी रूप मे समाज के समक्ष आते है। एक व्यक्ति यदि वस्त्र और भोजन के लिए तरसता है, तो दूसरा स्वर्ण, रत्न और आभूषणो के भार से लदा अपने वैभव का प्रदर्शन करता है। किन्तु वैभव का वाह्य प्रदर्शन मृत्यु की तुला पर उसके वास्तविक मूल्य को आकने से रोक नही पाता। चाहे कोई

दरिद्र हो अथवा समृद्ध, पर अन्त मे चिता की अग्नि दोनो की ही परीक्षा लेती है, दोनो अग्नि मे भस्म हो जाते है। तव उस राख को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य वैभव ने व्यक्ति के जीवन के मूल्य मे रञ्चमात्र भी परिवर्तन नही किया है। चिता की राख का स्पर्श करने के पश्चात् प्रियजन स्नान करके पवित्र होते है, तव उनकी पवित्रता के दर्शन के पीछे छिपा हुआ स्वार्थ स्पष्ट हो जाता है। क्योकि मान्य धारणा यह है कि चिता की भस्म अत्यन्त अपवित्र होती है। जिस व्यक्ति को जीवन-भर पवित्र मानकर हम हृदय से लगाते रहे, जिसके समीप वैठकर सौभाग्य का अनुभव करते रहे, वही व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् समाज के लिए निरर्थक और अपवित्र हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि जव उससे किसी स्वार्थ-सिद्धि की सभावना नही रही तव हम उसे अपवित्र मानकर उसके(भस्म के)स्पर्श के पश्चात् स्नान करते है किन्तु जव उस परित्यक्त चिता की अपावन राख को भूतभावन भगवान् शकर अपने शरीर पर धारण कर लेते है, तव चिता की इसी भस्म को शास्त्र 'विभूति' के नाम से पुकारते है। सच्चा ऐश्वर्य उस व्यक्ति के पास नही है जिसने वस्त्र और आभूपणो के माध्यम से नकली मुखौटों के द्वारा अपने-आपको महत् सिद्ध करने की चेष्टा की है, अपितु सच्ची विभूति तो उसके पास है जिसके सस्पर्श से तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी 'विभूति' का पद प्राप्त कर ले।

यही कारण था कि जव भगवान् शिव दूल्हे के वेश मे हिमाचल के घर जाते है, तव उन्होने वर के अनुकूल किसी भी प्रकार के वस्त्र और आभूषण को स्वीकार नही किया। वे तो नित्य जिस वेश मे रहते थे, उसी वेश मे हिमाचल के द्वार पर पहुच गए और तव ससुराल के द्वार पर नग्न वर को देखकर लोगो को आश्चर्य हुआ। किन्तु 'वर' शब्द पर शकर का यह व्यग्य बड़ा ही सार्थक था। वर का तात्पर्य है 'श्रेष्ठ', ससार मे अधिकाश व्यक्ति कम-से-कम एक दिन के लिए तो वर(श्रेष्ठ) वन जाते है। किन्तु उस वरत्व का मूल्य उन्हे जीवन-भर चुकाना पडता है। उस वरत्व के प्रदर्शन के लिए व्यक्ति क्या-क्या नही करता ? दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, सवारी, स्वय को सजाना, बारात आदि का न जाने कितना आडम्बर करता है, किन्तु अगले ही दिन वह वरत्व हीनता मे परिणत हो जाता है—और वह निरीह व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता का अभिशाप जीवन-भर ढोता रहता है। जो वरत्व आभूपण और वस्त्रो के माध्यम से प्राप्त होता है, उस वरत्व की अतिम परिणति यही होती है। इसलिए 'शिव' अपने नित्य के वेश मे ही वरत्व को स्वीकार करते है। इससे उनका तात्यर्य यह था कि जीवन मे आई श्रेष्ठता की सार्थकता उसकी शाश्वतता मे है। और यह श्रेष्ठता शाश्वत तभी हो सकती है कि जव वरत्व किसी शाश्वत वस्तु के कारण उपलब्ध हो, न कि किसी नाशवान् अनित्य वस्तु के माध्यम से।

जो लोग भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करके गौरवान्वित होते है, वे भौतिकता के प्रदर्शन के द्वारा लोगो पर अपने प्रभुत्व की छाप डालना चाहते है। वस्तुत. उनका प्रभुत्व मिथ्या है। यदि कोई मजदूर दो मन सोने की सिल्लियो से लदा हो तो क्या

वह महाधनिक कहला सकता है ? नही ! कभी नही ! वह तो उन सिल्लियों को ढोनेवाला एक मजदूर-मात्र है। ठीक इसी प्रकार से ससार मे जिन्हे लोग ऐश्वर्य-सम्पन्न कहते हैं, आन्तरिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे उस ऐश्वर्य को ढोनेवाले एक श्रमिक मात्र है जो निरन्तर उस ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिए कठिन श्रम कर रहे है। पर अन्तिम परिणाम के रूप मे उनका ऐश्वर्य यही रह जाता है। ऐश्वर्य यदि चला जाय तो जीवन मे ही उनके मिथ्या-प्रदर्शन की हँसी उडाई जाने लगती है। विगत स्मृतियों की छाया मे समाज उनकी उपेक्षा करता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन ऐश्वर्य के मध्याह्न मे व्यतीत करने वाला व्यक्ति भी जीवन के अन्तिम क्षणो मे, अपने धन की विपुल राशि से एक कण भी नही ले जा पाता। यह पाचभौतिक पिण्ड, वस्त्र, आभूपण—किंवहुना, समस्त वैभव—यही पडा रह जाता है, उसके साथ कुछ भी नही जाता।

'मानस' के ही प्रसग को लीजिए एक दिन पूर्व श्रीराघवेन्द्र को युवराज-पद देने की घोपणा की गई, किन्तु दूसरे ही दिन उन्हे वन जाने का आदेश मिल गया। इस प्रकार व्यक्ति को राज्य मिलते-मिलते यदि श्रीराम की ही परिस्थिति का सामना करना पडे, तो वह पीडा से आहत होगा, निराश होगा, दु खी होगा। किन्तु ऐसी परिस्थिति मे भी, यदि श्रीराम मुसस्कराते हुए वन चले जाते हैं, तो इसका कारण यही है कि वे ऐश्वर्य को वडप्पन का चिह्न नही मानते ·

कीर के कागर ज्यो नृप चीर, विभूषन उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मग वास के रूख, ज्यों पंथ के साथ ज्यों लोग लुगाई ॥
संग सुवंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिव लोचन राम चले, तजि वाप कौ राज वटाऊ की नाईं ॥

श्री राघवेन्द्र का चरित्र ही उनका ऐश्वर्य है। वे ऐश्वर्य के पीछे नही चलते, अपितु वही उनका वरण करने के लिए व्यग्र रहता है। इसलिए वन-पथ मे ही श्री-राघवेन्द्र के प्रति अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले अनेक पात्र दिखाई देते है। किन्तु भगवान् श्रीराम ने, उन्हे ग्रहण करने के स्थान पर, त्याग का ही जीवन स्वीकार किया। उनके सम्पर्क मे आकर ही सुग्रीव राज्य प्राप्त करते है, विभीपण लकेश वन जाते है। अत विभूति का सच्चा सदुपयोग दूसरो का अभाव दूर करने मे ही है। अन्यथा गोस्वामीजी के शब्दो मे धन 'प्रेत पावक' सिद्ध होगा :

उभय प्रकार प्रेत पावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो ।

रात्रि के समय श्मशान और नदी के किनारो पर प्रज्वलित अग्नि दिखाई देती है। प्राचीन प्रचलित मान्यता यह थी कि इस रूप मे भूत-प्रेत स्वय को प्रदर्शित करते हुए दूसरो के मन मे भ्राति की सृष्टि करते है। एक पथिक शीत से ठिठुरता हुआ यदि इस प्रेताग्नि को ही वास्तविक अग्नि समझकर उसके निकट पहुँचने का प्रयत्न करे, तो वह ज्यो-ज्यो आगे वढेगा, अग्नि उसे दूर जाती हुई प्रतीत होगी। ऐसी परिस्थिति मे उसका व्याकुल होना स्वाभाविक है। किन्तु यदि वह प्रयास-पूर्वक अग्नि के निकट पहुँच भी जाय, तो उसे अग्नि के स्थान पर प्रेत का

साक्षात्कार होगा। इसी प्रेताग्नि की तुलना गोस्वामीजी धन से करते हैं। वैभव की चमक से आकृष्ट होकर व्यक्ति धन पाने का प्रयास करता है। कठिन प्रयत्न के वाद भी उसे लक्ष्य दूर दिखाई देता है। ज्यो-ज्यो वह समृद्धि के सन्निकट पहुँचने की चेष्टा करता है, त्यो-त्यो उसे लगता है कि अभी पाना शेष है। किन्तु इच्छित ऐश्वर्य की प्राप्ति के वाद भी उसे यह देखकर महान् दु ख होता है कि उसने जिस कल्पना से उसे पाने का प्रयास किया था, वह मिथ्या सिद्ध हुई। ऐश्वर्य को प्रेत-पावक के स्थान पर वास्तविक अग्नि का रूप प्राप्त होना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जव उसे लोक-कल्याण मे प्रयुक्त किया जाए।

लेख के प्रारम्भ मे उल्लिखित पक्ति मे पाँचवी वस्तु 'भलाई' बताई गई है। सभी व्यक्ति अपना भला चाहते है, किन्तु भलाई का सच्चा अर्थ ज्ञात न होने पर वे अपने अहित को ही भलाई का मार्ग मान लेते है। इतिहास मे ऐसे अनगिनत दृष्टान्त है जहाँ विवेक के अभाव मे व्यक्ति स्वय अपने ही सर्वनाश का कारण वन गया। जव कोई व्यक्ति स्वय अपनी भलाई के विषय मे विचार करता है, तव वहुधा उसे दूसरो के अहित मे ही अपनी भलाई दिखाई देती है। ऐसी परिस्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति अपना भला और दूसरों का बुरा चाहने लगता है। तव एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए, वे खर-दूषण की चौदह हजार सेना के समान पारस्परिक सघर्ष मे ही लडकर मारे जाते है। सत सवकी भलाई चाहता है। इसलिए उसके सग मे रहकर व्यक्ति यह सत्य जान लेता है कि दूसरो की भलाई मे ही अपनी भी भलाई है।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥

अर्थ—ब्रह्मा ने जड और चेतन, समस्त सृष्टि का निर्माण गुण और दोप के मिश्रण से किया है। सत हस की तरह दुग्ध-रूपी गुण को ग्रहण कर, अवगुण-रूपी जल का परित्याग कर देते हैं।

विविधता ही सृष्टि है। इस विविधता से भरी सृष्टि के पीछे क्या रहस्य है? इसका निर्माता कौन है? निर्माण का उद्देश्य क्या है? ये प्रश्न आदिकाल से मानव-मन मे उठते रहे है। दर्शन और विज्ञान इस प्रश्न के समाधान मे सलग्न हैं। अनगिनत उत्तर दिए गए है। और भविष्य मे भी दिए जाते रहेगे। उन उत्तरो मे परस्पर वैमत्य का होना स्वाभाविक ही है। कुछ विचारको की दृष्टि मे अणु-परमाणुओ के मिलन से ही इस सृष्टि का निर्माण हुआ है। इसका कोई रचयिता नही है, किन्तु अधिकांश मनीपियो के लिए इसे स्वीकार कर पाना सम्भव नही है। उनकी दृष्टि मे यदि रचना है तो रचियता भी अवश्य होगा। पौराणिक श्रद्धा ने उस रचियता का नामकरण ब्रह्मा के रूप मे किया। विधाता के द्वारा रची गई यह सृष्टि विलक्षण है। इसमे प्रत्येक पदार्थ का प्रतिद्वन्द्वी अवश्य है और मनुष्य को उसमे एक पक्ष प्रिय लगता है, दूसरा अप्रिय। किन्तु यह प्रियता-अप्रियता भी परिवर्तित होती रहती है। ऐसी विचित्र रचना के लिए ब्रह्मा की आलोचना भी कम नही होती। इच्छा के प्रतिकूल कोई भी घटना होते ही व्यक्ति ब्रह्मा को खरी-खोटी सुनाने लगता है। रामचरितमानस मे भी ऐसे अनेक अवसर आते है, जहाँ ब्रह्मा के लिए कठोरतम शब्दो का प्रयोग किया जाता है

निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जोहि सहि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रूख कल्पतरु सागर खारा। तेहि पठए बन राजकुमारा॥

आलोचना के लिए ब्रह्मा का नाम ले लेना सरल और सुरक्षित दोनो ही है। जव सामने वाले किसी व्यक्ति की आलोचना की जाती है, तव या तो वह रुष्ट होकर आलोचक पर प्रत्यारोप लगता है या स्पष्टीकरण देने लग जाता है, पर वेचारा निरीह ब्रह्मा इन दोनो मे से कुछ भी नही कर सकता। फिर इस आलोचना से उसका कुछ वनता-विगडता भी तो नही है। इसलिए वह व्यवस्था और निर्माण-शैली मे परिवर्तन करता नही दिखाई देता। इस कारण सन्तुलित सत, ब्रह्मा की आलोचना मे समय गँवाना व्यर्थ मानते है। वे कहते है कि वेचारे रचियता का भी क्या दोष है, क्योकि उसके पास निर्माण की जो सामग्री है, वह स्वय अपूर्ण है। गुण और दोषो के मिश्रण से वना हुआ ससार निर्दोष कैसे हो सकता है! अनादि काल से अनन्तकाल तक यह द्वन्द्वात्मक सृष्टि इसी रूप मे रहने वाली है

कहहि बेद इतिहास पुराना । बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना ॥
दुख-सुख पाप पुन्य दिन राती । साधु असाधु सुजाति-कुजाती ॥
दानव-देव ऊँच अरु नीचू । अमिअ सुजीवन माहुर मींचू ॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥
कासी मग सुरसरि क्रम नासा । मरू माख महिदेव गवासा ॥
सरग नरक अनुराग बिरागा । निगमागम गुन दोष बिभागा ॥

भले ही यह सृष्टि गुणो और दोपो के मिश्रण से वनी हुई हो, किन्तु सन्त हंस के रूप मे इन दोनो के पार्थक्य की कला से परिचित है। कहते है कि यदि हंस के समक्ष दूध और पानी मिलाकर रख दिया जाय, तो वह दूध पीकर जल का परित्याग कर देता है। सम्भव है इस प्रकार का हस केवल साहित्य मे विद्यमान हो; किन्तु असदिग्ध रूप से समाज मे ऐसे सन्त विद्यमान होते है जो इस कला मे निष्णात होते है।

सन्त की मान्यता यह है कि जव समस्त सृष्टि गुण और दोप के मिश्रण से वनी हुई है, तव किसी व्यक्ति को केवल पापी अथवा दोपी कहना सर्वथा व्यर्थ है। क्योकि सर्वथा दोप अथवा पाप से मुक्त व्यक्ति सम्भव ही नही है। इसलिए जब किसी व्यक्ति मे हमे दोप ही दिखाई देते है, तव वह अपनी ही दृष्टि का दोप होता है। व्यक्ति की दृष्टि भी तो गुण-दोष के मिश्रण से ही वनी हुई है। अतः अपनी अपूर्ण और दोषपूर्ण दृष्टि से दूसरों के दोषो की आलोचना स्वय ही सबसे बड़ा दोष है। किसी व्यक्ति मे दोप देखने से किसी का लाभ नही होता। जिसमे दोष देखा जाता है उसके अन्त करण मे क्रोध का उदय होता है, और देखने वाला व्यक्ति स्वयं मे घृणा को आमन्त्रित कर लेता है। क्रोध और घृणा की प्रतिक्रियात्मक वृत्ति से अनेक दोषो का जन्म होता है। इसलिए सन्त प्रत्येक व्यक्ति में गुण देखता है और इस गुण-दर्शन मे करुणा नही, तथ्य है, क्योकि गुण तो प्रत्येक व्यक्ति में होता ही है। सन्त गुण-दर्शन के द्वारा दूसरे व्यक्ति के अन्तर्मन मे रहने वाली सद्-वृत्तियो को प्रोत्साहित करता है। वह जानता है कि राख मे छिपी हुई चिनगारी की भाँति दोष-समूह मे गुण छिपा हुआ रहता है। अग्नि सुलगाने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सवाधानी से राख को कुरेदकर उसमे से चिनगारी ढूँढ निकालता है। फिर लकड़ियो के छोटे टुकड़ो को उन पर सजाकर मुख से फूँक लगाता है और अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। सन्त भी गुण-रूपी चिनगारी को, सात्वना और प्रशसा के सम्मिलित प्रयोग से, प्रज्वलित कर देता है। इस गुण-दर्शन मे दोनों का समान रूप से लाभ है। चिनगारी सुलगाने मे व्यक्ति का अपना स्वार्थ ही तो होता है। चिनगारी के रूप मे अग्नि-कण उपयोगी प्रतीत नही होता, किन्तु प्रज्वलित होकर वह शीत-निवारण, भोजन-निर्माण आदि कार्यों मे उपयोगी बन जाता है। हस से किसी ने कहा है कि "आप धन्य है जो दूध और पानी को अलग करने की प्रक्रिया से परिचित हैं।" उसने हँसकर कहा, "इसमें प्रशसा की कोई बात नही है, इस कला का उपयोग मै अपने स्वार्थ के लिए ही तो करता हूँ। इससे मुझे

ही तो शुद्ध दूध पीने को मिलता है।" समाज मे किसी व्यक्ति के गुणों को अभिव्यक्त और प्रोत्साहित करने से, उस व्यक्ति के साथ-साथ, प्रोत्साहित करने वाले सत्पुरुष को भी कम लाभ नही होता।

रावण और कुम्भकर्ण की मृत्यु के क्षणो का जो चित्र मानस मे चित्रित किया गया है वह इसी दर्शन की पुष्टि करता है। वे दोनो क्रूरकर्मा राक्षस थे, यह तो सभी कहते हैं, उन्हे उसके लिए दण्डित भी होना पडता है; किन्तु वह क्षण बड़े आश्चर्य का था, जव उनका सिर कटने के वाद उसमे से एक दिव्य तेज निकलकर भगवान् के मुख मे समा जाता है

तासु तेज प्रभु बदन समाना। सुर मुनिसर्वाहिं अचम्भव माना॥

×　　　　　　　×

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि शंभु चतुरानन॥

कुम्भकर्ण का दिव्य तेज प्रभु के मुख मे समाते देखकर देवो और मुनियो का आश्चर्य-चकित होना उस सस्कार का ही परिणाम था, जिसमे कुम्भकर्ण मूर्तिमान् पाप और अह का प्रतीक था। जो व्यक्ति छ मास तक सोने के पश्चात् केवल भोजन के लिए उठे और जिसका भोज्य केवल मास-मदिरा हो, उसमे सद्गुण की कल्पना भी कैसे की जा सकती थी? किन्तु सत-दृष्टि इससे भिन्न थी। निद्रा से जगाए जाने के पश्चात् कुम्भकर्ण ने रावण के कार्यो की कठोर आलोचना की एवं उसे भगवद्भक्ति का उपदेश दिया

सुनि दसकंधर वचन तब, कुम्भकरन बिलखान।
जगदम्बा हरि आनि अब, सठ चाहत कल्यान॥

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाइहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥
है दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहिं मोहि न सुनाएहि आई॥
कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥
नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरवहा॥
अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सफल करौं मै जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥

यह उदात्त उपदेश उसे कहाँ से प्राप्त हुआ था? यह एक सन्त की कृपा थी जिसका दृष्टिकोण उदार था—जिसने कुम्भकर्ण मे कही सत्य की प्यास का अनुभव किया था। व्यवाहारिक दृष्टि से उस समय का वातावरण उपदेश के सर्वथा प्रतिकूल रहा होगा। छ महीने के वाद उठकर वैठा हुआ कुम्भकर्ण आकण्ठ मदिरा-मास मे डूवा हुआ था, फिर भी सन्त ने उसके समक्ष भविष्य की एक झाँकी प्रस्तुत की जिसे उसने सुना। रावण के द्वारा जगाए जाने पर उसे वह सव-कुछ याद आ गया जो देवर्षि ने उसे सुनाया था। उसने रावण को समझाने की चेष्टा की, भले ही वह उसमे असफल रहा हो। उसने रावण की ओर से युद्ध भी किया, किन्तु उसे

अपने कार्य के औचित्य मे संदेह था। इसीलिए विभीषण द्वारा प्रणाम किए जाने पर वह उनका तिरस्कार नही करता है। उन्हे भ्रातृ-द्रोही या देश-द्रोही कहकर नही पुकारता। वह तो विभीषण के कार्यो का अनुमोदन करता है और उसे 'राक्षस-कुल का भूषण' कहकर पुकारता है।

देखि बिभीषनु आगे आयउ। परेउ चरन निज नाम सुनायउ ॥
अनुज उठाई हृदय तेहि लायो। रघुपति भक्त जानि मन भायो ॥
तात लात मोहि रावन मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा ॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥
सुनु सुत भयउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥
धन्य-धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निशिचर-कुल भूषन ॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥
बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ कालबस बीर ॥

यदि वह भगवान् राम की शरण मे नही जा पाया तो इसका कारण यही था कि वह नही चाहता था कि लोग यह समझे कि मृत्यु के भय के मारे उसने रावण का साथ छोड़कर राम का आश्रय ले लिया। कुम्भकर्ण की यह भी धारणा थी कि मेरा तमोगुणी शरीर श्रीराम की सेवा के लिए उपयुक्त नही है फिर भी यदि उसे विभीषण मे यह सद्गुण दिखाई पडा, तो निस्सकोच भाव से न केवल वह उसकी सराहना करता है, अपितु कपट का परित्याग कर भगवान् श्रीराम का भजन करने का अनुरोध भी करता है।

कुम्भकर्ण ही नही, रावण भी सद्गुणो से सर्वथा शून्य नही था। उसके चरित्र मे भी यत्र-त्र वह ज्योति क्षण-भर के लिए चमक उठती है। भले ही अपने दुराग्रह और अहकार के कारण वह उस प्रकाश से लाभ नही उठा पाता। शूर्पणखा के द्वारा चौदह हजार राक्षसो के विनाश की सूचना पाते ही सत्य की ज्योति उसके अन्तर्मन मे कौध जाती है—खर और दूपन को मारने वाला ईश्वर ही हो सकता है

खर दूसन मो सम बलवंता। तिन्हइ को मारइ बिनु भगवंता ॥

अपनी मानसिक दुर्वलताओ और अहकार के कारण वह स्वय को भजन में असमर्थ पाता है। उसके अन्त:करण मे यह विवेक भी विद्यमान था कि श्रीराम के वाणों से मृत्यु होने पर वह मुक्ति का अधिकारी वनेगा

सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौं मै जाई बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्राण तजे भव तरऊँ ॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा ॥

यद्यपि वह अपने विवेक पर सुस्थिर नही रह पाता। श्रीराम को स्वर्ण-मृग के पीछे भागते देखकर उसकी उनके प्रति ईश्वरता-सम्वन्धी धारणा सदिग्ध हो जाती है। फिर भी श्रीसीता के अपहरण के प्रसंग में शालीनता का एक स्फुलिंग पुन: दिखाई देता है। साधु-वेशधारी रावण की जनकनन्दिनी ने तीव्र शब्दो में

भर्त्सना की, उससे रावण क्रुद्ध भी हुआ, पर उसके साथ ही उसके अन्तर्मन में उनके प्रति श्रद्धा का भी उदय हुआ :

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा ॥
जिमि हरिबधुहिं छुद्र सस चाहा। भएसि कालबस निसिचर नाहा ॥
सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना ॥

निश्चित रूप से उसके सद्विचार स्थायी नही रह पाते। श्रीहनुमान अथवा विभीषण द्वारा रावण को उपदेश दिए जाने का उद्देश्य उन्ही सद्विचारों को उद्दीप्त करने का था। भले ही वे अपने प्रयास में सफल न हुए हों, किन्तु इससे इस मान्यता पर कोई प्रभाव नही पड़ता कि सृष्टि मे कोई भी व्यक्ति सर्वथा दोषमुक्त नही होता। इसीलिए रावण के चरण-प्रहार को भी विभीषण ने स्वय के लिए कल्याणकारी मानकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि उन्हे लगा कि इस प्रहार के बिना सम्भवत वे स्वय भी श्रीराम के शरणागत न हो पाते :

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा ॥
उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥

रावण की मृत्यु पर उसके तेजाश को भगवान् मे विलीन होते देखकर शिव और पितामह ब्रह्मा को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। इस हर्ष के पीछे उनकी सन्त-वृत्ति ही कार्य कर रही थी। यदि वे रावण को दुर्गुणों का पुंजमात्र मानते होते, तो उन्हे भी देवताओ की भाँति इस सद्गति पर आश्चर्य होता; किन्तु वे रावण के दुर्गुणो के साथ-साथ उसके सद्गुणो से भी परिचित थे। तपस्या, यज्ञ और आराधना के द्वारा उपलब्ध शक्तियों का रावण के द्वारा दुरुपयोग होते देखकर वे अत्यन्त खिन्न थे; किन्तु मृत्यु के क्षणो मे उसे प्रभु मे विलीन होते देखकर उन्हें अपार सन्तोष और प्रसन्नता होती है। उन्हे लगा कि ईश्वर के ध्यान के लिए जिस तन्मयता की अपेक्षा थी, वह रावण मे विद्यमान थी, भले ही उसका प्रतिफलन शत्रुता के माध्यम से हुआ हो।

अतः सन्त-वृत्ति हस के समान सर्वत्र गुण को खोजकर उससे प्रेरणा प्राप्त करती है।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥

अर्थ—दुष्ट भी अच्छा सग पाकर भले कार्य करने लगता है, किन्तु उसके अपरिवर्तनशील स्वभाव की मलिनता नही मिटती।

रामचरितमानस मे सत्सग की अद्भुत महिमा प्रस्तुत की गई है। उसे एक पारस के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसके स्पर्श से ही लौह स्वर्ण मे परिणत हो जाता है ·

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥

किन्तु प्रथम पक्ति से इसका विरोधाभास-सा जान पडता है। सरल समीकरण के रूप मे 'खल' और 'शठ' शब्द मे पार्थक्य वताकर, श्रोताओ को सतुष्ट करने की परम्परा, मानस के वक्ताओ मे बहुत दिनों से प्रचलित है। वे कहते है कि "सत के सग मे 'शठ' तो परिवर्तित हो जाता है, किन्तु 'खल' नही वदलता।" वहिरग दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत होते हुए भी सम्पूर्ण मानस के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि नही होती। प्रत्येक शब्द का दूसरे शब्द से कुछ-न-कुछ पार्थक्य होते हुए भी ये एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप मे प्रयुक्त किए जाते है। 'खल' और 'शठ' शब्द का भी मानस मे एक-दूसरे के रूप मे प्रयोग किया गया है। किन्तु रावण के लिए दोनों ही शब्दों का उपयोग देखने को मिलता है। प्रमाणत दण्डकारण्य मे रावण के द्वारा अमर्यादित शब्दो का प्रयोग किए जाने पर श्रीसीता ने "वोलेहु वचन दुष्ट की नाईं" कहकर उसकी भर्त्सना की एव अपहृत किए जाने का प्रयास करने पर उन्होने उसके लिए 'खल' शब्द का प्रयोग करते हुए चुनौती भी दी :

कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा ॥

तथा अशोक-वाटिका मे वे रावण के लिए 'शठ' शब्द का प्रयोग करती है :

सठ सूने हरि आनेसि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥

दुष्ट, खल और शठ तीनों ही शब्द पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किए गए है। अत. जो लोग 'खल' और 'शठ' के पार्थक्य के द्वारा दोनों पंक्तियो मे दिखाई देने वाले विरोधाभास का परिहार करते है, वे यथार्थ से सर्वथा दूर है।

उल्लिखित दोनों पक्तियो मे किसी-न-किसी पक्ति की सत्यता के प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप, अतीत एव वर्तमान के समाज मे ऐसे अनेक व्यक्तियों के प्रमाण दृष्टिगोचर होगे। पुरातन इतिहास के पृष्ठो मे इनकी सख्या यदि कम नही है तो वर्तमानकाल भी इससे अछूता नही कहा जा सकता कि जिनके जीवन मे सत्सग ने सर्वथा क्रान्ति कर दी। दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों की सख्या भी कम नही है, जिन पर सग का रंचमात्र रंग नही चढ़ता। यदि इसे औषधि और रोग के सघर्ष के रूप में देखें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। औषिधियों के द्वारा जहाँ अनेक रोगी

स्वस्थ होते है, वहां श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ दवाओ के होते हुए भी अनगिनत रोगियो की मृत्यु हो जाती है। औषधि और रोग, दोनो ही जीवन के सत्य हैं। रोगो की ही भाँति दुष्टता भी एक मानसिक रोग है। सत्सग के माध्यम से रोग-निवारण के लिए जो औषधि प्रयुक्त की जाती है, उसकी सफलता के भी वे ही सूत्र हैं, जो औषधि के सही परिणाम के लिए आवश्यक हैं।

रोग-निवारण के लिए सबसे पहली आवश्यकता है, रोगी को अपनी रुग्णता का ज्ञान। बहुधा अनेक रोग इसीलिए असाध्य हो जाते हैं कि रोगी को प्रारम्भ मे रोगो का पता ही नही चल पाता है। जिन्हें वह दुर्बलता के साधारण चिह्न मान लेता है, वे किसी-न-किसी बडे रोग के पूर्व लक्षण होते हैं। मानस का यह प्रसिद्ध नीति-वाक्य भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है :

रिपु रुज पावक पाप, प्रभु, अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि विविध विलाप, करि लागी रोदन करन॥

'शठ' के समक्ष सबसे कठिन प्रश्न यही है—क्या वह दुष्टता को रोग के रूप मे स्वीकार करता है ? बहुधा इसका उत्तर 'नहीं' मे होता है। अधिकाश रोगो की स्वीकृति मे, रोगी को किसी लज्जा अथवा ग्लानि का बोध नहीं होता, किन्तु दुष्टता के विषय मे यह बात नही कही जा सकती है। किसी भी व्यक्ति के लिए स्वय को 'शठ' स्वीकार करना सरल नही है। शारीरिक और मानसिक रोगो मे एक सबसे बडा पार्थक्य यह है कि जहाँ शारीरिक रोगी स्वय कष्ट का अनुभव करता है, वहाँ दुष्टता के मानसरोग से ग्रस्त व्यक्ति दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे आनन्द का अनुभव करता है। असत-लक्षण-प्रसग की कई पक्तियों मे इसका सकेत है :

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥

× ×

जब काहू कै देखहिं विपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥

ऐसी स्थिति मे शठता से ग्रस्त व्यक्ति स्वय को रुग्ण कैसे स्वीकार कर सकता है ? दुष्टता जब स्वय दुष्ट को ही उत्पीडित करने लगे, तभी उसके अन्तर्मन की ग्लानि उसे सत्सग की दिशा मे प्रेरित कर सकती है। सत्सग के द्वारा जिन लोगों मे परिवर्तन हुआ है, उनमे बहुधा इसी प्रकार की ग्लानि पाई जाती है।

रोग-निवारण की दूसरी महत्त्वपूर्ण कडी है, रोग का सही निदान। प्रत्येक व्यक्ति मे रोगोत्पत्ति के कारण सर्वथा एक-जैसे नही होते। कुछ रोग आनुवशिक रूप से प्राप्त होते है, वहाँ अनेक रोग स्पर्श से सक्रमण करते है। ऐसे भी अनेक रोग है, जो ऋतु-परिवर्तन के कारण क्षणिक रूप से कुछ समय के लिए आकर चले जाते है। व्यक्ति की शठता के पीछे कोई-न-कोई मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि विद्यमान होती है। कई जातियो मे कुछ ऐसे कार्य भी धर्म के रूप मे मान लिए गए हैं जिन्हे कोई भी सभ्य समाज दुष्टता के रूप मे ही देखेगा। मध्यकालीन ठगो और पिंडारियो का जो वर्णन प्राप्त होता है, उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उनकी दृष्टि मे नरहत्या कोई पाप नही था। इसे वे देवी की प्रसन्नता का साधन मानते

थे। ऐसी परिस्थिति मे जन्म लेने वाले बालक स्वभावतः उससे कुछ भिन्न सोच ही नही सकते थे जो उन्हें प्रारम्भ से ही सिखाया जाता था। अत. इसे हम वश-परम्परागत शठता के रूप मे देख सकते है। इसका निवारण आनुवंशिक शारीरिक रोगो की ही भाँति अत्यन्त कठिन है, क्योकि दुष्टता उसके स्वभाव का अग बन जाती है। बुद्धि भी उसके विरुद्ध किसी अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि नही करती। व्यक्ति का स्वभाव परिवर्तित कर सकना असम्भव नही तो कष्ट-साध्य तो है ही। अनगिनत जन्मों के सस्कार स्वभाव के प्रेरक रूप मे विद्यमान रहते है। बौद्धिक सत्य बाहर से आरोपित किए जाते है, परन्तु स्वभाव व्यक्ति का आन्तरिक प्रेरक है। ऐसी स्थिति मे अन्त प्रेरणा के समक्ष बाहर से आरोपित धर्म का टिक पाना अत्यन्त कठिन है। फिर जहाँ पर बुद्धि भी स्वभाव की अनुगामिनी हो, वहाँ किसी परिवर्तन का प्रश्न ही नही उठता।

दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग होते है जो कुसग के प्रभाव से दुष्टता की दिशा में चल पडते है। वे उन यात्रियो की भाँति है जिन्हे मार्ग मे साथियो की आवश्यकता का भान होता है, पर उचित साथियों के चुनाव का विवेक नही होता। ऐसे लोग स्वतन्त्र चेतना के अभाव मे अपने साथियो से प्रभावित होकर वैसा ही करने लग जाते है जैसा उन्हे सिखाया जाता है। ऐसे लोगो के जीवन मे दुष्टता बाहर से आरोपित की जाती है, इसलिए इन पर विजय पाना अपेक्षाकृत सरल होता है। इसकी तुलना ससर्गजन्य रोगो से की जा सकती है। अजामिल के पौराणिक उपाख्यान मे इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। एक सदाचारी ब्रह्माण के रूप मे उसकी जीवनचर्या प्रारम्भ होती है। किन्तु वन मे किसी मद्यप दम्पती का उन्मुक्त विहार देखकर वह उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। यह संयम के अतिरेक से उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया का परिणाम जान पडता है। उसका ज़ीवन परिवर्तित हो जाता है, किन्तु उसके अन्तःकरण के पवित्र सस्कार सर्वथा समाप्त नही हो गए थे। वे राख मे छिपी हुई अग्नि के समान प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही हो रहे थे।

अजामिल का उपाख्यान बहुधा नाम-महिमा के प्रसग मे उद्धृत किया जाता है। मृत्यु के समय उसने 'नारायण' शब्द का उच्चारण किया। यद्यपि वह पुकार भगवान् नारायण के लिए न होकर, नारायण नाम के अपने पुत्र के लिए थी। वह यमदूतो से भयभीत होकर रक्षा के लिए अपने पुत्र को पुकार रहा था, किन्तु उसकी पुकार पर भगवान् नारायण के पार्षद वहाँ चले आते है तथा यमदूतो को भगा देते है। श्रद्धालुओं के लिए यह अतुलनीय नाम-महिमा का दृष्टान्त है। उनकी यह मान्यता है कि जान-अनजान मे किसी भी प्रकार से लिया गया भगवन्नाम समस्त पापो को नष्ट कर देता है। दूसरी ओर तथाकथित बुद्धिवादियो की दृष्टि मे यह घोर अन्धविश्वास का प्रतीक है। यथार्थ सत्य उस गाथा को गम्भीरता से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है। अजामिल के द्वारा अपने पुत्र का 'नारायण' नाम रखना भी उसके अन्तर्मन में छिपे हुए शास्त्रीय सस्कारो का ही परिणाम था। नाम

रखते समय उसके अन्त करण में यह बात अवश्य रही होगी कि अनजाने मे भी लिया गया प्रभु का नाम समस्त पापो को नष्ट कर देता है। अत क्यों न पुत्र का भी ऐसा ही नाम रखा जाय, जिससे अनजाने मे ही सही, ईश्वर के नाम का उच्चारण तो होता रहे। दूसरी ओर, उसके अन्तर्मन मे यह भी सस्कार विद्यमान था कि व्यक्ति को अपने दुष्कर्मों का परिणाम भोगना ही पडता है, और मृत्यु के समय पापी व्यक्ति के प्राणो को लेने के लिए यमराज के दूत आते है। जीवन की सध्या-वेला मे जब वह यमराज के दूतो को आया हुआ देखता है, तब यह साक्षात्कार उसके सस्कारो का भी परिणाम हो सकता है। ऐसी स्थिति मे नारायण की पुकार भले ही बाह्य चेतना मे पुत्र के लिए रही हो, किन्तु अन्तश्चेतना मे वह भगवान् के नाम से जुडी हुई थी। उस समय वैकुण्ठ निवासी नारायण के पार्षदो का साक्षात्कार भी भगवन्नाम-सम्बन्धी उसके सस्कारो का परिणाम ही था। कर्म-सबधी सस्कारो की अपेक्षा भक्ति के सस्कार उसके मन मे तीव्रता से विद्यमान थे। इसीलिए संघर्ष मे उसे नारायण के पार्षदो की विजय दिखाई देती है। यह सघर्ष, वास्तविक या अवास्तविक, कैसा भी क्यो न रहा हो, अजामिल के लिए वरदान बन गया। इसने उसकी अन्तश्चेतना को झकझोर कर, पवित्रता के उसके पुरातन सस्कारो को पुन जाग्रत् कर दिया। उसे अपने तत्कालीन जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह भक्त के रूप मे अपना नवीन जीवन प्रारम्भ कर देता है। इस तरह ससर्गजन्य शठता नारायण के पार्षदो के संग से समाप्त हो गई, भले ही वह सग भावनात्मक ही क्यो न रहा हो।

दुष्टता की यह वृत्ति कभी-कभी, क्षणिक रूप से, भले व्यक्तियो के जीवन मे भी उदित हो जाती है; किन्तु यह एक तत्कालीन आवेग-मात्र होता है। पानी की लकीर की भाँति यह अगले ही क्षण समाप्त भी हो जाता है। 'दोहावली' रामायण मे प्रीति और विरोध को लेकर व्यक्तियो का तीन प्रकार का विभाजन किया गया है—"बुरे आदमियों का रोप पत्थर की रेखा होता है, मध्यम कोटि के व्यक्तियो का रोप बालू पर पडी रेखा के समान और श्रेष्ठ व्यक्तियो का क्रोध पानी की लकीर की भाँति होता है!" किन्तु प्रेम मे यही क्रम उल्टा होता है—"सत्पुरुपो का प्रेम पत्थर की रेखा, मध्यम कोटि के व्यक्तियो का प्रेम बालू की लकीर और निकृष्ट कोटि के लोगों का प्रेम जल की रेखा के समान होता है"

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की, बैर बितिक्रम जानि॥

बुद्धि या ससर्ग से उत्पन्न होने वाले दोषो का निराकरण सरल है, किन्तु स्वभावजन्य दोपो का उपशमन अत्यन्त कठिन है। विशेष रूप से तब, जबकि व्यक्ति मे स्वभाव के परिवर्त्तन की तीव्र आकाक्षा विद्यमान न हो। सत्कर्म के वातावरण मे प्रदर्शन के लिए एक दुष्ट व्यक्ति भी अच्छे कर्मों का अभिनय कर सकता है, किन्तु इससे उसके स्वभाव की मलिनता कैसे मिट सकती है! सन्त पारस हो सकता है, उसके स्पर्श से दुष्ट लौह का स्वर्ण-रूप में परिवर्तन भी सम्भव है;

किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि पारस और लोहे के मध्य मे कोई व्यवधान न हो। एक पतले कागज या झीने वस्त्र का व्यवधान भी इस प्रक्रिया को रोक सकता है। यह पतला आवरण है : स्वय को छिपाने की चेष्टा। यदि सन्त के पास कोई कपट लेकर जाए तो जीवन पर उसका अपेक्षित परिणाम पड भी कैसे सकता है ! 'खल' अपनी स्वाभाविक कुटिल वृत्ति के कारण, सन्त के निकट जाकर भी, उससे लाभ नही उठा पाता, पर इससे सत्संग की महिमा समाप्त नही हो जाती।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहि सुनहिं सुजान॥

अर्थ—श्यामा गाय भले ही देखने मे काली हो किन्तु उसके दुग्ध को कल्याणकारी समझकर प्रत्येक व्यक्ति पीता है। इसी तरह सुजान लोग ग्रामीण भापा मे वर्णित होने पर भी श्रीसीताराम के यश का गायन और श्रवण करते हैं।

भापा व्यक्ति को एक-दूसरे के सन्निकट लाने का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। वह मनुष्य के भावो को आकृति प्रदान करती है। विचार, भावना और क्रिया—सभी मे उसकी समान उपयोगिता है; किन्तु वही भापा कभी-कभी विघटन का भी सबसे बडा माध्यम बन जाती है। भाषा को लेकर सघर्ष और विघटन की प्रवृत्ति इन दिनो सारे देश मे परिव्याप्त है। ऐसी स्थिति मे भापा के सम्बन्ध मे गोस्वामीजी के विचार मनन और प्रचारित करने योग्य हैं।

भापा के सदर्भ मे देश, काल और व्यक्ति की समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। सारा विश्व अनेक भापा-भापियों मे बँटा हुआ है। कई लोगो की धारणा यह है कि यदि विश्व की एक ही भापा होती, तो विभाजन और विघटन का एक बहुत बडा कारण समाप्त हो जाता। कुछ लोगों ने इस प्रकार की एक भापा के निर्माण का प्रयास भी किया है। इस प्रकार के प्रयत्नो के पीछे, छिपे हुए सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी, इसकी सफलता मे सदेह ही होता है। सघर्ष के अनगिनत माध्यम है, और यह प्रवृत्ति उसके लिए नित्य-नये माध्यमो का सृजन करती है। सघर्ष पूरी तरह समाप्त भी नही हो सकते। अत. इनमे कुछ परिष्कार की ही आवश्यकता है। भापा के साथ सबसे वडी जो समस्या है वह है अन्य भाषाओ की तुलना मे अपनी भापा को उत्कृष्ट समझने की प्रवृत्ति। विचित्रता यह है कि प्रत्येक भापा के समर्थक को अपने समर्थन मे तार्किकता का कोई-न-कोई आधार प्राप्त हो जाता है। कोई प्राचीनता के नाम पर, कोई वहुसख्या के आधार पर, तो कोई वैज्ञानिकता की आड लेकर अपनी भापा को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करना चाहता है। कही राजनैतिक परिस्थितियो के कारण किसी भापा के प्रति महत्त्व-बुद्धि हमारे सस्कार का एक अग बन जाती है। अग्रेजी को लेकर देश के एक वर्ग की इसी मन स्थिति को समझा जा सकता है। अग्रेजी भापा मे अपने विचारो को अभिव्यक्त करनेवाला व्यक्ति स्वय को गौरवान्वित अनुभव करता है, क्योकि यह कभी देश के शासको की भाषा थी। किसी भी समाज या व्यक्ति के लिए सस्कारो से पूरी तरह मुक्त हो सकना कठिन ही नही, अपितु असम्भव भी है।

अतीत के भारतवर्ष मे सस्कृत भापा को असाधारण गौरव प्राप्त रहा है। उसकी उत्कृष्टता का परिचायक नाम है देव-भाषा। यदि अन्य भापाएँ मानव-

भाषा है तो संस्कृत देवताओ की भाषा है। वर्णाश्रम धर्म मे ब्राह्मण शीर्षस्थ थे, यह उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा थी। वेदों से लेकर बहुत बाद तक सारा उत्कृष्ट साहित्य सस्कृत भापा मे ही उपलब्ध है। दुर्लभता के प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण है। संस्कृत जनसाधारण की नही, अपितु वह तो एक वर्ग-विशेष की भापा थी। उसके प्रति पवित्रता और श्रद्धा का सस्कार समाज मे हो, यह स्वाभाविक था। परन्तु इसका दुष्परिणाम भी सामने आया। जनसाधारण सस्कृत में रचित ग्रंथो के प्रति आदर का भाव तो रखता था, पर उसमे उसे अपनत्व की अनुभूति नही हो पाती थी। वह स्वय उसके साहित्य का आनन्द नही ले सकता था। उसे उसका आनन्द लेने के लिए किसी विद्वान् व्याख्याता की आवश्यकता होती थी। विद्वान् व्याख्याता और ग्रथ, दोनो उसकी परिधि से इतनी दूर थे कि वह उन्हे स्पर्श करने का साहस भी नही कर सकता था। यह स्थिति कुछ लोगो को अभीष्ट हो सकती थी—क्योकि उसमे उनका व्यावहारिक स्वार्थ भी जुड़ गया था—पर लोक-मगल की दृष्टि से यह स्थिति एक ऐसा अभिशाप थी जिसके द्वारा समाज धर्म से दूर चला गया। जनसाधारण की भापा मे भी साहित्य की रचना की गई थी। जनसाधारण उसका यत्किंचित् आनन्द तो ले सकता था, और वह उसके मनोरजन का साधन भी वन सकता था, परन्तु समाज मे उसे कोई सम्मान प्राप्त नही था। वह केवल साधारण व्यक्ति को ही आकृष्ट कर पाता था। कोई भी ग्रथ सच्चे अर्थों मे तव तक लोक-श्रद्धा की वस्तु नही वन सकता, जव तक उसे विद्वत् वर्ग का सहयोग न प्राप्त हो। गोस्वामीजी इस तथ्य से परिचित थे, इसकी स्वीकृति उनकी इस पक्ति मे प्राप्त होती है ·

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥

उनके समक्ष यह वडा ही दुस्तर कार्य था कि सुलभता के साथ-साथ श्रदा का समन्वय होना चाहिए। सस्कृत भाषा के माध्यम से सुलभता का तत्त्व नही लाया जा सकता था, इसके लिए उन्होंने जनसाधारण की भाषा का प्रयोग किया। अपने आराध्य श्रीराम की ही भाँति वे भी सेतु-निर्माता थे। उनसे पहले, सत-परम्परा के कवीर जैसे प्रचारकों ने भी लोक-भाषा का ही आश्रय लिया था। पर यह प्रतिक्रिया-जन्य प्रयोग था। कवीर सस्कृत भाषा और उसमे लिखे गए महान् ग्रथो की गरिमा से 'परिचित नही थे। उच्च वर्णो के अहकार और दुर्व्यवहार से उनमे जिस प्रतिक्रिया का उदय हुआ, उससे उनमें ब्राह्मण, संस्कृत और वेद तीनों के ही प्रति तिरस्कार की भावना आ गई थी। अत उनके द्वारा जन-भाषा का प्रयोग सस्कृत की प्रतिद्वन्द्विता मे हुआ था। आत्म-विश्वास उनमे प्रखर मात्रा में विद्यमान था; इसीलिए वे अपना दावा दुहराते है—"जिस स्थिति का मैं वर्णन कर रहा हूँ, वेदों का भी उसमे प्रवेश नही है।"

वेद कत्तेव की गम्म नाहीं तहाँ, कहै कबीर कोई रमै सूरा।

गोस्वामीजी स्वयं उच्च ब्राह्मण वर्ण के थे। सस्कृत और उसमें लिखित ग्रन्थों के प्रति उनके मन मे अपार श्रद्धा थी। इसलिए उन्होने अपनी कृति के द्वारा

बुध और जन के बीच ऐसे सेतु का निर्माण किया, जिससे दोनों भाषाएँ एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी न रहकर पूरक बन गई। वे कबीर के समान प्रखर विद्रोही न होकर समन्वयवादी है। इसलिए वे पुरातन और नूतन को मिलाने वाले उचित माध्यम बन सके। वे निस्सकोच भाव से "नानापुराणनिगमागसम्मत यद्" की घोषणा करके अपनी वैदिक परम्परा को समादर प्रदान करते है। स्वय रामचरितमानस की वदना-पक्तियो मे देवभाषा का प्रयोग कर, सस्कृत भाषा के प्रति आदर की पुरानी परम्परा का उन्होने निर्वाह किया। पर इसके साथ ही प्राचीनता के प्रति जडतापूर्ण आसक्ति के मोह से वे सर्वथा दूर रहे। यह उनके आराध्य श्रीराम के स्वभाव के ही अनुरूप था। उनके इष्ट ने ऋषि-मुनियो की सर्वदा पूजा की, किन्तु प्राचीन परम्परा के प्रति उनका यह समादर केवट, कोल, भील और बन्दरो से उनकी मित्रता के बीच बाधक नही बना। लका-विजय से लौटने के पश्चात् ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और बन्दरो के बीच वे एक सेतु के रूप मे आते है और उसके माध्यम से दोनो को एक-दूसरे के निकट ला देते है। श्रीराम लंका-विजय मे दोनो को समान रूप से श्रेय देते है। यदि वे विजय की प्रेरक शक्ति के रूप मे गुरुदेव की कृपा को श्रद्धा समर्पित करते है, तो व्यावहारिक क्षेत्र मे बन्दरो की सहायता को भी कम मूल्यवान् नही मानते·

गुरु बशिष्ठ कुल पूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लाग जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

गोस्वामीजी ने भी प्राचीन परम्परा के प्रति नमन करते हुए साधारण जन की भावनाओ को उत्कृष्ट आदर प्रदान किया। उन्होने परम्परावादी विद्वानो को साकेतिक रूप मे यह स्मरण दिलाया कि भले ही महर्षि वाल्मीकि की देवभाषा मे प्रयुक्त वाणी भगवान् राम को प्रिय लगती हो, पर केवट की ग्राम्य बोली मे भी वे उतना ही आन्नद लेते है। एक ओर यदि वे वाल्मीकि की वाणी सुनकर मन मे मुस्कराते है

सुनि मुनि वचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने॥

तो दूसरी ओर केवट की वाणी उनमे उन्मुक्त आनन्द भर देती है :

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी लखन तनु॥

यदि मुनि की वाणी पर वे 'मुस्कराते' है, तो केवट की वाणी पर विसहँते है। 'मुस्कराहट' मे आनन्द की मर्यादित अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार देव-भाषा सस्कृत भी व्याकरण से अनुशासित है। 'विहँसना' आन्नद की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है, अत यह तो केवट की व्याकरणमुक्त ग्राम्य भाषा के अनुरूप ही है।

यदि श्रीराम दोनो ही भाषाओ मे आनद लेते है, तो उनके चरित्र-वर्णन मे भी दोनो भाषाओ का प्रयोग क्यो न किया जाए? उन्होने यही किया, किन्तु परम्परावादी वर्ग किसी भी नवीन विचारधारा को सहज ही अगीकार नही कर

लेता। गोस्वामीजी यह जानते थे कि पुरातनवादी वर्ग ग्राम्य भाषा में रचित उनकी कृति को सरलता से स्वीकार नही करेगा। अत. उन्होंने स्पष्टीकरण के लिए 'मानस' और 'दोहावली' में उसके कुछ सूत्र प्रस्तुत करते हुए, विद्वानों से इस प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की प्रार्थना की। लेख के प्रारम्भ मे उद्धृत दोहा भी इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है :

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

हिन्दू सस्कृति गाय को अमित आदर प्रदान करती है। परन्तु सभी गायों का एक ही रग नही होता है। प्राचीन वाङ्मय में रंगों के आधार पर गायो का वर्गीकरण किया गया है। उन्हें पृथक्-पृथक् नाम भी दिया गया है। विभिन्न वर्ग की गायों के दूध मे भी भेद बताया गया है। श्वेत रग की गाय का नाम 'कपिला' है और काले रग की गाय का नाम 'कृष्णा' अथवा 'श्यामा'। कपिला गाय अत्यन्त पवित्र मानी जाती है। पचगव्य आदि के निर्माण मे बहुधा उसके गोरस का ही प्रयोग होता है। किन्तु श्यामा गाय का दुग्ध अधिक लोकप्रिय है, क्योंकि वह अधिक सुपाच्य माना जाता है। वे सस्कृत भाषा को कपिला और ग्रामीण भापा को श्यामा के रूप मे प्रस्तुत करते है। उनका सकेत यह था कि देवभाषा मे रचित भगवान् राम का चरित्र पूज्य तो है, पर उसे लोकप्रिय बनने तथा अधिक हृदय-ग्राह्य होने के लिए ग्राम्य भापा मे आना होगा।

'दोहावली' रामायण में इसी सत्य को उन्होने दूसरे दृष्टान्त और तर्क के माध्यम से प्रस्तुत किया। वे कहते है कि भाषा तो पात्र के समान है जिसके माध्यम से व्यक्ति रस का पान करता है। इसीलिए भाषा को अधिक महत्त्व न देकर उसमे निहित भावो को ही मुख्य गौरव दिया जाना चाहिए। सस्कृत भाषा मणि-पात्र की तरह है, उसकी तुलना मे ग्राम्य भाषा मिट्टी के वर्तन की भाँति है। पर मणि-पात्र में विष भी तो रखा जा सकता है। क्या सस्कृत मे ऐसी रचनाएँ नही है जो अश्लील और शृ गारिक है? यदि मणि-पात्र में विष रखा हुआ हो, और मिट्टी के वर्तन मे अमृत दिया जा रहा हो, तो व्यक्ति किसे स्वीकार करेगा? :

मणि भाजन विष पारई, पूरन अमिअ निहारु।
का छाँड़िअ का संग्रहिअ, देखु बिबेक बिचारु॥

रामचरितमानस मे देवताओ की आलोचना भी कटु शब्दो मे की गई है। विशेप रूप से ऐसे अवसरो पर, जव वे अपनी दुर्बलताओं के कारण निम्न धरातल पर उतर आते है। ऐसे सन्दर्भो मे गोस्वामीजी देवराज इन्द्र की आलोचना करने मे भी नही चूकते। कही वे उसे 'श्वान' के सदृश बताते है तो कही 'काक' के समान :

लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥

× ×

काक समान पाकरिपु प्रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥

रामचरितमानस के अनुसार देवता ही वंदर वनकर भगवान् श्रीराम की सेवा मे उपस्थित होते है। किन्तु उनकी कुरूपता मे भी गोस्वामीजी को सौंदर्य की अनुभूति होती है। वे उनके चरणो की वन्दना करते हुए उनके लिए 'सुहाए' शव्द का प्रयोग करते है

कपि पति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा ॥
बन्दउँ सबके चरन सुहाए। अधम सरीर राम जिन्ह पाए ॥

देवता यदि वन्दरो का रूप ग्रहण कर श्रीराम के अधिक समीप पहुच सकते हैं, तो देवभापा को भी ग्राम्य भाषा का रूप ग्रहण कर रामकथा के प्रचार और प्रसार का कार्य करना चाहिए। तुलसी की ग्राम्य भापा सचमुच देवभापा का ही नवीन स्वरूप है। इसीलिए रामकथा की जन-प्रियता मे भी वह अधिक सहायक वनी।

॥ श्रीराम· शरण मम ॥

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

अर्थ—कीर्ति, काव्य और ऐश्वर्य तो वही श्रेष्ठ है जिससे गगा के समान हित हो।

गगा देवताओ की नदी है। उपर्युक्त पक्ति मे उनका स्मरण 'सुरसरि' के रूप मे किया गया है। पौराणिक मान्यता के अनुकूल देवता अमर है। गंगा स्वर्ग और अमरता की भूमि से नीचे उतरकर मर्त्यलोक को धन्य बनाती है। सुलभता का यह तत्त्व मानस मे पग-पग पर परिलक्षित होता है। सस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा का चुनाव करते हुए उनके अन्तर्मन मे गगा के अवतरण की पृष्ठभूमि रही होगी, यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है। गगा यदि देवनदी थी तो सस्कृत देवभापा। विद्वान् ब्राह्मणो की स्वर्ग-भूमि से राम-कथा का जन-साधारण की भाषा मे अवतरण गगा के इतिहास की पुनरावृत्ति है।

महर्षि वाल्मीकि की महिमामयी कृति रामायण की तुलना देव-मदिर से की जा सकती है। इतिहास और काव्य के सौष्ठव से विरचित यह स्वर्ण-मन्दिर हमे अपनी गरिमा से अभिभूत कर लेता है, किन्तु देवता के मन्दिर की अपनी मर्यादा भी तो है। वहा प्रविष्ट होने के लिए पवित्नता चाहिए। मन्दिर मे जाकर हम देवता के समक्ष श्रद्धा से नत हो जाते है। पर दर्शनार्थी और देवता के वीच एक दूरी वनी रहे, यह स्वाभाविक है। किन्तु गोस्वामीजी की रामकथा पतित-पावनी गगा है :

पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा ॥

यहा वस्त्र, वैभव और वर्ण का प्रश्न ही नही उठता ; यहाँ आराध्य और आराधक के बीच कोई दूरी नही है। गगा हमे नहलाती है, सहलाती है। वह माँ की गोदी है, जहाँ वालक को दुलार और प्यार मिलता है। मानस की व्यापक लोकप्रियता का रहस्य भी यही है।

गगा के प्राकट्य की गाथा मे काव्य के सृजन का रहस्य छिपा हुआ है। वलि की यज्ञशाला मे भगवान् वामन से विराट् बन गए। उनका एक चरण यदि वलि की यज्ञशाला मे था, तो दूसरा ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा। लोक-पितामह ब्रह्मा ने अपने कमडलु के जल मे त्रिविक्रम भगवान् के चरण-नख को धो लिया। कमडलु का यह जल ही गगा का मूल स्वरूप है। कवि भी ब्रह्मा की ही भाँति काव्य-सृष्टि का निर्माता है। उसका अन्त करण कमडलु है, जिसमे प्रतिभा का जल भरा हुआ है। यह प्रतिभा जब विराट् भगवान् का साक्षात्कार करती है और ईश्वर के चरणो मे समर्पित होकर रससिक्त हो जाती है, तव वह सच्ची काव्यरूपी गगा का सृजन करती है। किन्तु जव तक यह काव्य-गगा बुधजनो के ब्रह्मलोक मे रहती है,

तव तक वह सच्चे लोक-मगल का सृजन नही कर सकती। उसे तो साठ हजार अभिशप्त सगर-पुत्रो की भाँति कोटि-कोटि जनो के उद्धार के लिए नीचे उतरना होगा। देवलोक से मृत्युलोक तक वन्दनीया काव्य-गगा ही तुलसी की कविता का आदर्श है। इसीलिए वे राम-कथा को वुध और जन तक सुलभ वना सके

वुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-विभंजनि॥

कविता की तुलना गगा से करते हुए, कीर्ति और ऐश्वर्य को भी उससे सम्वद्ध कर दिया गया है। न केवल कविता, अपितु कीर्ति और ऐश्वर्य को भी सुरसरि के सदृश होना चाहिए। व्यक्ति और समाज के जीवन की समग्रता के लिए कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य का सगम अपेक्षित है। अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म—इन तीनो ही स्तरो पर सफल होकर व्यक्ति और समाज को पूर्णता प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे अर्थ ही सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम है। मनुष्य की पहली आवश्यकता है: भोजन, वस्त्र और जीवनोपयोगी सामग्री। इनके अभाव मे अधिदैव और अध्यात्म की उच्चकोटि की चर्चा भी निर्दय उपहास-मात्र है। तुलसीदास ने दरिद्रता और अभाव के जिस जीवन को जिया था, उसे जीवन-भर कभी नही भूल पाए। इसीलिए उन्होने दरिद्रता को सवसे वडा दु ख वताया .

नहिं दरिद्र सम दुख जग माही। सन्त-मिलन सम सुख जग नाहीं॥

उन्हे वे दिन भी याद थे, जव भूख से व्याकुल लोगो के द्वार पर वे विलखते थे और भिक्षा मे प्राप्त होने वाले चार चने के दाने ही चार फलों के समान प्रतीत होते थे। इसीलिए वे लोक-पूज्य वनकर भी दरिद्रता की पीडा को मिटाने के लिए सर्वदा सचेष्ट रहे। दरिद्रता से अभिशप्त जनता के लिए ऐश्वर्य-गंगा का अवतरण होना ही चाहिए और उसके अवतरण मे वलि की यज्ञशाला की पृष्ठभूमि प्रत्येक ऐश्वर्यवान् के अन्त करण मे होनी चाहिए।

दैत्यराज वलि ने समग्र विश्व के वैभव पर अधिकार करने के पश्चात् वितरण के लिए यज्ञ की प्रक्रिया का आश्रय लिया। मुक्त हस्त से वे धन का वितरण कर रहे थे। चारो ओर महाराज वलि की जय-ध्वनि गूँज रही थी। जय-ध्वनि की गूँज के आरोह-प्रत्यारोह से वलि के अंत करण मे दान के सात्त्विक अंहकार का भाव जाग्रत् होना स्वाभाविक था। उन्ही क्षणो मे, यज्ञशाला के द्वार से, भगवान् ने वामन के रूप मे प्रवेश किया। विराट् का यह वामन-रूप वलि के अन्तर्मन को ही प्रतिविवित कर रहा था। प्रत्येक दाता सम्भवत स्वय को विराट् और भिक्षुक को वौने के रूप मे ही देखता है।

वलि उदार है, वह वामन का स्वागत करता है, और भिक्षुक से मॉगने का आग्रह करता है। भिक्षुक वलि के इस दावे पर मुस्करा पडा कि वह जो कुछ माँगेगा उसे दिया जाएगा, और उसने सिर्फ तीन पग भूमि की याचना की। वलि को लगा कि यह कितनी क्षुद्र माँग है, जो उस जैसे सम्राट् से की जा रही है। दो पग वाला तीन पग दे भी कैसे सकता था ? सहस्रपाद या अनन्तपाद तो एकमात्र

ईश्वर ही है। वही यह दावा कर सकता है कि जीव चाहे जो माँग ले। यहाँ यह दावा जब जीव कर बैठा तो भगवान् वामन से विराट् बना और जीव को अपनी क्षुद्रता का ज्ञान हुआ। उसका अहकार प्रभु के चरणो मे अर्पित हुआ। गगा के प्राकट्य की वेला भी यही थी।

ऐश्वर्य वितरण के लिए है और उसे बाँटने मे सार्थकता भी तभी है जब दाता स्वय गर्व से फूल न उठे। क्योंकि दाता का अहंकार दीन को क्षुद्र सिद्ध कर देता है। देने की सार्थकता तो उसी समय समाप्त हो जाती है, जब ग्रहण करने वाला आत्मग्लानि के बोझ से दब जाय। यज्ञ की सार्थकता तभी है जब दाता को ऐसा प्रतीत हो कि ईश्वर स्वयं याचक बनकर अपनी ही वस्तु माँगने के लिए आया है। तब वह देने के अभिमान के स्थान पर विराट् के चरणों की भक्ति पा लेता है।

कीर्ति की आकांक्षा किस व्यक्ति मे नही होती। शास्त्रो ने त्रिविध ऐषणाओं (तीन प्रकार की इच्छाओ) का वर्णन किया है वे है वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैपणा। लोकैपणा ही कीर्ति की आकांक्षा का दूसरा नाम है। पुत्रैपणा और वित्तैषणा की अपेक्षा लोकैपणा का स्थान अधिक ऊँचा है। पुत्र और धन की इच्छा से प्रेरित होकर व्यक्ति असत् कर्म भी कर सकता है; किन्तु कीर्ति की उपलब्धि के लिए व्यक्ति को सत्कर्म का ही आश्रय लेना पडता है। इसीलिए उत्तरकाण्ड मे इस सूक्ति का प्रयोग किया गया है·

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई॥

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। यश की आकाक्षा यदि अहंकार से प्रेरित हो, और आत्म-विज्ञापन ही उसका उद्देश्य हो, तो ऐसा सत्कर्म व्यक्ति मे दम्भ की सृष्टि भी कर सकता है। उसका पुण्य केवल दिखावे मात्र के लिए ही होगा। इतना ही नही, दूसरे यशस्वी व्यक्तियों के प्रति उसके अन्त.करण मे ईर्ष्या का उदय भी स्वाभाविक है। भूतकाल से लेकर अब तक का इतिहास इस प्रकार के अनगिनत दृष्टान्तों से भरा है। इसलिए कीर्ति को भी गगा के समान सर्वहित की भावना से प्रेरित होना चाहिए। त्रिशंकु और भगीरथ की कथा के माध्यम से इसे भली प्रकार हृदयगम किया जा सकता है। दोनों ही सूर्य-वश की परम्परा के दो जग-मगाते हुए रत्न थे। दोनो पुण्यात्मा थे और दोनो के द्वारा दो नदियो का प्राकट्य हुआ। एक का नाम है 'गंगा' तो दूसरी 'कर्मनाशा' के नाम से पुकारी जाती है। पौराणिक मान्यता यह है कि गगा-स्नान से समस्त पाप नष्ट हो जाते है। इसके प्रतिकूल कर्मनाशा पुण्यनाशिनी है। इन दोनो गाथाओं के पीछे जो एक आकांक्षा समान रूप से विद्यमान है, वह है 'स्वर्ग'। दोनों ही स्वर्ग चाहते है, किन्तु भगीरथ का उद्देश्य जहाँ महर्षि कपिल के शाप से दग्ध अपने साठ हजार पूर्वजो का उद्धार का था, वहां त्रिशकु स्वय को सशरीर स्वर्ग मे पहुँचाना चाहता था। वह न केवल स्वर्ग जाना चाहता था, अपितु उस परम्परा को भी समाप्त कर देना चाहता था जिसमे शरीर छोड़कर ही स्वर्ग में जाया जा सकता था। अहंकार और दम्भ से

प्रेरित त्रिशंकु का पुण्य उसे पतन से नही बचा पाता है। इससे बडा व्यंग्य क्या हो सकता था कि स्वर्ग मे सशरीर प्रविष्ट होते हुए त्रिशकु को देवताओं ने ही नीचे की ओर धकेल दिया। पाप से पतन की बात बहुधा कही जाती है, किन्तु पुण्य द्वारा पतन की यह गाथा व्यक्ति को सतत सावधान रहने की प्रेरणा देती है। कीर्ति के लिए किया जाने वाला सत्कर्म अधिदैव के द्वारा समर्थित होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि यश के लिए किये जाने वाले सत्कर्म के पीछे भगीरथ-जैसी भव्य भावना विद्यमान हो—जिस कीर्ति-गगा मे स्नान कर, अपकीर्ति के अभिशाप से युक्त व्यक्ति भी अपने मुख की कालिख धो सके।

काव्य भी यदि कवि-कल्पना का विलास-मात्र हो, तो उसकी सार्थकता बहुत थोडी है। गगा, बुध और जन, दोनो को धन्य बनाती हुई समुद्र की ओर अबाध गति से बढती जाती है, और अन्त मे उसमे विलीन होकर अपने पृथक् व्यक्तित्व और अस्तित्व को खो देती है

त्रिबिधि ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिंधु समुहानी॥

काव्य-गगा स्वरूप-सिंधु मे समाकर अध्यात्म-तत्त्व की पूर्णता की संवाहिका बन जाती है। काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नही है, वह आत्मतत्त्व या भगवत्तत्त्व की उपलब्धि का महान् साधन भी है। इस प्रकार तुलसी ने कीर्ति, काव्य और ऐश्वर्य को एक ही परिभाषा मे आबद्ध करके एक ऐसे पूर्ण समाज की कल्पना की जो आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण हो और यह तभी सम्भव है जब गगा के आदर्श को आत्मसात् कर लिया जाए।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

अर्थ—मैं श्रीभरत के चरणों की वन्दना करता हूँ। उन श्रीभरत के नेम और व्रत का वर्णन नही किया जा सकता है जिनका मन श्रीराम के चरण-कमलो मे सदा लोभी भ्रमर की भाँति अटका रहता है।

प्रस्तुत पंक्ति मे श्रीभरत की वन्दना उनके चरित्र के कुछ मूल सूत्रो को प्रस्तुत करती है। श्रीभरत का व्यक्तित्व रामचरितमानस मे सर्वोत्कृष्ट है, यदि ऐसा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। स्वय गोस्वामीजी श्रीभरत को ही अपना पथ-प्रदर्शक मानते है। उन्होने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि यदि श्रीभरत का जन्म न हुआ होता तो सारे समाज की हानि तो थी ही, किन्तु उनका तो समग्र जीवन ही व्यर्थ चला जाता। श्रीभरत का आश्रय लेकर ही वे श्रीराम के सम्मुख पहुँच पाते है :

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दम्भ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सन्मुख करत को॥

श्रीभरत के व्यक्तित्व में सबसे अधिक लोक-मगल का जो तत्त्व विद्यमान है, वह सिद्धि के साथ-साथ साधन की समग्रता का मूर्तिमान् सत्य है। मानस मे अनेक पात्र है जिनके चरित्र मे सिद्धि की समग्रता विद्यमान है। किन्तु साधना की आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके लिए प्रेरणा उन चरित्रो से प्राप्त नही होती है। श्रीभरत के व्यक्तित्व मे साधन और सिद्धि का जो अद्भुत तत्त्व है, उसे गोस्वामीजी ने उपर्युक्त इन दोनो पक्तियो मे व्यक्त किया है।

बहुधा यह कहा जाता है कि जहाँ पर प्रेम होता है, वहाँ पर नेम नही होता :

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, जहाँ नेम नहिं प्रेम।

किन्तु यदि नेम के अभाव को ही प्रेम के रूप मे स्वीकार कर लिया जाए, तब स्वाभाविक रूप से यह आशका है कि प्रत्येक उच्छृंखल व्यक्ति, स्वय को प्रेम-पथ का पथिक मानकर, मर्यादा और नियम के परित्याग मे गौरव का अनुभव करेगा। श्रीलक्ष्मणजी के जीवन मे धर्म की स्वीकृति नही है, श्रीराघवेन्द्र के द्वारा उपदेश दिये जाने पर भी वे स्पष्ट शब्दो में यह कह देते है :

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥

किन्तु यह वाक्य तो ऐसे लोगों के लिए भी बहाने का कार्य कर सकता है जो स्वार्थ, अहंकार और वासना के कारण गुरुजनो की अवहेलना करते है, जिनका

उद्देश्य केवल अपनी वासना की तृप्ति-मात्र है। इसलिए श्रीलक्ष्मण का प्रेम उत्कृष्ट होते हुए भी साधारण व्यक्ति के लिए अनुगमन करने योग्य नही है।

श्रीभरत के व्यक्तित्व मे प्रेम और नेम दोनो का एक साथ निर्वाह है। वन्दना की प्रथम पक्ति मे नेम की ओर सकेत किया गया है, तो द्वितीय पक्ति में उनके उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन किया गया है। वस्तुत. नेम और प्रेम का यह विरोध एक सीमा तक यथार्थ ही है। नियम मुख्यत. शरीर तथा व्यवस्था को लेकर होता है, एव प्रेम हृदय की वस्तु है। नियम मे जिस यान्त्रिकता का उदय होता है, वह प्रीति की प्रकृति के विपरीत है। ठीक इसी प्रकार जहाँ पर प्रेम मे हृद्‌रस का उदय होता है, वहाँ व्यक्ति की बुद्धि उस रस मे डूबकर सर्वथा अपने-आपको खो देती है। ऐसी परिस्थिति मे यदि व्यक्ति से नियम की विस्मृति हो जाए, तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। किन्तु इसे एक भिन्न रूप मे श्रीभरत ने समन्वित कर दिखलाया। नियम का उद्देश्य वहुधा किसी लौकिक स्वार्थ अथवा स्वर्गादि सुखो की उपलब्धि होता है। जव व्यक्ति नियम के द्वारा भौतिक अथवा पारमार्थिक वस्तुओ को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हो, तव वह प्रेम-पथ का पथिक नही हो सकता। प्रेम तो केवल शुद्ध समर्पण है। वस्तुत श्रीभरत के जीवन-दर्शन को गोस्वामीजी ने इस पंक्ति मे व्यक्त किया है

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

"मुझे तो ऐसा जान पडता है कि श्रीभरत के लिए श्रीराम-प्रेम ही साध्य है, और राम-प्रेम ही साधन है।" श्रीभरत अपने जीवन मे जव किसी नियम को स्वीकार करते है, तो वह नियम उनकी अपनी किसी आकाक्षा की पूर्ति के लिए नही होता, यद्यपि भरत कर्मकाण्ड के प्रत्येक विधि-विधान का पालन करते है। ननिहाल मे दु.स्वप्न देखने के पश्चात् वे भगवान् शकर के अभिपेक व वेदपाठ और दान के द्वारा उसका उपशमन करने की प्रार्थना करते है :

शिव अभिषेक करहिं विधि नाना। विप्र जिवाँइ देहिं दिन दाना॥

किन्तु इस पूजा-पाठ का उद्देश्य अपने किसी व्यक्तिगत अहकार की सिद्धि अथवा कामना की पूर्ति न होकर एकमात्र श्रीराम की कुशलता की ही कामना है :

माँगहिं हृदय महेश मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

इसका तात्पर्य भी यही है कि श्रीभरत का नियम स्वय प्रेम का पूरक है। वे जव नियम का पालन करते है तो भी उनका उद्देश्य वस्तुत पाना न होकर देना ही होता है।

यही सकेत श्रीभरत के चरित्र मे पग-पग पर प्राप्त होता है। यदि श्रीभरत राज्य को अस्वीकार कर देते तो सम्भवत. यह प्रेम के लिए किया जाने वाला उनका सर्वोत्कृष्ट त्याग माना जाता। किन्तु श्रीभरत ग्रहण और त्याग के मध्य मे जिस एक भिन्न मार्ग को स्वीकार करते है, उसमे ग्रहण की आसक्ति और त्याग का अहकार दोनो ही नही है। श्रीभरत राज्य-सत्ता का स्वामित्व स्वीकार नही करते, किन्तु इतना होते हुए भी वे विवेकपूर्वक अयोध्या के राज्य को चलाते है और अयोध्या के राज्य का यह सचालन राजनीति के संयोग से धर्म-नीति द्वारा ही

किया जा रहा था—और यह संचालन भी अयोध्या के राज्य को अपनी नही, अपितु प्रभु की थाती मानकर उनकी सेवा के रूप मे किया जा रहा था :

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राज काज बहु भाँति ॥

इस प्रकार भरत-चरित मे विवेक और प्रेम के समन्वय का तत्त्व हृदयंगम करने के लिए ये पक्तियाँ बड़ी उपयोगी है :

सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जग जोनी ॥
भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला ॥

× ×

कुसमय जानि सनेह सँभारा। बढ़त बिंध्य जिमि घटज निवारा ॥

पुराणों मे विंध्य और अगस्त के उपाख्यान को इस रूप मे प्रस्तुत किया गया है। सूर्य के द्वारा सुमेरु पर्वत की परिक्रमा होते देखकर, विंध्यगिरि के अन्त करण मे भी यह आकाक्षा जाग्रत् हुई है कि सूर्य के द्वारा मेरी भी परिक्रमा की जाय। विंध्य के इस आगह को सूर्य ने स्वीकार नही किया। क्रुद्ध विंध्यगिरि सूर्य का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए आकाश की ओर वढने लगा। लोगो को लगा कि इस अवरोध से विश्व सूर्य के प्रकाश से वंचित हो जायेगा। इस सकट से त्राण पाने के लिए वे महर्पि अगस्त का आश्रय लेते है। अगस्त विंध्यगिरि के समक्ष आये, उन्हे देखकर पर्वत ने साष्टांग प्रणाम किया एव जिज्ञासा प्रकट की कि मैं क्या सेवा करूँ। अगस्त ने आदेश दिया कि जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम इसी तरह भूमि पर पड़े रहो। विंध्य ने इस आदेश का पालन किया।

श्रीभरत के स्नेह की तुलना गोस्वामीजी विंध्यगिरि से करते है। देवताओ के अन्तःकरण मे यह भय समा गया कि यदि श्रीभरत के स्नेह की विशालता देखकर प्रभु आगे की यात्रा से रुक गए, तब इसके परिणामस्वरूप रावण की मृत्यु नही होगी। विश्व अंधकारग्रस्त हो जाएगा। उस विंध्याचल के लिए अगस्त का आश्रय लिया गया था, किन्तु विश्व में खोजकर भी वे इस विंध्याचल के लिए नवीन अगस्त नही ढूँढ़ पाए। तभी एक अद्भुत घटना सामने आई। स्वयं श्रीभरत का विवेक अगस्त वनकर स्नेह के समक्ष आ खड़ा हुआ। श्रीभरत के स्नेह के समक्ष प्रभु ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। उन्होने स्पष्ट शव्दो मे घोषणा कर दी :

भरत कहहिं सोई किए भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई।

श्रीभरत के कहने पर राघवेन्द्र लौटने के लिए वाध्य हो जाते है। किन्तु श्री भरत का विवेक इतना प्रवुद्ध है कि वे स्नेह के कारण प्रभु के कर्त्तव्य-पथ को अवरुद्ध करना उचित नही मानते। यह विवेक भी तो स्नेह का ही एक अंग है, क्योकि प्रेम मे प्रिय के सुख की भावना ही प्रमुख होती है।

श्री भरत के व्यक्तित्व मे धर्म, विवेक, प्रेम सभी सद्गुणो का समन्वय दिखाई देता है। किन्तु अन्तरग मे वैठकर देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के जीवन मे प्रेम ही अनेक नामो से प्रकट हो रहा है। जव वे धर्म का पालन करते हैं,

तब उसका उद्देश्य भी एकमात्र प्रभु की प्रसन्नता है। उनके प्रभु का अवतरण धर्म की रक्षा के लिए होता है :

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥

अत अन्य लोग धर्म के द्वारा यदि कीर्ति, सुगति अथवा ऐश्वर्य चाहते हैं, तो भरत इसे प्रभु के अवतार के उद्देश्य की पूर्ति के रूप मे करते है। विवेक के द्वारा व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता है, किन्तु श्री भरत का विवेक मुक्ति की अभिलापा से प्रेरित नही होता .

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरवान।
जनम जनम रति राम-पद, वह वरदान न आन॥

श्री भरत के विवेक का उद्देश्य भी प्रभु के कार्य मे सहयोग देना ही है। स्वय मुक्ति न चाहकर भी दूसरो की मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना प्रभु-प्रेम का ही परिचायक है।

दूसरी पक्ति मे श्री भरत को भ्रमर के रूप मे चित्रित करते हुए गोस्वामीजी एक अनोखे पद का प्रयोग करते है। और वह पद है . "श्रीभरत का मन लोभी भौरे के समान प्रभु के चरण-कमलो का परित्याग नही करता है।" वस्तुत ससार मे जिस भौरे को देखने के हम अभ्यस्त हैं, वह अनन्य हो ही नही सकता। उसमे रस की पिपासा है। रस की प्यास से प्रेरित होकर वह एक कमल के पास जाता है और वहा से रस लेकर दूसरे कमल के पास जाने मे उसे जरा भी सकोच का अनुभव नही होता। इसलिए भ्रमर वस्तुत' रसिक या भोगी व्यक्ति का प्रतीक है, अनुरागी का नही। किन्तु श्रीभरत को भ्रमर वताकर गोस्वामीजी ने यहाँ पर भी एक अद्भुतत्व का परिचय दिया है।

गोस्वामीजी ऐसे भ्रमर की कल्पना करते है जो भोगी के स्थान पर लोभी है। इसका तात्पर्य यह है कि लोभी व्यक्ति जैसे धन के सग्रह मे सलग्न रहता है, वैसे श्रीभरत, भोगी भ्रमर न होकर, उस लोभी भ्रमर की भाँति हैं जो अधिकाधिक धन पाकर जीवन मे कभी सतुष्ट नही होता। श्रीभरत श्रीराघवेन्द्र के चरण-कमलो मे निरन्तर रहते है, किन्तु वहाँ पर कुछ पाने की आकाक्षा उनमे नही है। वे तो निरन्तर श्रीराम के चरणो के सान्निध्य में ही सुख का अनुभव करते है। इसलिए इन दोनों ही पक्तियो मे श्रीभरत के व्यक्तित्व के इन दोनो पक्षो की ओर सकेत किया गया। एक ओर वे नियम और व्रतों का पालन करने वाले प्रेमी हैं, तो दूसरी ओर श्रीराम के अनन्य चरणानुरागी होते हुए भी उनके अन्तर्जीवन मे उन चरणो को सुखी वनाने की भावना है, उन चरणो से सुख प्राप्त करने की नही इसीलिए गोस्वामीजी ने अयोध्याकाण्ड मे श्रीभरत के लिए जो वाक्य कहा है, वह सर्वथा सार्थक है

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहु निहारे॥

बंदउँ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता।।
रघुपति कीरति बिमल पताका। दण्ड समान भयउ जस जाका।।
सेस सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।।
सदा सो सानुकूल रहु मो पर। कृपासिन्धु सौमित्रि गुनाकर।।

अर्थ—मै उन श्रीलक्ष्मण के चरण-कमलो की वन्दना करता हूँ जो शीतल है, सुन्दर है तथा भक्तो को सुख देने वाले है। भगवान् राम की निर्मल कीर्ति-पताका के लिए श्रीलक्ष्मण का यश दड के समान है। जो शेष है, सहस्रशीर्ष है और सृष्टि के मूल कारण है, जिनका अवतार पृथ्वी का भार हरण करने के लिए हुआ है—वे कृपा के समुद्र सुमित्रानन्दन लक्ष्मण सर्वदा मेरे अनुकूल रहे।

श्रीलक्ष्मणजी की वन्दना भगवान् राम के निकटस्थ भक्तो से सर्वथा भिन्न रूप मे प्रस्तुत की गई है। जहाँ अन्य भक्तो की वन्दना करते हुए केवल उनके सद्-गुणों की ओर सकेत किया गया है, वहाँ श्रीलक्ष्मणजी की वन्दना विस्तार से करते हुए गोस्वामीजी ने उनके—आधिदैविक और आध्यात्मिक—दोनों रूपो की ओर इगित करना आवश्यक समझा है।

परम्परा से हटकर की गई यह वन्दना विशेष उद्देश्य से ही की गई होगी, इसे असदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत. उनका व्यक्तित्व लोक-दृष्टि मे विवादास्पद रहा है। श्रीभरत की महानता को स्वीकार करने मे जहाँ मानस के किसी भी अध्येता को कभी आपत्ति नही होती है, वही श्रीलक्ष्मण को लेकर लोगो की परस्पर-विरोधी धारणाएँ हमारे समक्ष आती है।

यह धारणा, जो श्रीलक्ष्मणजी के विषय मे बहुमत से स्वीकृत है, वह है उनके उग्र स्वभाव का दर्शन। वे अत्यन्त शीघ्रता से क्रुद्ध हो उठते है, और उस समय उन्हे औचित्य-अनौचित्य का रंचमात्र विचार नही रह जाता। ऐसी मान्यता अनेक लोगो की है। श्रीलक्ष्मणजी के विषय मे इस बहु-विज्ञापित धारणा से गोस्वामीजी सहमत नही है, यह वन्दना की पक्तियो से स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। वे जहाँ उनकी वन्दना करते हुए उनके सद्गुणों का उल्लेख करते है, वहाँ उन्होने गुणो मे शीतल शब्द को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। वन्दना का प्रथम शब्द ही शीतल है। वस्तुत. यह एक अद्भुत विरोधाभास-सा प्रतीत होता है कि उग्र स्वभाव वाले श्रीलक्ष्मण के लिए गोस्वामीजी ने शीतल शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त माना। और यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वे इस शब्द के द्वारा पाठक और श्रोता को चौकाना चाहते है कि वह जिस बहिरग दृष्टि से लक्ष्मणजी के चरित्र की समीक्षा करता रहा है वह वास्तविक नही है। बाहर से क्षुब्ध और क्रुद्ध प्रतीत होते हुए भी लक्ष्मण अपने स्वभाव मे स्वय अत्यन्त शीतल है। उनकी उग्रता आवेशजन्य

नही है। वह तो उस शान्त चित्त अभिनेता की भाँति है जो रगमंच पर क्रोध की भूमिका प्रस्तुत करता हुआ भी अन्तर्मन मे पूरी तरह सन्तुलित होता है। उन्होंने क्रोध की जो भूमिका रामचरितमानस मे प्रस्तुत की, उसे इसी दृष्टि से स्वीकार किया जाना चाहिए। क्योकि लोक-कल्याण के लिए केवल शान्ति और सौमनस्य ही अपेक्षित नही है, अपितु उसके लिए एक सन्तुलन की भी आवश्यकता है।

भगवान् राम के शील के साथ लक्ष्मण की तेजस्विता इसी सन्तुलन को हमारे समक्ष उपस्थित करती है। जव तक सृष्टि में विविधता विद्यमान है, तव तक उसको नियन्त्रित करने के लिए कोमलता के साथ-साथ कठोरता की अपेक्षा होगी ही। ऐसी स्थिति मे यदि कोई व्यक्ति शील और सौजन्य की सराहना तो करे, किन्तु कठोरता के कलक को वरण करने से भागे, तव इसका एकमात्र परिणाम यही हो सकता है कि वह व्यक्तिगत रूप मे समाज से विशेप सम्मान प्राप्त करे, पर उसका वह व्यक्तिगत सम्मान लोक-मगल का विघातक होगा।

सतोगुण और रजोगुण की प्रवृत्तियो मे एक मुख्य पार्थक्य यही है कि जहाँ सतोगुण व्यक्ति को अन्तर्मुखता की ओर प्रेरित करता है, वहाँ रजोगुण व्यक्ति को वाहर की ओर ले जाता है। सतोगुण यदि विचार की प्रेरणा देता है तो रजोगुण कर्म की। ऐसी स्थिति मे विचार स्वभावत. व्यक्ति को शान्ति और सन्तोप प्रदान करता है, किन्तु केवल सत्त्वगुण, व्यक्ति को अन्तर्मुखी वनाकर, ऐसी स्थिति मे ले जा सकता है जव उसका सतोगुण पलायनवाद का पर्यायवाची वन जाए। इस दृष्टि से लोक-मगल के लिए सत्त्वगुण के साथ-साथ रजोगुण का उचित सन्तुलन अत्यन्त आवश्यक है। सत्त्वगुण की यह प्रवृत्तिप्रारम्भ मे भगवान् शकर के चरित्र मे परिलक्षित होती है। जब वे समाधि मे निमग्न होकर आत्मसुख का रसास्वादन करते है, उस समय उनकी अन्तर्मुखता का नाम लेता हुआ तारकासुर सृष्टि को अपने वश मे कर लेता है, और तव ब्रह्मा काम से अनुरोध करते हैं कि वह शिव के अन्त करण मे क्षोभ उत्पन्न करे

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करइ छोभु संकर मन माहीं॥
तव हम जाइ सिवहि सिर नाई। करवाउव बिबाहु वरिआई॥
एहि बिधि भलेहि देवहित होई। मति अति नीक कहइ सव कोई॥

ब्रह्मा भगवान् शकर के अन्त.करण मे जिस क्षोभ की सृष्टि करना चाहते है, उसे हम सत्त्व के साथ रजोगुण के प्रवेश की आवश्यकता के रूप में कह सकते है। वही होता भी है। जहाँ सत्त्वगुण मे शिव अन्तर्मुख थे, वहाँ काम के द्वारा वाण चलाए जाने पर उनकी दृष्टि वहिर्मुख हो जाती है। भले ही उस प्रथम दृष्टि का दड काम को भोगना पडा हो और शिव ने अपनी क्रोध-भरी दृष्टि से काम को जला दिया हो, किन्तु काम के इस विनाश मे ही निहित एक प्रश्न स्वभावत उनके समक्ष आता है और यही ब्रह्मा का उद्देश्य था। भगवान् शकर काम को दडित करते है, क्योकि वह उनकी आत्मलीनता मे वाधक वनता है। उनकी दृष्टि वाहर की ओर ले आता है। ऐसी स्थिति मे काम को दड देने के लिए जव वे क्रोध को

स्वीकार करते है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्रोध की प्रवृत्ति जो रजोगुण की परिचायक है—और, यदि एक व्यक्ति को आत्म-सुख से वचित करने के अपराध मे काम को दडित किया जा सकता है—विशेष रूप से उस परिस्थिति में, जबकि वह देवताओ का कार्य करने के लिए शिव पर आक्रमण करता है—तब क्या यह अद्भुत विरोधाभास नही होगा कि वह तारकासुर शकर की आत्मलीनता से अमरता का सुख प्राप्त करता हुआ कोटि-कोटि व्यक्तियो को उनके सुख से वचित कर रहा है ? फिर क्या यह उचित न्याय होगा कि एक व्यक्ति को अपराध पर दड दिया जाए और कोटि-कोटि व्यक्तियों को कष्ट देने वाला व्यक्ति अपराध के दड से बचता रहे ? ब्रह्मा का उद्देश्य यही था और शकर की बहिर्मुखता से इस उद्देश्य की पूर्ति हुई। उन्हें जीवन मे काम को स्वीकार करना पडा। पुत्रोत्पत्ति की परम्परा का वे आदर करते है और अन्त मे स्वामिकार्त्तिक के जन्म के साथ तारकासुर का विनाश होता है। देवता अपना खोया हुआ सुख पा लेते है। भगवान् शकर के समान स्वामिकार्त्तिक की मनोवृत्ति नही हो सकती, क्योंकि वे देवताओ के सेनापति है। सेनापतित्व के लिए सत्त्व की नही, अपितु तीव्र रजोगुण की आवश्यकता है, एव यह रजोगुण उनमे विद्यमान था। अत. लोक-मगल के लिए केवल अन्तर्मुखता की ओर ले जाने वाला सतोगुण बाधक बन सकता है।

महर्षि विश्वामित्र जब श्रीराम को लेने के लिए अयोध्या जाते है, तब उन्हे यह आवश्यक जान पडा कि केवल श्रीराम को ही लेकर वनस्थली की ओर न जाएँ। उन्होने महाराज श्रीदशरथ से अनुरोध करते हुए कहा .

अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥

विश्वामित्र की इस याचना के पीछे क्या उद्देश्य था ? क्या स्वय श्रीराम मे यह सामर्थ्य नही थी कि वे अकेले सारे राक्षसों का सहार कर पाते ? समस्त सृष्टि का भृकुटि-विलासमात्र से संहार करने वाला ईश्वर क्या इतना दुर्बल था कि उसकी सहायता के लिए किसी व्यक्ति की अपेक्षा थी ? अथवा महर्षि यदि अधिक लोगो को ले जाना चाहते थे, तो क्या यह उपयुक्त न होता कि वे श्रीराम के साथ श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न को भी ले जाते ? किन्तु उन्होने अन्य भाइयों को नही मॉगा, अपितु प्रभु के साथ श्रीलक्ष्मण को ले जाना ही मुनि को उपयुक्त जान पड़ा।

श्रीलक्ष्मण के चरित्र मे दिखाई देने वाली कठोरता को स्पष्ट करने के लिए ही गोस्वामीजी दड और पताका का दृष्टान्त देते है। श्रीराघवेन्द्र की कीर्ति निर्मल पताका के सदृश है, तथा श्रीलक्ष्मण का यश उसमे दड की भॉति सुशोभित हो रहा है। इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति जब भी रजोगुणी होता है, तब उसमे कठोरता का होना स्वाभाविक है। किन्तु यह रजोगुण सत्त्वगुण से भी अधिक उदात्त हो जाता है, जब वह किसी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर, किसी आदर्श की सम्पूर्ति मे, स्वय को समर्पित करता है। जहाँ प्रत्येक रजोगुणी व्यक्ति स्वयं अपने-आपको ऊपर उठाने की चेष्टा करता है, वहाँ श्रीलक्ष्मणजी अपने

क्रिया-कलापो व विचारो से एकमात्र श्रीराघवेन्द्र के यश को ही ऊपर उठाना चाहते है। और इस प्रकार का रजोगुण या इस प्रकार की कठोरता जहाँ वह स्वय अपनी लोकैषणा से पृथक् होकर, भगवान् के प्रति अर्पित हो जाती है, तब वह रजोगुण व्यक्ति को वस्तुत न केवल सत्त्वगुण तक, अपितु जिसे हम त्रिगुणातीत स्थिति कहते है, उस तक पहुँचा देता है। जहाँ पर व्यक्ति के अन्त करण मे यश की लिप्सा समाप्त हो चुकी है, जहाँ आदर्श की रक्षा एव दूसरे के चरित्र को ऊपर उठाने के लिए व्यक्ति बडे-से-बडा कलंक लेने के लिए प्रस्तुत है, ऐसे समर्पित व्यक्तित्व की तुलना किसी अन्य से करना कठिन है। श्रीलक्ष्मणजी का व्यक्तित्व ठीक इसी प्रकार का है। उन्होने लोक-दृष्टि से कभी यशस्वी होने की चेष्टा नही की, उनकी एकमात्र अभिलाषा यही रही कि लोग उनके राम को जानें, उनके प्रति प्रणत हो, एव उनके भक्त बने। आदि से अन्त तक श्री लक्ष्मणजी के चरित्र की समीक्षा करने पर, पग-पग पर, इसी सत्य का दर्शन होता है।

इस दृष्टान्त के साथ-साथ गोस्वामीजी एक भिन्न रूप भी प्रस्तुत करते हैं। उसके लिए उन्होने श्रीलक्ष्मण के आधिदैविक रूप की ओर सकेत किया है। वे शेष है, सहस्रशीर्ष है एव सृष्टि के मूल कारण हैं और उनका अवतरण पृथ्वी का भार हरण करने के लिए हुआ है, गोस्वामीजी उन श्रीलक्ष्मण की अनुकूलता चाहते है। इस आधिदैविक स्वरूप मे ही लक्ष्मणजी की भूमिका को स्पष्ट करने का सूत्र उपलब्ध हो जाता है।

'शेष' है क्या ? शेष की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। साधारणतया शेष शब्द का अर्थ है "बचा हुआ।" इस अर्थ मे यह जिज्ञासा स्वाभाविक होती है कि किससे बचा हुआ ? इस सम्बन्ध मे कुछ आचार्यो का मत है कि वस्तुत भगवान् के प्रति नैवेद्य अर्पित होने के पश्चात् जो हमे उपलब्ध होता है, वह ईश्वर का अवशिष्ट प्रसाद है। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर ही समर्पण को स्वीकार कर लेने वाला है और जीव उसके प्रसाद के रूप मे बचा हुआ 'शेष' है। इसे यों भी कह सकते है कि जिस व्यक्ति का जीवन स्वय अपने लिए है, वहाँ पर अवशिष्टता का प्रश्न नही है, किन्तु जब भगवान् के प्रति किसी वस्तु का अर्पण किया जाता है तब उसकी विलक्षणता यही है कि देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्पित किया हुआ नैवेद्य जितना था, उतना ही है, उसमे से एक कण भी लिया हुआ प्रतीत नही होता है। वस्तुत अर्पित की गई वस्तु से अधिकार की भावना को ही भगवान् स्वीकार कर लेते है। क्योकि जब कोई व्यक्ति ईश्वर के समक्ष किसी वस्तु को अर्पित करता है, तब वह वस्तु उसकी होती है, किंतु अर्पण के पश्चात् वह व्यक्ति की वस्तु न होकर प्रभु का प्रसाद है जिसे उन्होंने अवशिष्ट रूप मे छोडा है। अत यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यद्यपि देखने मे नैवेद्य के समान ही प्रतीत होता हुआ प्रसाद के रूप मे परिवर्तित होकर वह प्रत्येक व्यक्ति के हाथो मे पहुच जाता है, उस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नही रहता। ठीक इसी प्रकार भगवान् के प्रति समर्पण का तात्पर्य केवल इतना ही नही है कि व्यक्ति ईश्वर का भजन छोड-

कर अन्य कोई कार्य न करे, अपितु इसका अर्थ है कि ज्यों ही व्यक्ति का कर्तृत्व-अहकार भगवान् के प्रति अर्पित हो जाता है, त्यो ही वह व्यक्ति केवल अवशिष्ट प्रसाद के रूप मे ग्राह्य होता है, वह परम पुनीत होता है और उसमे अहंकार एवं भोक्तापन का सर्वथा अभाव होता है। श्रीलक्ष्मणजी का व्यक्तित्व भी वस्तुत. शेष का व्यक्तित्व है, क्योकि वे पूरी तरह ईश्वर के प्रति अर्पित है। रामचरितमानस मे सुमित्रा अम्बा द्वारा श्रीलक्ष्मण को दिए गए उपदेश से इसी भावना की पुष्टि होती है। माँ ने उनके द्वारा वन जाने की आज्ञा माँगने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा.

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही ।।

भावार्थ—इस समर्पण के बाद भी यद्यपि श्रीलक्ष्मण सुमित्रा अम्बा के ही पुत्र माने जाते है, किन्तु न तो सुमित्रा अम्बा मे अधिकार की वह भावना है, एवं न तो श्रीलक्ष्मण ही सुमित्रा अम्बा के प्रति उस सस्कार से प्रेरित है जिसे लोक मे व्यवहार का आधार स्वीकार किया जाता है। श्रीलक्ष्मणजी का व्यक्तित्व स्वयं अपने लिए नही है—वह तो प्रसाद की भाँति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को सन्तोष प्रदान करता है।

शेष शब्द का दूसरा तात्पर्य है · कटने के बाद बचा हुआ; इस शेष का अनु-भव हमे गणित मे होता है। जब विद्यार्थी गणित मे भाग देता हुआ ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है कि वह अक इतना छोटा हो जाता है कि उसे काटा नही जा सकता। वस्तुत. शेष का तात्पर्य है · सब-कुछ काटने के पश्चात् बचा हुआ। इसे यो भी कह सकते है कि सृष्टि मे निरन्तर काल के द्वारा भाग दिया जा रहा है। काल के भाग की समेट मे अनगिनत व्यक्ति समाप्त होते चले जा रहे है। किन्तु सब-कुछ मिट जाने के पश्चात् भी जो वस्तु नही मिटती वह वस्तुतः शेष है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा जिस सृष्टि का विस्तार होता है, उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। जब विनाश की वेला आती है उस समय भी जो अवशिष्ट रहता है, हम उसी के रूप मे शेष को जानते है। श्रीलक्ष्मण वस्तुत शेष के ही अवतार है। इसका तात्पर्य यह है कि वह कालतत्त्व, जो सबके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी बचा रह जाता है, वही श्रीलक्ष्मण के रूप मे घनीभूत हो रहा है।

वस्तुत उपर्युक्त पक्ति मे सृष्टि की तीनो ही प्रक्रियाओ से श्रीलक्ष्मण को सम्बद्ध किया गया है। सृष्टि का उद्भव, स्थिति और सहार—यही उसका क्रम है। इस पक्ति मे 'जगकारन' कहकर श्रीलक्ष्मण को सृष्टि के प्रादुर्भाव से सम्बद्ध किया गया। दूसरी ओर वे शेष के रूप मे पृथ्वी को सिर पर धारण करते हुए ससार के समस्त प्राणियो का सरक्षण करते है, इसलिए वे पालन की प्रक्रिया में सलग्न है; किन्तु वे ही अन्त मे सृष्टि के सहारक के रूप मे भी हमारे समक्ष आते है ·

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारि दस आसू ।।

ऐसा कहकर भगवान् शकर ने श्रीलक्ष्मणजी के इस काल-रूप का परिचय दिया। वस्तुत 'सहस्रशीर्ष' के रूप मे उनके कालत्व की ओर ही इगित किया गया है। सर्प काल का प्रतीक है ·

"काल-व्याल-कराल भूषणधरं गंगा-शशांक-प्रियम् ।"

× ×

काल व्याल कर भच्छक जोई । सपनेहुँ समर कि जीतिअ सोई ॥

वहुधा लोगो ने काल पर विजय प्राप्त करने के अनगिनत प्रयास किए है, किन्तु क्या काल-सर्प पर विजय प्राप्त करना सम्भव है ? इसकी असम्भाव्यता की ओर इगित करने के लिए ही शेप के हजार सिरो का वर्णन किया गया । एक मुख वाले सर्प पर विजय प्राप्त करना सम्भव हो सकता है, पर जो काल हजारो रूपों मे सहार करने की क्षमता रखता है, व्यक्ति उस काल से वच नही सकता । श्री-लक्ष्मणजी की यह भूमिका सहार की भूमिका है ।

किन्तु वे केवल सहारक ही नही है, रामचरितमानस मे, सृष्टि के उद्भव के हेतु के रूप मे वर्णित तीन पात्रो मे एक है । वे पात्र है—श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मण—एव भगवान् राम को—"जेह **सृष्टि उपाई**, त्रिविध वनाई, सग सहाय न दूजा" कहकर सृष्टि का मूल हेतु वताया गया है ।

वही भगवान् श्रीराम मनु के समक्ष प्रकट होने पर श्रीसीताजी का परिचय देते हुए उन्हे सृष्टि का आदिकारण वताते है ·

आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥

और प्रस्तुत पक्ति मे गोस्वामीजी श्रीलक्ष्मण को भी 'जग-कारण' के रूप मे प्रस्तुत करते है ।

वहिरग दृष्टि से इनमे विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत इसके द्वारा मानसकार की सृष्टि-सम्वन्धी मान्यता प्रकट हो जाती है । सृष्टि का सृजन कैसे होता है ? उसके निर्माण की क्या प्रक्रिया है ? इन प्रश्नो के समाधान के लिए हमे पुराणो के उन दृष्टान्तो पर ध्यान देना होगा जिनमे कि सृष्टि की सृजन-प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है । उनमे वताया गया है कि जव सृष्टि मे कुछ भी नही था, चारो ओर अनन्त जलराशि लहरा रही थी, तव उसके मध्य मे शेष-शय्या पर भगवान् शयन कर रहे थे । अर्थात्, सृष्टि के समाप्त हो जाने पर भी ईश्वर और काल दोनो विद्यमान रहते है । लक्ष्मी भगवान् की शक्ति है । रात्रि मे सोता हुआ व्यक्ति शक्ति और काल से ही स्वय को सम्वद्ध पाता है । रात्रि मे व्यक्ति के द्वारा भले ही क्रिया-कलाप होते हुए न दिखाई दे कितु उस समय भी व्यक्ति की कर्तृत्व-शक्तियाँ उस व्यक्ति के साथ उसके अन्तर्मन मे होती है और सोते समय व्यक्ति जव यह सोचकर सोता है कि प्रात काल चार वजे मेरी नीद खुल जाए, तो ठीक चार वजे उठना इसका प्रमाण है । यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति के सो जाने पर निरन्तर उसके सग रहने वाला काल उसे समय पर चैतन्य करा देता है । अतः यह कह सकते है कि निद्रा के माध्यम से प्रलय का एक सक्षिप्त रूप हृदयगम किया जा सकता है । जैसे निद्रा मे किसी वस्तु का भान शेप नही रह जाता, उसी प्रकार से प्रलय-काल मे भी व्यक्ति समस्त प्रपच से दूर चला जाता है । फिर भी वह पलग पर सोता हुआ निश्चिन्त भाव से आनन्द का अनुभव करता है; क्योकि भले

ही उसे सृष्टि का दर्शन न हो रहा हो, किन्तु उसकी अन्तर्निहित शक्ति उसमे विद्यमान होती है। वह निश्चित काल का सकल्प लेकर शयन करता है, उसे विश्वास है कि काल उचित समय पर उसका उद्‌बोधन करेगा । इसी प्रकार जैसे कि निद्रा की स्थिति मे व्यक्ति के साथ, शक्ति और काल, ये दो तत्त्व विद्यमान रहते है, उसी प्रकार प्रलय-काल मे भी जब एकमात्र अकेला ब्रह्म होता है, तब उसकी सृजन-शक्ति, उसकी महाशक्ति श्रीलक्ष्मी और साक्षात् काल-स्वरूप अनन्त भगवान् शेष विद्यमान रहते है ।

किसी भी वस्तु की रचना की प्रक्रिया मे शक्ति और काल का ही महत्त्व है। माता के गर्भ मे भ्रूण को स्थान देने की क्षमता ईश्वर की शक्ति के द्वारा ही प्राप्त हुई है। यह ईश्वर की अद्‌भुत क्षमता का एक प्रमाण है जो स्त्री के गर्भ के रूप मे, उसके उदर मे, अन्तर्निहित होता है, किन्तु गर्भस्थ शिशु के विकास की प्रक्रिया काल के द्वारा सम्पादित होती है । ईश्वर किसी चमत्कार के माध्यम से सृष्टि का सृजन नही करता । वह सृष्टि की प्रक्रिया के एक क्रम का पालन ही करता है। इसीलिए बालक गर्भस्थ होने पर क्रमश विकसित होता है और मातृ-गर्भ मे नौ अथवा दस मास रहने के पश्चात्, काल-प्रक्रिया से प्रेरित होकर, उसका अवतरण होता है। इस प्रकार यह काल निरन्तर विद्यमान रहता है। जब व्यक्ति समस्त क्रिया-कलापो से मुक्त प्रलय की स्थिति मे होता है, तब भी यह काल सर्वथा विद्यमान रहता है। अत. यह स्वाभाविक है कि भगवान् के शयन करने पर भी शेष के रूप मे लक्ष्मण निरन्तर चैतन्य रहते है । इस तरह वे काल के रूप मे सृष्टि के जन्मदाता है। क्योकि सृष्टि के धारण की प्रक्रिया भी तो काल पर स्थित है। वे सहस्रशीर्प शेष के रूप मे पृथ्वी को अपने सिर पर धारण करते हुए रक्षक की प्रक्रिया का पालन भी करते है। किन्तु सृष्टि मे जितनी वस्तुएँ दिखाई देती है, वे कभी भी अविनाशी नही हो सकती है । वे कभी-न-कभी विनाश की दिशा मे जाती है एव वह क्रिया जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, उसका भी मूल हेतु काल ही है। अत. श्रीलक्ष्मणजी के व्यक्तित्व मे जो विरोधाभास दिखाई देता है, वह उनके द्वारा सृष्टि के सृजन, पालन और सहार की परस्पर-विरोधी विलक्षण परिस्थितियों की ओर इंगित करने वाला है। मानस मे भयावह प्रतीत होने वाले श्रीलक्ष्मण की मार्मिक अभिव्यंजना यह है कि वस्तुत: काल का भयावना प्रतीत होना आश्चर्य-जनक नही है। किन्तु काल की यह प्रकृति गोस्वामीजी की भक्ति-साधना मे सहा-यक है, क्योकि काल जब व्यक्ति के अन्त करण मे भय की सृष्टि करता है तब उसे मृत्यु की स्मृति आती है। मानो उससे व्यक्ति को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि उसका यह जीवन मात्र भोगो के लिए न होकर किसी उद्देश्य-विशेप के लिए अर्पित है। वह विपय-वासना और भोगो मे पडकर उस उद्देश्य से विचलित हो चुका है। इसीलिए लकाकाण्ड के प्रारम्भ मे तुलसीदासजी अपने मन को भयभीत करते है कि—"मन, तू श्रीराम की कोमलता सुनते-सुनते निश्चिन्त होकर मनमानी न करने लग जा । याद रख, यह सारी सृष्टि उनकी ही इच्छा के द्वारा सचालित

होती है। यदि तूने जानबूझकर उनकी अवहेलना की, तो उनके काल-कोदंड के द्वारा तेरा सहार हो जाएगा" :

लव निमेष परमानु जुग, बरस कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, कालु जासु कोदंड॥

वे काल की स्मृति करते है। वह काल यद्यपि भयावह है किन्तु काल का यह भय व्यक्ति को ईश्वर की दिशा मे प्रेरित करता है। श्रीलक्ष्मणजी की भूमिका भी रामचरितमानस मे इसी रूप मे दिखाई देती है। एक ओर जहाँ वे लोगो से श्रीराम को मिलाते है, वही पर सुग्रीव-जैसे पात्र श्रीराम को भूलकर विषय-वासना मे डूब जाते है। तब भगवान् राम श्रीलक्ष्मण से कहते है ·

जेहि सायक मारा मै बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

प्रभु की इस बात को सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उनसे अनुरोध करते है कि इस कार्य को सम्पन्न करने की आज्ञा उन्हे प्रदान की जाय। किन्तु भगवान् श्रीराम उनको उनकी भूमिका का स्मरण दिलाते हुए कहते है कि सुग्रीव को केवल भयभीत करके शरण मे लाने की आवश्यकता है और यह कार्य तुम्हारे द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए

तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुणा सींव।
भय देखाइ लै आवहू, तात सखा सुग्रीव॥

और श्रीलक्ष्मण अपनी इस भूमिका का निर्वाह बडी उत्तम रीति से करते है। यदि श्रीलक्ष्मण के चरित्र मे कठोरता का दर्शन होता है तो यह सर्वथा उनकी भूमिका के अनुरूप है। सर्प अथवा काल व्यक्ति के अन्त करण मे भय की सृष्टि करते है, किन्तु उनके भय की सृष्टि मे भी पवित्र उद्देश्य निहित है। जब वे किसी व्यक्ति को मृत्यु-भय से आतंकित करते है, तब उनका तात्पर्य यही होता है कि व्यक्ति यदि भय से मुक्त होना चाहता है तो उसका कर्त्तव्य है कि वह श्रीराघवेन्द्र का आश्रय ग्रहण करे। इस प्रकार प्रस्तुत पक्तियों मे गोस्वामीजी श्रीलक्ष्मणजी के व्यक्तित्व के विरोधाभासो पर समान ध्यान देने के लिए ही उनके आधिदैविक रूप का उल्लेख करते है। अन्य पात्रो के जीवन मे इस प्रकार का विरोधाभास न होने के कारण ही वे उनके आधिदैविक रूपो का परिचय देने की आवश्यकता अनुभव नही करते, वे उनकी वन्दना करते हुए अन्त मे उनसे अनुरोध करते है

सदा सो सानुकूल रहु मो पर। कृपासिन्धु सौमित्रि गुनाकर॥

इसमे उनके लिए 'कृपासिन्धु' शब्द का प्रयोग किया गया है, मानो श्रीलक्ष्मण कृपा के समुद्र है। मूल मे यही भाव है कि समुद्र को देखकर भय की अनुभूति होती है, किन्तु वह अपने अन्तराल मे अनगिनत रत्नो को छिपाए हुए है। ठीक इसी प्रकार कृपामय श्रीलक्ष्मण देखने मे भयानक प्रतीत होते हुए भी अपने अन्तर्मन मे करुणा के अनगिनत भावो को स्थापित किए हुए है और उन रत्नो के द्वारा व्यक्ति अपने अन्त.करण के दैन्य तथा दरिद्रता का निवारण कर सकता है।

इसीलिए विशेप रूप से गोस्वामीजी श्रीलक्ष्मणजी से इस प्रार्थना के द्वारा अनुरोध करते है कि वे सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मण सदा जीव के अनुकूल रहे।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

रिपु सूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥

अर्थ—मै उन श्रीशत्रुघ्नजी के चरण-कमलों में नमन करता हूँ जो सूर, सुशील एव श्रीभरत के अनुगामी है।

शत्रुघ्नजी की यह संक्षिप्त वदना, अल्प शब्दो मे होते हुए भी अत्यधिक गम्भीर अर्थो से पूर्ण है। शत्रुसूदन या रिपुसूदन के रूप मे इनका नामकरण अनोखा-सा प्रतीत होता है। 'शत्रुघ्न' शब्द का अर्थ 'शत्रु को विनष्ट करने वाला' है।

रामचरितमानस मे श्रीराम और लक्ष्मण ने अनेक महान् युद्ध किये और उन पर विजय प्राप्त की, उनके द्वारा अनेक योद्धाओं का संहार हुआ और श्रीभरत यद्यपि कभी युद्धक्षेत्र मे शस्त्र चलाते हुए दृष्टिगोचर नही होते, किन्तु फिर भी उनकी वीरता का एक ही चित्र यथेष्ट है कि क्षीणकाय श्रीभरत ने विना फल के एक ही बाण द्वारा श्रीहनुमान-जैसे महान् योद्धा को आकाश से पृथ्वी पर गिरा दिया·

परेउ मुरुछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक ॥

अत· शत्रुघ्न नाम की सार्थकता यदि किन्ही पात्रो मे हो सकती थी तो वे पात्र थे श्रीराम, श्रीलक्ष्मण अथवा श्रीभरत। किन्तु यह कैसा अद्भुत व्यग जान पडता है कि जिन श्रीशत्रुघ्न ने जीवन मे कभी युद्ध नही किया, उन्हे ही शत्रुघ्न नाम दिया गया। सवसे छोटे राजकुमार का शत्रुघ्न नाम रखते हुए गुरु वसिष्ठ ने इस नाम की व्याख्या इन शब्दो मे की है

जाके सुमिरन ते रिपुनासा। नाम शत्रुहन वेद प्रकासा ॥

जिसके स्मरण मात्र से ही शत्रुओ का नाश होता है, वे वेद-प्रकासित श्रीशत्रुघ्न है।

गोस्वामीजी ने 'रामाज्ञा-प्रश्न' मे भी श्रीशत्रुघ्न की वदना को इसी रूप मे प्रस्तुत किया है :

सुमिरि शत्रुसूदन चरन, सरन सुमंगल मानि ।
पर पुर बाद बिबाद जय, जूझ जुआ जय जानि ॥

रामचरितमानस की दृष्टि मे "शत्रु केवल वाहर ही नही है, वास्तविक शत्रु तो व्यक्ति के अन्त करण मे है।" अत. सच्चा वीर वह है कि जो उन शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेता है·

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर ।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर ॥

इस परिभाषा की कसौटी पर श्रीशत्रुघ्न का स्थान भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण अथवा श्रीभरत की अपेक्षा ऊँचा है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगी।

यद्यपि सभी आन्तरिक शत्रु बड़े प्रबल है, पर इनमे से भी सर्वाधिक भयावह शत्रु अहकार है। शत्रुघ्न ने इस महान् शत्रु को सच्चे अर्थों में परास्त किया। व्यक्ति का अहंकार स्वय अपने-आपको लोगों के समक्ष लाने के लिए सर्वदा उत्सुक रहता है, अहकारी व्यक्ति निरन्तर प्रशसा का भूखा और आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति से प्रेरित होता है, पर शत्रुघ्न ने कभी स्वयं को आगे लाने की चेष्टा नही की।

तुलसी-साहित्य मे शत्रुघ्न के चरित्र मे सघर्ष का एक ही चित्र उपलब्ध होता है। श्रीभरत के साथ ननिहाल से लौटकर आने पर जब मथरा वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित होकर दोनो भ्राताओं के समक्ष आती है, उस समय शत्रुघ्न क्रुद्ध होकर मथरा पर प्रहार करते है '

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन विभूषन विविध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥

बहिरग दृष्टि से शत्रुघ्न के इस कार्य को वीरतासूचक नही माना जा सकता है; किन्तु इस प्रसग को यदि व्यापक रूप से आध्यात्मिक अर्थो मे ग्रहण करें तो यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रतीत होगी। भगवान् राम के चरित्र मे जिन तीन नारी-पात्रो के द्वारा विरोधी भूमिका सम्पन्न की जाती है, वे है ताडका, मथरा और शूर्पणखा। विश्वामित्र के साथ प्रथम यात्रा मे ताडका ही सबसे पहले सामने आती है

चले जात मुनि दीन्ह देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥

प्रभु की वन-यात्रा मे मुख्य भूमिका मथरा की ही है। लका के विरुद्ध भगवान् राम के सघर्ष मे शूर्पणखा निमित्त बनती है। आध्यात्मिक अर्थो मे ताड़का, मथरा और शूर्पणखा क्रमश क्रोध, लोभ और काम की वृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती है। ताडका का सहार स्वय भगवान् राम करते हैं। शूर्पणखा का विरूपीकरण लक्ष्मण के द्वारा सम्पन्न होता है एव मथरा को दडित करने का भार शत्रुघ्न पर आता है। ताडका और शूर्पणखा अयोध्या से भिन्न राष्ट्रों की निवासिनी थीं। किन्तु मथरा अयोध्या में ही निवास कर रही थी। बहिरग दुर्वृत्तियो पर जहाँ श्रीराघवेन्द्र और श्रीलक्ष्मण ने प्रहार किया, वहाँ आन्तरिक दुर्वृत्ति को दडित करने के लिए शत्रुघ्न का चुनाव किया गया। आन्तरिक शत्रुओं के विजेता शत्रुघ्न को यह भार सौपा जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर इन वृत्तियो का स्वरूप भी ऐसा ही प्रतीत होता है। काम और क्रोध की वृत्तियाँ व्यक्ति के अन्तर्मन मे सतत निवास नही करती। काम का आकर्षण जीवन मे आता और चला जाता है। क्रोध का आवेग भी चिरस्थायी नही होता। काम और क्रोध दोनो मे ही आवेश के पश्चात् उतार आता है, किन्तु अन्तर्मन मे निवास करने वाली लोभ की वृत्ति सतत बढती ही जाती है। इस दृष्टि से भी शत्रुघ्न की भूमिका सर्वोत्कृष्ट है।

सुमित्रा अम्बा के दोनो पुत्रो मे से यदि एक ने भगवान् का अनुगमन किया तो दूसरे ने सत का। सत का गौरव भगवान् मे भी अधिक है :

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥

संत स्वय कभी आत्म-विज्ञापन नही करता, वह तो पवन के रूप मे भगवद्-गुण का सौरभ ही सर्वत्र बिखेरता है। श्रीभरत कभी लोक-दृष्टि मे नही आना चाहते थे, वे तो मूक भावना से प्रभु के प्रति समर्पित थे। किन्तु प्रभु ने उन्हे बोलने के लिए बाध्य किया। उन क्षणों मे श्रीभरत को उस समय की स्मृति आई जब वे संकोच के मारे प्रभु के समक्ष मुख भी नही खोल पाते थे :

महुँ सनेह सकोचबस, सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पिआसे नैन ॥

किन्तु उनके शब्दो मे, "मेरी आर्तता और आपके स्नेह ने मुझे ढीठ बना दिया है। तभी तो आज आपके समक्ष बोलने के लिए खड़ा हो गया हू" :

आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहु मिलि ढीठ कीन्ह हठि मोहू ॥

किन्तु सतानुगामी शत्रुघ्न का मौन कभी नही टूटा। यह उनके चरित्र की गरिमा का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना ॥

अर्थ—उन महावीर श्रीहनुमान की मै वदना करता हूँ जिनके यश का वर्णन भगवान् श्रीराम ने स्वय अपने श्रीमुख से किया है।

उपर्युक्त पक्तियो मे भक्तशिरोमणि श्रीहनुमानजी के गौरवपूर्ण गुणो का यत्किंचित् वर्णन किया गया है। 'महावीर' शब्द विशेषण के रूप मे अनेक पात्रों के साथ प्रयुक्त होता है। किन्तु यदि विशेषण से पृथक् कर केवल महावीर शब्द का प्रयोग किया जाए, तो उसका एकमात्र तात्पर्य होता है 'श्रीहनुमान'। महावीर शब्द अन्य लोगो के लिए विशेषण है, किन्तु श्रीहनुमानजी के चरित्र मे मात्र विशेषण ही नही, अपितु वह उनके अनेक नामो मे से एक नाम है। यह विलक्षण गौरव श्रीहनुमानजी को ही क्यो प्राप्त है, जब इस पर विचार करते है, तो कारण स्पष्ट हो जाता है।

कहने को तो वीरता के अनेक मापदण्ड है, किन्तु उन समस्त मापदण्डो पर यदि कोई एक व्यक्ति खरा उतरता है तो वे एकमात्र श्रीहनुमान हैं। जहाँ तक वाह्य शारीरिक वीरता का सम्बन्ध है, श्रीहनुमान सर्वथा अतुलनीय योद्धा हैं। इसीलिए सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ मे गोस्वामीजी उनके लिए 'अतुलितवलधामम्' शब्द का प्रयोग करते है। वे अकेले ही लका के समस्त राक्षसो का सहार करने की क्षमता रखते हैं। समुद्र के तट पर उन्होने स्वयं ही जामवत के समक्ष यह मत व्यक्त करते हुए कहा है -

सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥

उक्त कथन श्रीहनुमानजी की केवल गर्वोक्ति ही नही है, अपितु उनके यथार्थ वल का भी परिचायक है। अकेले उस लका मे प्रविष्ट होना, जिसकी सुरक्षा का इतना दृढ प्रवन्ध था कि एक मच्छर भी विना अनुमति के लका मे प्रविष्ट नही हो सकता था, जहाँ पर "करि जतन भट कोटिन्ह विकट तनु नगर चहुँदिस रच्छहीं" के रूप मे प्रतिक्षण कोटि-कोटि राक्षस अस्त्र-शस्त्रसहित सन्नद्ध थे, वहाँ श्रीहनुमान-जी लका का न केवल बहिरग दर्शन करते हैं, अपितु लका के प्रत्येक घर मे प्रविष्ट होकर वहाँ का सारा रहस्य भी जान लेते हैं। अशोक-वाटिका मे उन्होंने (श्री हनुमानजी ने) जब माँ से फल खाने की आज्ञा माँगी थी तव उनका उद्देश्य एक-मात्र क्षुधानिवारण ही नही था, वस्तुत वे तो उन गर्वीले राक्षसो के वल को चुनौती देना चाहते थे जो रावण के सेवको के रूप मे वाटिका मे सन्नद्ध थे। उस समय श्रीहनुमान से लडने के लिए जितने योद्धा आये, हनुमानजी के द्वारा उनका यथोचित सम्मान हुआ, और रावण का पुत्र अक्षयकुमार तो इसी सघर्ष मे मारा भी जाता है। उनके इस अद्वितीय पराक्रम की धाक को स्वय रावण ने भी

स्वीकार किया, क्योंकि श्रीहनुमान के पराक्रम को उसने स्वय अपनी दृष्टि से देखा था।

लका का अप्रतिम योद्धा मेघनाद भी श्रीहनुमान के समक्ष अपने आपको पराजित अनुभव करता है :

बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना ॥

इस प्रकार अतुलनीय पराक्रमी राक्षसों के बल को घर्षित करते हुए श्रीहनुमान-जी का अकेले लंका मे प्रविष्ट होना एव वाटिका-ध्वंस के पश्चात् स्वर्णमयी लंका का दहन करना अद्वितीय पराक्रम का परिचायक है।

किन्तु श्रीरामचरितमानस की दृष्टि मे वीरता की परिभाषा केवल शारीरिक बल ही नही है। वीरता की दूसरी परिभाषा करते हुए स्वय भगवान् श्री राम ने अरण्यकाण्ड मे श्रीलक्ष्मण से कहा है·

तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥

× ×

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि ॥
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहिं बिचारि ॥

× ×

एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥

यद्यपि काम, क्रोध और लोभ तीनों ही प्रचण्ड शत्रु है, किन्तु उनमे भी काम सर्वाधिक शक्तिशाली है। काम का परम बल नारी है। भगवान् श्रीराम ने कहा, "काम की शक्ति पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, मेरी दृष्टि मे सच्चा शूर वही है।" इस दृष्टि से हनुमानजी का चरित्र सर्वथा अप्रतिम है। बालब्रह्मचारी श्रीहनुमान के जीवन मे कभी भी काम-वृत्ति का उदय हुआ ही नही। उनके काम-विजय की सर्वोत्कृष्ट कसौटी थी, रात्रि मे लका का दर्शन। उस समय लंका के प्रत्येक घर मे विलासिता का वातावरण व्याप्त था। सुन्दरियाँ नग्न होकर यत्र-तत्र पड़ी हुई थी। चारो ओर सुरा की उत्कट गध से वातावरण परिव्याप्त था। किन्तु उस दृश्य को देखकर भी उनका मन क्षण-भर के लिए भी विचलित नही हुआ। उक्त प्रसग आजनेय के अविचलित मन का ज्वलन्त दृष्टान्त है। इतिहास मे अनेक ऐसे व्यक्ति हुए है, जिनका चरित्र सयम-ब्रह्मचर्य से भरा हुआ था, किंतु अश्लील दृश्यो ने उनके मन को विकृत बना दिया। पुराणों मे सौभरि ऋषि का दृष्टान्त आता है, जो तपस्या मे सलग्न होते हुए भी केवल मछलियों की काम-क्रीडा को देखकर वासना से आक्रान्त हो जाते है और राजकन्याओं को प्राप्त करने के लिए उन्हे अनेक रूप धारण करने पड़ते है।

किन्तु श्रीहनुमान ही एक ऐसे व्यक्ति है जिनके व्यक्तित्व मे वासना का कही लेशमात्र भी नही है। इस दृष्टि से भी पवन-तनय के लिए 'महावीर' शब्द सर्वथा सार्थक है।

वीर की तीसरी परिभाषा भगवान् राम ने विभीषण से करते हुए कहा है :

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर ।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर ॥

यह ससार-शत्रु ही सर्वथा अजेय है। और जिस व्यक्ति के पास धर्म-रथ होता है, वही व्यक्ति इन शत्रुओ को परास्त कर वीरता की सच्ची उपाधि प्राप्त करता है। हनुमानजी के चरित्र मे धर्म-रथ का सागोपाग निर्वाह हुआ है। वस्तुतः उनमे यह धर्म-रथ पूरी तरह विद्यमान है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥

उनके भव्य शौर्य का दर्शन समुद्र के किनारे तब होता है जब वे पर्वताकार हो जाते है .

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वतकारा ॥
कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहि लाँघउँ जलनिधि खारा ॥
सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥

उस समय उनकी शौर्य-भरी वाणी सारे वानरो के अन्तःकरण की निराशा को दूर कर देती है। किन्तु इस शौर्य के साथ-साथ श्रीहनुमान का धैर्य भी अप्रतिम है। क्योकि रावण के विनाश का सामर्थ्य होते हुए भी उन्होने धैर्यपूर्वक जाम्बवान् मे अनुमति माँगी :

जामवन्त मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावन दीजेहु मोही ॥

इसका तात्पर्य है कि शौर्य की उत्तेजना मे भी पवन-तनय धैर्य नही खोते है :

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥

उनके जीवन मे सत्य और शील का भी अद्भुत समन्वय है। रावण से वार्तालाप करते हुए उन्होने जिस भाषा का प्रयोग किया, वह न केवल सत्य है अपितु उससे उनके शील का भी परिचय प्राप्त होता है। रावण से वार्तालाप करते हुए उन्होने यही कहा :

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥

× ×

खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ तें तोरेउँ रूखा ॥
सबके देह परम प्रिय स्वामी।

इन पक्तियो मे रावण को 'स्वामी' और 'प्रभु' कहना तथा हाथ जोड़कर उससे प्रार्थना करना उनकी भय-रहित नम्रता का ही परिचायक है। वस्तुत. रावण स्वय भी उनके इस व्यवहार से प्रभावित हुआ था। यद्यपि वह किसी अन्य व्यक्ति की सराहना नही करता है, किन्तु श्री हनुमानजी की सराहना वह रामचरित-मानस के दो प्रसगो मे करता है। एक ओर वह अगद के समक्ष भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवान्, नल, नील और स्वय अंगद आदि सभी की आलोचना करता है और दूसरी ओर वह नि सकोच होकर यह कहता है :

है कपि एक महा बल सीला ।

× ×

आवा प्रथम नगर जेहि जारा ।।

गोस्वामीजी ने कहा है कि कीर्ति की सार्थकता तो तभी है कि जब शत्रु भी अपनी शत्रुता भूलकर उसकी सराहना करे :

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करइ बखान ।।

आंजनेय उन्ही महानतम पात्रो मे से है जिनकी प्रशसा करने मे स्वयं शत्रु भी मुखर हो उठता है । लका के रणागण मे पवनतनय और रावण का मुष्टि-युद्ध हुआ । उसमे हनुमानजी के मुष्टि-प्रहार से रावण मूच्छित हो जाता है । मूर्च्छा दूर होते ही वह श्रीहनुमानजी की प्रशंसा करने लगता है :

मुरछा गै बहोरि सो जागा । कपि-बल बिपुल सराहन लागा ।।

उक्त पक्ति मे उनके प्रति रावण की औदार्य वृत्ति का दर्शन होता है । किंतु वह वस्तुत रावण के चरित्र की विशेपता न होकर हनुमानजी के शील का ही परिणाम है । उन्होने रावण के समक्ष जितने भी उपदेश दिये, उसमे उनका उद्देश्य यही था कि रावण का किसी प्रकार कल्याण हो । एक ओर यदि अगद ने रावण से शरणागति का अनुरोध किया तो दूसरी ओर हनुमानजी भी रावण को शरणागति का उपदेश देते है । किन्तु अंगद की भाषा जहाँ रावण को केवल नीचा दिखाने की भावना से भरी हुई है, वहाँ पवनतनय की भाषा मे रावण को अपमानित करने की वृत्ति नही है ।

अंगद ने सीधे कहा .

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी । परिजन सहित संग निज नारी ।।
सादर जनक सुता करि आगे । एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ।।

किन्तु हनुमानजी ने शीलयुक्त वाणी में अनुरोध करते हुए कहा :

राम चरन पंकज उर धरहू । लंका अचल राज तुम्ह करहू ।।

अंगद जहाँ पर रावण को अपराधी के रूप मे श्रीराम के समक्ष चलने के लिए कहते है, वहाँ श्रीहनुमान केवल श्रीराम के चरणो को हृदय मे स्मरण करने के लिए कहकर रावण को अपमानित करने से वचाते है । इस प्रकार उनकी वाणी में सत्य और शील का भी समन्वय है

बल बिबेक दम पर-हित घोरे ।

वल तो श्रीहनुमान का ऐसा महान् है कि उनके लिए 'अतुलित-वल-धामम्' शब्द कहा ही जाता है, पर उस वल के साथ-साथ वे विवेक का भी कभी परित्याग नही करते । जो व्यक्ति उन्हे देखता है उसे यही लगता है .

राम-काज सब करिहहू, तुम्ह बल-बुद्धि-निधान ।

× ×

देखि वुद्धि-बल-निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु ।

श्रीहनुमान के जीवन-रूपी रथ मे वल और विवेक के अश्व विद्यमान है। इन्द्रिय-दमन के रूप मे वे पूर्ण ब्रह्मचारी एव विपयों से सर्वथा विरक्त हैं। पर-हित तो उनके चरित्र मे कूट-कूटकर भरा हुआ है। सुग्रीव और विभीपण को भगवान् से मिलाकर उन्होने दोनो को ही राजा वना दिया

तुम्ह उपकार सुग्रीवहि कीन्हा। राम मिलाय राजपद दीन्हा॥

\+ ×

तुम्हारो मन्त्र विभीपण माना। लंकेस्वर भये सव जग जाना॥

× ×

क्षमा कृपा समता रजु जोरे।

वे परम क्षमाशील भी हैं। यद्यपि श्रीहनुमान ने राक्षसियों के द्वारा श्रीसीता को सताए जाते देखा था और यदि वे चाहते तो लंका-विजय के पश्चात् इन राक्ष-सियो को दण्ड भी दिलवा सकते थे, किन्तु उनकी यह धारणा कि ये राक्षसियाँ तो रावण के द्वारा प्रेरित थी, उनके औदार्य की ही परिचायक है।

उनकी कृपालुता की पराकाष्ठा रावण की सभा मे दिखाई देती है, जहाँ वे उसके (रावण के) वन्दी वनकर आते है और रावण के द्वारा अपमानित किए जाने पर कृपा करके वे मानो अपने ही कर्म का उचित निर्वाह करते है। उन्हे लगा कि गुरु का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के कल्याण की चेष्टा करे। रावण को एक वार शिष्य स्वीकार कर लेने के वाद उसकी सभा मे खडे होकर हनुमानजी द्वारा कथा सुनाना उनकी कृपा का ही परिचायक है।

आजनेय की समता के भी अनेक दृष्टान्त है। उन्हे न केवल श्रीराम के शरीर-विग्रह मे ही, अपितु ससार मे सर्वत्र ही भगवान् श्रीराम का दर्शन होता है। इसीलिए चन्द्रमा की कालिमा मे भी वे प्रभु का साक्षात्कार करते हैं:

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति विधु उर वसति, सोइ स्यामता अभास॥

ईश्वर की जैसी सेवा श्रीहनुमानजी ने की, वह सर्वथा अद्वितीय है। राम-चरितमानस के अन्तिम भाग मे गोस्वामीजी ने कहा है.

हनूमान सम नहि वड़ भागी। नहि कोउ राम-चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। वार-वार प्रभु निज मुख गाई॥

× ×

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने वस करि राखेउ रामू॥

हरि-भजन के लिए उनके चरित्र मे किसी एक प्रसंग का दृष्टान्त देना उचित नही है.

विरति चर्म संतोष कृपाना।

श्रीहनुमान को 'विनयपत्रिका' मे मूर्तिमान् वैराग्य वताया गया है

प्रवल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय दुष्ट वन दहनमिव धूमकेतू।

लका की ओर जाते श्रीहनुमानजी से स्वर्ण-पर्वत मैनाक ने विश्राम के लिए

कहा, किन्तु सोने का पर्वत भी उनका मार्ग नही रोक पाता है। यह उनके वैराग्य की पराकाष्ठा है। वे विभीषण और सुग्रीव को राज्य दिलाकर भी स्वय राज्य की कामना नही करते, अपितु वे तो प्रभु की सेवा से ही सन्तुष्ट है। यह उनकी संतोष-वृत्ति का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है .

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।

सुग्रीव का खोया हुआ राज्य हनुमानजी की कृपा से ही प्राप्त होता है। हनुमानजी स्वय राज्य नही लेते, वे तो राज्य का दान सर्वदा दूसरो को ही देते रहते है, किन्तु स्वय भी जो उनसे मिलता है उसे अभय-दान देकर, भक्ति-दान के द्वारा दान की अद्वितीय भावना को अभिव्यक्त करते है।

श्रीहनुमान की बुद्धि निरन्तर जागरूक रहती है। वे विचार किये विना एक क्षण के लिए भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होते

मन महँ तरक करैं कपि लागा। तेही समय विभीषण जागा॥

इस प्रकार वहाँ पर बुद्धि-रूपी शक्ति के प्रयोग का भी प्रमाण मिलता है :

बर बिग्यान कठिन कोदंडा।

× ×

बिनु बिग्यान कि समता आवइ॥

विना विज्ञान के समता नही आ सकती है।

इस दृष्टि से उनके जीवन मे समता का अद्वितीय स्वरूप प्रकट होता है। आजनेय की समता केवल भगवान् राम के प्रति ही नहीं है, अपितु वह तो सबके प्रति है। यद्यपि सुग्रीव हर दृष्टि से उनके ऋणी थे, किन्तु विज्ञानी हनुमान जब प्रभु की सेवा करना चाहते है तब वे प्रभु से अनुरोध न कर सुग्रीव के ही चरणों को पकडकर प्रार्थना करते है .

दिन दस करि रघुपति पद-सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥

ऐसी समता विना विज्ञान के आ ही नही सकती।

अमल अचल मन त्रोन समाना।

श्रीहनुमानजी का मन इतना निर्मल है कि प्रभु के हृदय में जो बात आती है, वह उनके हृदय मे स्वय आ जाती है। प्रवर्षण पर्वत पर प्रभु जिस समय श्रीलक्ष्मण को सुग्रीव के अन्त.करण में भय उत्पन्न करने की सम्मति देते हैं, उस समय हनुमानजी किष्किन्धा मे बैठे-बैठे प्रभु के हृदय की बात जान लेते है :

इहाँ पवनसुत हृदयँ विचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥

एवं श्रीलक्ष्मणजी के आने से पूर्व ही वे श्रीसुग्रीव मे भय की सृष्टि कर देते है :

सुनि सुग्रीव परम भय माना।

तथा वे उन्हें वासनामुक्त बना देते है। हनुमानजी के चरित्र मे नाना प्रकार के सत्कर्म-नियमों का पालन बाण के रूप मे विद्यमान है :

कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा।

श्रीहनुमानजी ब्राह्मण और गुरु के कितने वडे सेवक है, इसका दृष्टान्त है कि सूर्य को गुरु मानकर उन्होंने उनसे शिक्षा प्राप्त की। निरन्तर सूर्य के सम्मुख रह करके ही उन्होने ज्ञान प्राप्त किया और सूर्य के पुत्र सुग्रीव की गुरुवत् भाव से सेवा करते रहे। इस धर्म-रथ मे वीरता के जो लक्षण कहे गए है, वे सब श्रीहनुमानजी के चरित्र मे विद्यमान है। इस दृष्टि से श्रीहनुमानजी के लिए 'महावीर' शब्द सर्वदा सार्थक है।

॥ श्रीराम: शरण मम ॥

जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥

अर्थ—मै उन श्रीसीताजी के युगल चरण-कमलो की वन्दना करता हूँ, जो जनक की पुत्री और जगज्जननी है। वे भगवान् श्रीराम को अतिशय प्रिय है और उनकी कृपा से मुझे निर्मल मति प्राप्त होगी।

श्रीसीता की वन्दना के प्रारम्भिक वाक्य मे गोस्वामीजी ने एक अद्भत विरोधाभास का सकेत दिया है। एक ओर उनका परिचय जगज्जननी के रूप मे दिया है, और दूसरी ओर वे श्रीजनक की पुत्री भी है।

वस्तुत तात्त्विक दृष्टि से वे जगज्जननी है, किन्तु लीला-मच पर उन्हे हम जनक की पुत्री के रूप मे पाते है। यही नही, जनक की कन्या के रूप मे उनका प्राकट्य लौकिक रीति से न होकर, शुद्ध लीला-भूमि पर ही है। सत्य तो यह है कि अकस्मात् उपलब्ध महाशक्ति मे जनक अपनी पुत्री का भाव आरोपित करते है, मानो यह तात्त्विक दृष्टि से आद्याशक्ति की सर्वरूपता का परिचायक है कि वे ही माँ और वे ही पुत्री, जो स्वय सृष्टि की कारण और सृष्टि का स्वरूप ग्रहण करने वाली आदिशक्ति है। भगवान् राम ने भी मनु के समक्ष श्रीसीता का परिचय देते हुए उन्हे आदिशक्ति कहकर सम्बोधित किया है

आदिसक्ति **जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥**

वहुधा श्रीसीता के लिए इन तीन शब्दो मे से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। उनका चित्राकन करते हुए कही उन्हे 'शक्ति' और कही 'माया' कहकर सम्बोधित किया गया है। अनेक प्रसगो मे गोस्वामीजी उन्हे 'मूर्तिमती भक्ति' के रूप मे देखते है। वस्तुत 'शक्ति', 'माया' और 'भक्ति' मे भिन्नता की प्रतीति होने पर भी श्रीसीता के तात्त्विक स्वरूप का परिचय देने के लिए इन तीनो शब्दो के प्रयोग की आवश्यकता है।

वे 'माया' हे, किन्तु माया का तात्पर्य क्या है? माया की व्याख्या को लेकर आचार्यो मे मतवैभिन्न्य है। माया का एक तात्पर्य है कि—"जो नही है।" 'या' माने 'जो' और 'मा' का अर्थ है—'नही'। माया की उक्त परिभाषा की पृष्ठभूमि मे देखने पर कह सकते है कि यद्यपि वे श्रीराम से पृथक् प्रतीत होती है, किन्तु वे और श्रीराम सर्वथा एक है। उन दोनो मे भेद की अनुभूति विवेक की भ्राति अथवा भावना की रसानुभूति के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है। यदि श्रीसीता माया के रूप मे पृथक् सत्ता नही है तो उन्हे हम वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न

रूप मे प्रतिपादित कर सकते है।

'माया' शब्द का दूसरा तात्पर्य है, 'इन्द्रजाल'। जब हम कोई जादू का खेल देखते है तब इस जादू मे 'माया' की क्षमता कार्य करती हुई दिखाई देती है। अकेले ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण कैसे किया होगा? मनुष्योचित इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते है कि यही वे आदिशक्ति 'माया' सीता है, जिन्होने सृष्टि का निर्माण किया है·

आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

यहाँ पर 'शक्ति' और 'माया' दोनो शब्दो का प्रयोग बडा ही गम्भीर अर्थ रखने वाला है। सृष्टि मे जब भी किसी व्यक्ति के द्वारा किसी वस्तु का निर्माण होता है, तब निर्माणकर्ता मे निर्माण की क्षमता का होना अवश्यम्भावी है, किन्तु सृष्टि-निर्माण के लिए ईश्वर को 'शक्ति' एव 'माया' दोनो की अपेक्षा थी। लोक मे वस्तु-निर्माणकर्ता को वस्तु के आधार और आधेय दोनो की आवश्यकता अनुभव होती है। कुम्हार को घट-निर्माण मे केवल अपनी कुम्भ-विरचन-कला का ही ज्ञान होना यथेष्ट नही है। शक्ति-समन्वय से शून्य कुम्भकार घडे का निर्माण नही कर सकता, भले ही बडे-से-बडा कलाकार क्यो न हो। कुम्भकार की कला, मृत्तिका एव चक्र का समन्वित रूप है घट, या वह कुम्भकार की कला का मूर्त रूप है। किन्तु ईश्वर जब शक्ति के द्वारा सृष्टि का निर्माण करता है तब प्रश्न यह होता है कि सृष्टि के निर्माण की सामग्री पहले थी अथवा नही? और यदि सृष्टि के निर्माण की सामग्री थी तो उस सामग्री का निर्माता कौन था? इसी सशय के निवारण के लिए यहाँ पर 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया।

एक जादूगर के वस्तु-निर्माण की विलक्षणता उस समय यही होती है कि वह वस्तु-निर्माण मे प्रचलित परम्परा के विरुद्ध, मात्र अपने कौशल के द्वारा ही, वस्तु का निर्माण कर देता है। आम के वृक्ष को हम पृथ्वी मे लगाते है, उसका जल से सिचन करते है। क्रमश. आम का वृक्ष वृद्धिगत होता है और ऋतु मे बौर के बाद उसमे बीज और फल की उत्पत्ति होती है। क्या ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण करते हुए ठीक इसी प्रकार से पदार्थो के द्वारा सृष्टि की रचना की? नही, जब प्रारम्भ मे किसी वस्तु का अस्तित्व ही नही था, तब वस्तु के द्वारा सृष्टि के निर्माण की सभावना असम्भव थी। यह सृष्टि मायानाथ की 'शक्ति' और 'माया' दोनो की सम्मिलित प्रक्रिया का योग है। इसलिए यहाँ पर शक्ति और माया दोनो के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि जो शून्य मे वस्तु का निर्माण कर दे, वह केवल शक्ति ही नही, माया है। 'विनयपत्रिका' मे गोस्वामीजी सृष्टि के रहस्य का वर्णन करते हुए कहते है

केसव, कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहि मन रहिये॥१॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे॥२॥

रविकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसे चराचर, पान करन जे जाहीं ॥३॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥४॥

इसमें भी सृष्टि के निर्माण के लिए एक ऐसे चित्रकार की कल्पना की गई है जो चित्र का निर्माण तो करता है, किन्तु उसके लिए आधार की आवश्यकता नही है। वह तो शून्य भीत्ति पर विना किसी रग के चित्र का निर्माण करता है। इसीका संकेत 'माया' और 'शक्ति' इन दोनो शब्दो के प्रयोग के माध्यम से किया गया है।

इस तात्त्विक स्वरूप को गोस्वामीजी एक भिन्न अर्थ मे भी ग्रहण करते है। वे आद्याशक्ति जगज्जननी है किन्तु जनक की पुत्री वन जाती है—यह श्रीसीता की करुणा की पराकाष्ठा है। सम्पूर्ण भूतो की जन्मदात्री माँ के लौकिक जगत् मे पुत्री वनकर अवतरित होने का अभिप्राय यही है कि उनके अन्त करण मे वात्सल्य और करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है—कि जो महामहीयसी होकर भी जनक की पुत्री वनकर उनकी आकाक्षा को पूर्ण करती है। तुलसीदास भी विश्वास की इसी धरती पर खडे होकर करुणामयी माँ के द्वारा अपनी आकाक्षा पूर्ण हो सकने की आशा से अपलक नेत्रो से निहार रहे है। वे स्वय प्रभु तक अपनी प्रार्थना पहुँचाने मे असमर्थ है। विरागी व्रह्म मे अनुराग की सृष्टि कर उन्हे जीव के प्रति सदय वना देना माँ का ही कार्य है। इस रूप मे वे साक्षात् पराभक्ति है। उन्ही के आश्रय से जीव प्रभु को प्राप्त करता है।

जीव प्रभु के सम्मुख जाना चाहता है क्योकि उनकी यह घोषणा है .

सनमुख होइ जीव मोहि जवहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तवहीं ॥

ईश्वर अपने साम्मुख्य के निमित्त जीव को प्रेरित करता हुआ उद्घोष कर रहा है कि ज्यो ही जीव मेरे सामने आता है, त्यो ही उसके कोटि-कोटि जन्मो के पाप नष्ट हो जाते है। किन्तु इस घोपणा के पश्चात् भी माया-परिच्छिन्न जीव भयग्रस्त है और तव रामचरितमानस की दूसरी पक्ति केअनुकूल वह चाहकर भी भगवान् के सम्मुख नही जा पाता। क्योकि प्रभु ने स्वय सुन्दरकाण्ड मे कहा है·

जौ पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई ॥

और तव प्रभु के सम्मुख जाने मे जीव के अन्त करण की मलिनता उसके मार्ग मे अवरोध वनकर खडी हो जाती है, क्योकि प्रभु कहते है

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट-छल-छिद्र न भावा ॥

गोस्वामीजी को विश्वास है कि मेरे अन्त करण की इस मलिनता को श्रीसीता अपने वात्सल्यपूर्ण हृदय के द्वारा परिष्कृत कर सकती है। इसी दृष्टि से वे जगज्जननी के चरण-कमलो मे प्रार्थना करते हुए उनसे मनाते है कि वे कृपा करके मुझे (गोस्वामीजी को) निर्मल मति का दान दे।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
वन्दउँ सीताराम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

अर्थ—वाणी और अर्थ एवं जल और तरग की भाँति, जो भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अभिन्न है, जिन्हें दीन जन अत्यन्त प्रिय है, मै उन श्रीसीता और राम के श्रीचरणो की वदना करता हू।

तुलसी के प्रतिपाद्य और आराध्य श्रीराम एक साधारण राजकुमार नही है, और न तो श्रीसीता उनकी दृष्टि मे एक नारीमात्र है। उनकी दृष्टि मे अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्व ही स्वयं अपने-आपको दो रूपो मे अभिव्यक्त करता है। द्वैत भेद और दूरी की सृष्टि करता है। अद्वैत मे व्यवहार की सम्भावनाओ का सर्वथा अभाव है। वेदान्तियों का ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अज और अव्यक्त है; क्योकि उसे भय है कि इससे भिन्न मानने पर ब्रह्म परिछिन्न हो जाएगा, उसकी अद्वितीयता समाप्त हो जाएगी। किन्तु सगुण-साकारवादियो की दृष्टि मे ईश्वर आकृति वाला है। गोस्वामीजी वाद के घेरो से मुक्त है। तार्किक परिणति की अधिक चिन्ता किए विना वे दोनो मे सामजस्य की स्थापना का प्रयास करते है। भावुक तर्क से भागता है, तार्किक भावुकता को पास भी नही फटकने देता। किन्तु गोस्वामीजी तर्क को भावुकता का अनुगामी वनाकर उसे अधिक ग्राह्य वना देते हैं। भावुकता के द्वारा स्वय तो रस लिया जा सकता है, किन्तु वह दूसरों के लिए ग्राह्य नही वन पाता। तार्किक का अतिवाद अपनी वात मनवाने के प्रयास मे शुष्कता की उस मरुभूमि तक पहुँच पाता है, जहाँ रस का सर्वथा अभाव है। कविता भावुकता की अभिव्यक्ति है, दर्शन तर्क के माध्यम से अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है। रामचरितमानस दर्शन और काव्य का वह धूप-छाँही वस्त्र है, जिसमे दोनो रग एक साथ झलक उठते है।

भावुकता के क्षणों मे गोस्वामीजी (दोहावली मे) कह उठते है :

जौं जगदीस तौ अति भलो, जौं महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन अनुराग॥

"यदि वे ईश्वर है तो कहना ही क्या, किन्तु यदि वे मनुष्य है तो भी मेरे लिए यह सौभाग्य की वात है। मै जन्म-जन्मान्तर मे श्रीराम के चरणो मे ही अनुराग चाहता हूँ।"

किन्तु ऐसे भी क्षण आते है जव वे अपनी वात दूसरो तक पहुँचाना चाहते है, तव वे उसे तार्किक शैली के माध्यम से पाठक अथवा श्रोता के समक्ष अपने अनुभूत सत्य को रख देते है। वन्दना-प्रसग के उपर्युक्त दोहे में भी काव्य और दर्शन का वही मिला-जुला रग हमारे समक्ष आता है।

श्रीसीता और राम के सम्बन्ध को वे वाणी और अर्थ के दृष्टान्त के द्वारा हृदयगम कराना चाहते है। अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाषा ही सबसे सशक्त माध्यम है। अमूर्त भाव और विचार वाणी के माध्यम से आकृति ग्रहण कर लेते है। किन्तु उन्हे अधिकाधिक लोगो तक पहुँचाने के लिए भाषा को और भी सरल रूप देना होता है। वाणी यदि अमूर्त को मूर्त बनाती है, तो अर्थ उसे सरलता से दूसरो तक पहुँचा देता है। निर्गुण की सगुणता के पीछे भी यही दर्शन विद्यमान है। निर्गुण-निराकार लोक-ग्राह्य नही हो सकता। उसे लोक-मगल के लिए आकृति स्वीकार करनी ही होगी। जिस शक्ति का आश्रय लेकर ब्रह्म निर्गुण से सगुण बनता है, वही श्रीसीता है।

इस दृष्टान्त मे वाणी के स्थान पर श्रीसीता का वर्णन स्वाभाविक ही था। श्रीसीता मूर्तिमती भक्ति है। भक्ति-भावना से प्रेरित अन्तःकरण ही निर्गुण-निराकार ब्रह्म को सगुण-साकार रूप मे परिवर्तित कर सकता है। श्रीसीता यदि वाणी के रूप मे अव्यक्त ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति है तो श्रीराम-रूप अर्थ के माध्यस से ही भक्ति की करुणा को हृदयंगम किया जा सकता है। रामचरितमानस मे श्रीराम ही सब-कुछ करते हुए प्रतीत होते है, किन्तु उनके मूल मे प्रेरक शक्ति के रूप मे भगवती सीता ही विद्यमान है।

मनु निर्गुण-निराकार ब्रह्म को सगुण-साकार रूप मे देखना चाहते थे :

उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिअ नयन परम पद सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथवादी॥
नेति-नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
ऐसिउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

एक दिन उनकी अभिलाषा साकार हो उठी। ब्रह्म उनके समक्ष प्रकट हुआ, पर वह अकेला नही था। क्योकि उसे यह ज्ञात था कि निराकार की साकारता ही मनु की अन्तिम अभिलाषा नही है, अपितु उससे तो लीला के विस्तार का भी अनुरोध किया जाने वाला है। और इसके लिए उसे दो रूपो मे अभिव्यक्त होना होगा। अत. वह श्रीसीता के रूप मे भी मनु के सामने प्रकट था। मनु के समक्ष श्रीराम ने श्रीसीता का परिचय आदिशक्ति के रूप मे दिया :

आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

इस प्रकार वाणी का परिचय अर्थ के माध्यम से प्राप्त हुआ। किन्तु गिरा और अर्थ के दृष्टान्त से भी गोस्वामीजी को पूर्ण सतोष नही होता है। क्योकि वाणी और अर्थ श्रुतिग्राह्य है। श्रुतिग्राह्यता तो वेदान्त के ब्रह्म मे भी है। वेदान्त के ब्रह्म का वर्णन करने के लिए भी वाणी और अर्थ का ही आश्रय लेना पड़ता है। सगुण-साकार की समग्रता तो उसके दृष्टिगोचर होने मे ही है। इसलिए पहले दृष्टान्त मे जहाँ श्रुति की प्राधानता है, वहाँ जल और बीचि का दूसरा दृष्टान्त दृष्टि-ग्राह्य है। जल मे उठने वाली तरंगों को देखकर किसके अन्तःकरण मे आनन्द

हिलोरे नही लेने लगता ?

श्रीराम-समुद्र में सीता वीचि है। समुद्र में उठती हुई लहरों का संवध या तो चन्द्रमा से है अथवा भीषण तूफान से। चन्द्रमा की बढती हुई कला को देखकर समुद्र तरगायित हो उठता है। चन्द्रमा की पूर्णता को देखकर समुद्र का आनन्द उसके (समुद्र के) हृदय मे नही समाता, और वह अपनी लोल लहरो से उमडता हुआ चन्द्रमा का अभिनन्दन करता है। ब्रह्म प्रशान्त समुद्र की भाँति है, और भक्त के अन्त करण का भाव चन्द्रमा के समान प्रतिक्षण बढता ही जाता है। भक्त के प्रतिक्षण वर्द्धनशील भाव को देखकर ईश्वर का हृदय प्रीति, करुणा और वात्सल्य से उद्वेलित हो उठता है—कृपा की लहरे उठने लगती है।

दूसरी प्रक्रिया तूफान द्वारा तरगायित होने की है। उस समय समुद्र के विकराल रूप का साक्षात्कार होता है। जव रावण-जैसा कोई दुर्दमनीय व्यक्ति अपने अत्याचारो से विश्व को सत्रस्त कर देता है, तव समाज की व्याकुलता ही ईश्वर के अन्त करण मे सहार-शक्ति को चैतन्य करती है। उस समय स्वय को अजेय मानने वाले दुर्दान्त दस्यु उन लहरो के द्वारा डुवोकर नष्ट कर दिये जाते है।

श्रीराम समुद्र है, और श्रीसीता वीचि। वस्तुत वे अनुग्रह और सहार-शक्ति की घनीभूत रूप है। यद्यपि वीचि और समुद्र मे कोई भेद नही है, फिर भी भक्तों के भाव की पूर्ति के लिए अथवा दुष्टो का सहार करने के लिए ईश्वर स्वय को द्विविध रूपो मे विभक्त कर अवतरित होता है। जनकपुर और अयोध्या मे श्रीसीता और राम का लीलाविलास अनुग्रह, करुणा और वात्सल्य की लहरो के द्वारा भक्तो के हृदय को आह्लादित करता है। लका मे वही विकराल सहार-शक्ति के रूप मे रावण को डुवोकर लोक को अभिशाप से मुक्त करता है।

भिन्नता-अभिन्नता के इस खेल को रामचरितमानस मे वडे ही कलात्मक रूप मे अभिव्यक्त किया गया है। चित्रकूट की यात्रा मे सुशीतल वटवृक्ष की छाया मे वैठे हुए तीन पथिको का दर्शन करने के लिए ग्रामवासियो की भीड उमड पडी। पुरुप अपलक दृष्टि से सौदर्य निहारने लगे, किन्तु ग्रामवासिनी महिलाओं को इससे सतोष नही होता। वे श्रीसीता के निकट जाकर उनके चरणो मे प्रणाम करती है एव भावभीनी शब्दावली मे भोली-भाली ललनाओ ने पूछ ही तो लिया

सीय समीप ग्रामतिय जाही। पूछत अतिसनेह सकुचाहीं॥
वार-बार सब लागहि पाएँ। कहहि बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि विनय हम करही। तिय सुभाय कछु पूछत डरही॥
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी। विलगु न मानब जानि गँवारी॥
राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥
स्यामल गौर किसोर बर, सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्वरीनाथ मुख, सरद सरोरुह नैन।
कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि, कहहु को आहि तुम्हारे॥

कितना सीधा और नन्हा-सा प्रश्न ? किन्तु यही नन्हा प्रश्न इतना कठिन बन गया कि जिन सीताजी की वदना "जासु कृपा निर्मल मति पावउँ" कहकर की गई, वे भी इसका उत्तर देने मे स्वय को असमर्थ अनुभव करने लगी। उत्तर के लिए उन्हे वाणी के स्थान पर नेत्रो के सकेत का ही आश्रय लेना पडा :

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। प्रिय तनु चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हइ सिय सयननि ।।

कुछ लोगो की दृष्टि मे यह श्रीसीता के शील का चित्र है। स्वयं अपने मुख से शीलमयी सीता अपने पति का परिचय कैसे दे ? किन्तु एक विद्वान् ने कहा कि यह प्रसग ग्राम्य-दोप से युक्त है। उसका कथन यह था कि यदि परिचय न दे पाती, तो इसे शोल के दृष्टान्त के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता था। किन्तु मुख पर घूँघट डालकर, तिरछी चितवन से देखकर परिचय देना शील कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु इस प्रकार के विचार वे ही व्यक्त करते है, जिन्हे रामचरितमानस के दर्शन का सही ज्ञान नही है। गोस्वामीजी ने वाणी के द्वारा परिचय न दिलाकर न केवल सकोच की ही रक्षा की, अपितु दार्शनिक दृष्टि से भी ब्रह्म की अनिर्वचनीयता की रक्षा की। श्रीसीता क्या बताये कि राघवेन्द्र से उनका कौन-सा नाता है ? जनकपुर के धनुष-यज्ञ मे सभी लोगो ने राम से कोई-न-कोई नाता जोड लिया। किन्तु जब कवि से पूछा गया कि श्रीसीता ने राम को किस भाव से देखा, तब कवि असमर्थता के स्वर मे बोल पडा

रामहि चितय भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहि कथनीया ।।

कवि अपनी ही असमर्थता का वर्णन नही करता, अपितु उसका दावा तो यह है कि श्रीजानकी स्वय भी उस भाव का वर्णन कर सकने मे असमर्थ है

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ ।।

इसीलिए ग्रामवासिनियो के इस प्रश्न के उत्तर मे कि "यह राजकुमार आपके कौन है," उन्होने मुख पर अचल डालकर जहाँ शृगारिक नाते का परिचय दिया, वही यह अचल अद्वैत मे भेद करने के लिए कल्पित आवरण की ओर भी सकेत कर रहा है। सम्बन्ध दो पृथक् व्यक्तियो मे ही होता है। किन्तु व्यवहार की सृष्टि के लिए अद्वैत मे यह अचल कल्पित सम्बन्ध का प्रतीक है। किसी ने प्रश्न किया, जल और तरग का क्या नाता है, तो भिन्न-भिन्न लोगो से इसके कई उत्तर प्राप्त हुए। एक ने कहा, "जल से तरग का जन्म होता है। इसलिए दोनो के मध्य मे पिता-पुत्री का नाता है।" दूसरे ने कहा, "दोनो साथ-साथ खेलते है अत भाई-बहिन है।" किसी को लगा कि "जल और तरग के बीच मे जो विलास-लीला चलती है, उससे यही होता है कि वे दोनो पति-पत्नी है।" तत्त्वत जल और वीचि अभिन्न है। कवि-कल्पना के माध्यम से, रस की सृष्टि के लिए उनमे कोई भी सम्बन्ध आरोपित किया जा सकता है।

वदना के अन्तिम वाक्य मे "जिन्हहि परम प्रिय खिन्न" कहकर वात्सल्य-भाव के अनोखेपन की ओर इगित किया गया है। गुण के द्वारा लोक-दृष्टि मे व्यक्ति

का सम्मान बढता है। किन्तु वात्सल्य की यह अनुपम प्रकृति है कि वह अयोग्यता और असमर्थता मे ही वृद्धिगत होता है। एक नन्हे बालक के प्रति माता-पिता का जितना स्नेह होता है, सद्गुण-सम्पन्न बडे बालक पर उतना नही होता। जगज्जननी सीता और करुणामय रामभद्र का वात्सल्य प्राप्त करने के लिए गुणाभिमान के स्थान पर, स्वय मे नन्हें बालक-जैसी असमर्थता का भान होना चाहिए। ऐसी अनुभूति जिनके अन्त करण मे विद्यमान है, उन्हे ही ईश्वर की कृपा और वात्सल्य का वास्तविक रस प्राप्त होता है। तुलसी का जीवन दैन्य से भरा हुआ था। प्रेम का प्यासा उनका मन किसी से स्नेह पाने के लिए व्याकुल रहा। पर दीन-हीन से कौन स्नेह करता ? किन्तु उन्होने दीनो से प्रेम करने वालो का पता लगा ही लिया। प्रभु और किशोरीजी का वात्सल्य पाकर उनकी दीनता भी सार्थक हो गई।

।। श्रीराम: शरणं मम ।।

बन्दउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।।

अर्थ—मैं रघुवर के उस राम-नाम की वन्दना करता हूँ जो कृशानु, भान और हिमकर का कारण है।

निर्गुण-निरकारवादी सन्त-परम्परा और सगुण साकारवादी भक्ति-परम्परा में अनेक भेद होते हुए भी नाम-महिमा को लेकर दोनो मे ऐकमत्य है। निर्गुणवादी सन्त-परम्परा के सबसे बड़े प्रतिनिधि कबीर है। उनके ग्रन्थो मे राम-नाम-महिमा का स्वर मुखर हुआ है। वे यह स्पष्ट कर देते है कि यह राम-नाम दशरथ-नन्दन का नही है ·

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना ।।

इधर सगुण-साकार भक्ति-परम्परा के महान् सन्त तुलसी भी नाम-महिमा के अप्रतिम गायक है। किन्तु उनके राम रघुवंश-शिरोमणि है, यह स्पष्टीकरण वदना के प्रारम्भ मे ही वे कर देते है। इसीलिए उन्होंने प्रथम पक्ति मे ही "**बन्दउँ नाम राम रघुबर को**" का प्रयोग किया है।

"मैं रघुवर के राम नाम की वन्दना करता हू" यह वाक्य विलक्षण-सा प्रतीत होता है। रघुवर भी एक नाम ही है। अत राम-नाम से उत्पन्न होने वाली भ्रांति (कि कही वह भी कबीर के समान निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ही प्रतीकात्मक नाम न हो) के निवारण के लिए सरल उपाय यह होता कि रघुवर, रघुनाथ, दशरथ-नन्दन आदि नामो मे से किसी एक नाम का चुनाव करते और उसी नाम की वन्दना करते। किन्तु रघुवर का राम नाम कहकर उन्होंने अपना यह मत भी प्रकट कर दिया है कि वे ईश्वर के सभी नामो को समान दृष्टि से नही देखते।

व्यावहारिक दृष्टि से समता का सिद्धान्त बडा ही उपयोगी है। इससे समाज में सघर्ष के स्थान पर सौजन्य और स्नेह की भावना का प्रसार होता है। किन्तु यह समता का दर्शन एक सीमा तक ही उपयोगी है। सहृदय कवि कहता है—"सब मानव मानव हैं समान"; अथवा "एक नूर ते सब कोई उपजा क्या पाँडे क्या मन्दे"। किन्तु एक चिकित्सक इसे वैज्ञानिक अर्थो मे स्वीकार नही कर सकता। उसे जब किसी रोगी के लिए रक्त की आवश्यकता होगी, उस समय "सब मानव-मानव है समान" का सिद्धान्त भयावह सिद्ध होगा। उसे रक्त देने और लेने से पूर्व रक्त का वर्गीकरण करना पडता है। रोगी को उसी वर्ग का रक्त दिया जा सकता है, जिस वर्ग का उसका अपना रक्त होता है। भूल से भी किसी अन्य वर्ग का रक्त दे देने पर रोगी की तत्काल मृत्यु हो सकती है। भावनात्मक और व्याव-

हारिक जगत् मे समता का सिद्धान्त उपयोगी होने पर भी उसका अतिरेक-भरा उपयोग नही किया जाना चाहिए।

भावुकता के स्तर पर ईश्वर के सभी नाम समान है, किन्तु उपासना-शास्त्र और मन्त्र-विज्ञान इसे ठीक इसी रूप मे स्वीकार नही करता। जड और चेतन सर्वत्र ब्रह्म-तत्त्व होने पर भी प्रत्येक पदार्थ मे उसकी शक्ति भिन्न रूप मे अभिव्यक्त होती है। अगूर मे वह मिठास के रूप मे दिखाई देती है तो मिर्च मे कड़वाहट के रूप मे व्यक्त होती है। ईश्वर के प्रत्येक नाम मे भिन्न अक्षर-समूहो का प्रयोग किया जाता है, अत प्रत्येक नाम और अक्षर-समूह मे उसकी क्षमता भिन्न रूपो मे प्रकट होती है। भौतिकविज्ञान केवल स्थूल पदार्थो मे शक्ति की खोज करता है, किन्तु अध्यात्मविज्ञान मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थो मे शक्ति की उपस्थिति स्वीकार करता है। योगशास्त्र मुख्य रूप से मन.शक्ति का अन्वेषण और प्रयोग करने की विधि बताता है। हठयोग शरीर मे छिपी हुई क्षमताओ का उद्‌घाटन करता है। मन्त्र-शास्त्र ने अपने शोध का क्षेत्र अक्षर और शब्द को चुना है।

गोस्वामीजी की दृष्टि मे प्रभु के सभी नामो मे 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता को वे एक उपाख्यान से सम्बन्धित कर देते है। देवर्षि नारद ने प्रभु से यह वरदान माँगा, "यद्यपि आपके अनेक नाम है; और श्रुतियो ने एक से बढकर एक का प्रतिपादन किया है, पर मेरी यह प्रार्थना है कि इन नामो मे राम-नाम सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो। आपकी भक्ति-रूपा पूर्णिमा की रात्रि मे राम-नाम ही चद्रमा है। भक्त के हृदयाकाश मे इस राम-नाम चन्द्र के साथ अन्य नाम नक्षत्रो की भाँति सुशोभित हो।"

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥
राम सकल नामन ते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका॥
राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगुन बिमल, बसहु भगत उर ब्योम॥

यह राम-नाम की श्रेष्ठता का पौराणिक आधार है। इसमे अन्य नामों की तुलना मे राम-नाम की दो विशेषताएँ बताई गई है—"अघ-खग-गन-बधिका"। पाप-रूपी पक्षी के सहार के लिए आपका नाम वधिक हो जाय। ईश्वर के सभी नामो मे कोई-न-कोई अपनी विशेपता है। राम-नाम का मुख्य गुण है. पाप का कठोरता से उन्मूलन। पक्षी मनुष्य की तुलना मे बहुत छोटा है, किन्तु अपने उड़ने और छिपने की क्षमता के कारण उसका पकड में आना अत्यन्त कठिन है। पाप की स्थिति भी यही है। ईश्वराश जीव की तुलना मे पाप अत्यन्त लघु है, पर उसे पकड़ पाना अत्यन्त कठिन है। त्रुटियो को व्यक्ति कहाँ पकड़ पाता है? यदि उन्हे कभी पकडने की चेष्टा की जाय तो हृदयाकाश मे वे कही ऐसे छिप जाती है कि दिखाई ही नही देती। जैसे आकाश की विशालता मे बडा पक्षी भी छोटा-सा लगता है, उसी तरह हम स्वय अपने पापो को छोटा सिद्ध कर सन्तुष्ट हो जाते है। पक्षी वृक्ष की सघन डालो के बीच ऐसा छिप जाता है कि पत्ते दिखाई देते है, पक्षी

नही। इसी तरह सत्कर्म ही वृक्ष है। उन्ही की आड मे पाप छिप जाते है। दान की आड मे लोभ, सत्य की आड मे अहकार, नियम की ओट मे दभ और अभेद-ज्ञान की ओट मे भोग-लिप्सा की वृत्तियाँ छिपी रहती है। किन्तु वधिक की पैनी दृष्टि से बच नही पाती है। वह उन्हें पकड़ने और मारने की कला में निपुण होता है। इसी प्रकार राम-नाम के जप से या तो वे पकड़े जाकर साधन के पिंजड़े मे बन्दी बना लिये जाते है या पूरी तरह विनष्ट हो जाते है।

राम-नाम की दूसरी विशेषता है, शीतल प्रकाश का दान। पूर्णिमा की रात्रि मे जव चाँदनी छिटकती है तब सौदर्य, शीतलता और प्रकाश की अनुभूति एक साथ होती है। राम-नाम के जप से हृदय सुन्दर लगने लगता है, कर्मजन्य श्रम दूर होकर हृदय शीतल हो जाता है तथा मत्सर, मान, मोह और मद के चोर कृपा-चाँदनी के प्रकाश मे अपनी कोई कला प्रदर्शित नही कर पाते .

चोरहि चाँदनि रात न भावा।

राम-नाम की श्रेष्ठता के पौराणिक उपाख्यान के साथ-साथ गोस्वामीजी इनका तात्त्विक विश्लेपण करते हुए इन्हे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का मूल बीज भी वताते है। 'राम' शव्द मे र-अ-म का मिलन है। ये तीनों अक्षर क्रमश' अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के मूल कारण है। सृष्टि-सृजन की प्रक्रिया मे सर्वप्रथम आकाश के रूप मे शून्य की स्थिति थी। उसी मे क्रमश अन्य तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। शव्द आकाश का गुण है। निराकार से साकार होने की प्रक्रिया मे सवसे पहले शव्द-सृष्टि ही प्रकट होती है। पचतत्त्वो मे आकाश और वायु सर्वथा आकार-रहित है। वह किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही होता, किन्तु शव्द-गुण के माध्यम से ही उसकी उपस्थिति का प्रकाश हो सकता है। आकाश से वायु और वायु से अग्नि की उत्पत्ति मानी जाती है। वायु भी आकृति-रहित है। रूप-सृष्टि, जो नेत्र का विपय वने, उसका श्रीगणेश अग्नि से होता है। इस अग्नि की उत्पत्ति 'र' अक्षर से होती है।

अक्षर का अर्थ है, जिसका विनाश न हो। व्रह्म अक्षर है। वर्णमाला मे प्रयुक्त वर्णो को भी अक्षर कहते है। मूल अक्षर-तत्त्व ही वर्णमाला मे विविध रूपो मे प्रकट होता है। मूलत अक्षरतत्त्व एक है। वर्णमाला मे अक्षर अनेक है। यही एक के अनेक होने की प्रक्रिया है। व्रह्म ने एक से अनेक होने का सकल्प किया। "एकोऽहवहुस्याम" कहकर श्रुतियों ने इसी संकल्प का वर्णन किया है। इसी तरह वह अक्षरतत्त्व भी निर्गुण था, पर वर्णमाला मे अक्षर वनते ही वह सगुण हो गया। प्रत्येक अक्षर मे कोई-न-कोई गुण विद्यमान है। इन्ही अक्षरों के मिलने से शव्द वना। अव अर्थ के रूप मे वह भापा-विज्ञान का आधार हो गया। शव्द के रूप मे राम शव्द का तात्पर्य विवाद का विपय हो सकता है, किन्तु र, अ और म के रूप में वह अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का मूल है। सारी सृष्टि सूर्य, चन्द्र और अग्नि के आधार पर टिकी हुई है।

इन तीनो के अभाव मे जड़ पंचतत्त्व भले ही रहें, किन्तु सृष्टि से जीवन की

सत्ता समाप्त हो जाएगी। चैतन्य-सृष्टि के लिए 'राम' शब्द अनिवार्य है। यह निर्गुण-निराकारवादियो के लिए ब्रह्म का बोधक है और सगुण-साकारवादी इसका प्रयोग दशरथनन्दन के लिए करते हैं। इसलिए वह सगुण और अगुण दोनों है :

बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

॥ श्रीराम: शरण मम ॥

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥

अर्थ—अगुण और सगुण के बीच मे नाम सुन्दर साक्षी (गवाह) है। वह दोनों को समझा देने वाला चतुर दुभाषिया है।

संघर्ष मानव-मन की सहज प्रवृत्तियो में से एक है। सघर्ष के कारण सर्वदा यथार्थ ही नही होते—विशेष रूप से जब यह किसी उच्च आदर्श अथवा सिद्धान्त की आड मे किया जाता है तब उसका निराकरण अत्यन्त कठिन होता है, क्योकि स्वार्थमूलक सघर्ष में, जहाँ व्यक्ति का विवेक कभी-कभी उसके अनौचित्य का स्मरण कराता है, वहाँ सिद्धान्त के नाम पर किए जाने वाले झगड़ों मे, व्यक्ति बुद्धि और अह का भी समर्थन पा लेता है। जिन सिद्धान्तो के नाम पर इस देश मे सतत संघर्ष चलता रहा है, उनमे से एक है निर्गुण और सगुण-सम्बन्धी विवाद। आस्तिकता और नास्तिकता मे तो संघर्ष की वात कुछ समझ मे आ सकती है, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाले भी उसके स्वरूप को लेकर जिस प्रकार उलझ जाते है, उसे समझ पाना कठिन है। परन्तु कटु सत्य यही है कि आस्तिकता तथा नास्तिकता के संघर्ष की भी अपेक्षा अधिक कटुता की सृष्टि निर्गुण और सगुण के विवाद को लेकर हुई है। गोस्वामीजी की समन्वयी वृत्ति ने इस निरर्थक और अकल्याणकारी विवाद को मिटाने का सतत प्रयास किया है।

शंकराचार्य और रामानुजाचार्य-जैसे विचारकों के इसमें परस्पर-विरोधी मत तो थे ही, किन्तु निर्गुण-निराकारवादी सतों की आग्रह-भरी वाणियों ने इस विवाद को और भी कटु बना दिया। शकर और रामानुज के सिद्धान्तो मे जो मतभेद थे वे अत्यन्त सूक्ष्म तार्किकता के परिणाम थे। इस विपय के सारे ग्रन्थ संस्कृत में होने से यह विवाद एक वर्ग-विशेष तक ही सीमित था। विचित्नता यह है कि वेदो की प्रामाणिकता को लेकर भी दोनो एकमत थे। मतभेद तो केवल व्याख्या को लेकर ही था। इसलिए सघर्ष और मतभेद के वीच भी एकता का एक सूत्र विद्यमान था। किन्तु गोस्वामीजी के पूर्ववर्ती काल मे सतो की उस परम्परा का उदय हुआ जिसका जन्म समाज के साधारण वर्ग मे हुआ था। वर्णाश्रम-व्यवस्था की विकृतियो ने जिस प्रतिक्रिया को जन्म दिया था, उससे संत-परम्परा भी अछूती नही रही। रह भी नही सकती थी, क्योकि कोई भी व्यक्ति कितना भी ऊपर क्यों न उठ जाए, स्वयं को सस्कारो से शून्य नही वना सकता।

इस संत-परम्परा के सर्वाधिक प्रभापूर्ण रत्न थे—कवीर। समाज के साधारण कहे जानेवाले वर्ग में उनका असाधारण प्रभाव था। कवीर में अनुभूति थी, मस्ती थी, कवित्व का सहज स्फुरण उनकी वाणी मे था। साथ-ही-साथ अपनी बात कहने का साहस भी उनमे था। उन्होने ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप का समर्थन

करते हुए सगुण-साकार को अस्वीकार कर दिया। वेदो की प्रामाणिकता उन्हे स्वीकार नही थी। अपनी बात को वे जिस व्यग्यात्मक शैली से तार्किक रूप मे रखते थे, उसने जनता के एक वहुत वडे वर्ग को प्रभावित किया। इतना ही नही, इससे साधारण व्यक्ति को भी ऐसी व्यग्योदितयो का भडार प्राप्त हो गया, जिससे परम्परावादी वर्ग पर वह प्रहार कर सकता था। कवीर यह कहते हैं

दुनिया ऐसी वावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे जेहि का पीसा खाय ॥

इस प्रकार की उक्तियाँ व्यक्ति के मन को आकृष्ट ही नही कर लेती, अपितु वे उसके हाथ मे शस्त्र का रूप भी धारण कर लेती है, जिनके द्वारा वह दूसरो पर समय-असमय मे प्रहार कर सकता है। कवीर ने घोपणा की कि वे जिस राम-नाम का प्रचार-प्रसार करते है, वह दशरथ-सुत राम नही है

दसरथ सुत तिहुँ लोक वखाना। राम नाम का मरम है आना ॥

उनके राम निर्गुण-निराकार है। उनकी मूर्ति नही वन सकती। उन्हे मदिर की कोई आवश्यकता नही, वे घट-घट-वासी है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यह सारा तर्क किसी तार्किकता और अनुभूति की परिणति है या इसके पीछे कोई मानसिक ग्रन्थि भी विद्यमान है? कवीर की जीवनी मे प्राप्त घटनाओ मे इनके कुछ सूत्र ढूँढे जा सकते है।

कवीर के गुरु के रूप मे स्वामी रामानन्दजी का नाम जाना जाता है। राम-भक्ति की सगुण-साकार परम्परा के सवसे वडे प्रवक्ता श्री रामानन्दाचार्य ही थे। क्या यह स्वय मे आश्चर्यजनक नही है कि श्रीरामानन्दजी के शिष्य कवीर सगुण-साकार राम को अस्वीकार कर दे? पर इसका मूल सूत्र कवीर की दीक्षा के सन्दर्भ मे ढूँढा जा सकता है। कवीर मे प्रारम्भ से ही आत्म-कल्याण और जिज्ञासा-वृत्ति की भावना विद्यमान थी। इस दिशा मे सफलता के लिए गुरु की आवश्यकता थी। उस समय काशी मे स्वामी रामानन्दाचार्यजी ऐसे महापुरुप थे जिनकी सिद्धि, तपस्या, त्याग और वैराग्य की चर्चा चारो ओर व्याप्त थी। उससे आकृष्ट होकर कवीर उनके निकट पहुँचना चाहते थे, किन्तु यह कार्य उतना सरल न था। वर्णा-श्रम-व्यवस्था की अनुल्लघ्य दूरियाँ उनके वीच विद्यमान थी, किन्तु भावुक और व्यग्र कवीर ने इसके लिए एक मार्ग ढूँढ ही लिया। स्नान के लिए स्वामी रामा-नन्दजी गगा के जिस घाट पर जाते थे, उसी के मार्ग मे कवीर लेट गए। प्रात. कालीन अधकार मे कवीर को उनके चरणो की ठोकर लगी, स्वभावत. उनके मुख से राम-राम शव्द का उच्चारण हुआ। कवीर ने इसी राम-राम को मत्र-दीक्षा के रूप मे ग्रहण कर लिया, सच्ची निष्ठा, लगन और व्याकुलता से की गई नाम-साधना ने अनुभूतियो का द्वार खोल दिया। साधना से सिद्धि के जगत् मे उन्होने प्रवेश किया। उनके गुण से आकृष्ट होकर जनसमाज उनका अनुयायी वनने लगा। किन्तु कवीर के अन्त करण मे उस वर्ण-व्यवस्था के प्रति कैसे राग हो सकता था, जो उनको एक सत के निकट पहुँचने मे वाधक वनी? साथ ही

श्रीराम के चरित्र का वह अंश भी उनकी स्मृति मे रहा ही होगा, जिसमे शम्बूक नाम के शूद्र तपस्वी का इसलिए वध कर दिया गया था कि वह वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का उल्लंघन करके तपस्या मे संलग्न था। कबीर ऐसी स्थिति मे उन राम को कैसे स्वीकार कर सकते थे जो एक शूद्र को सत्कर्म करने का अधिकार भी देने को प्रस्तुत नही है ? दूसरी ओर 'राम' नाम की साधना से उन्हे अमित लाभ हुआ था; उसे अस्वीकार कर पाना उनके लिए सभव नही था। अत. राम-नाम को स्वीकार करते हुए भी दशरथ-नन्दन 'राम' को ईश्वर के रूप मे स्वीकार न करना उनके लिए स्वाभाविक था।

किन्तु सगुण की इस अस्वीकृति मे प्रतिक्रिया का भी हाथ मानना ही होगा। ब्रह्म की अगुणता और सगुणत्ता का यह विवाद केवल बौद्धिक स्तर पर ही हो, यह यथार्थ नही है। दो भिन्न प्रकार के सस्कार उसके मूल मे कार्य कर रहे होते है। 'ईश्वर' का नाम लेते ही कुछ व्यक्तियो के अन्त करण मे ऐसा भाव उदित होता है कि वह सभवत हमसे सर्वथा भिन्न होगा, क्योकि साधक को शरीर की सीमाओ एव उसके अभावो का अनुभव होता रहता है। अत. वह कल्पना भी नही कर सकता कि कोई शरीरधारी ईश्वर शाश्वत आनन्द का केन्द्र हो सकता है। ऐसी स्थिति मे यदि उसमे बौद्धिक क्षमता हो, तो स्वय को तार्किक दृष्टि से भी सन्तुष्ट कर लेता है कि ईश्वर निर्गुण-निराकार ही हो सकता है। देह से परिच्छिन्नता, एकदेशीयता और नश्वरता की भ्रान्ति उठ खडी होगी, अत. ईश्वर देहधारी हो ही नही सकता

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते है, जिनके लिए ऐसे ईश्वर की कल्पना भी असह्य है, जिसमे रूप-गुण कुछ भी नही है। इतनी बड़ी साकार सृष्टि का रचयिता कोई आकृति-रहित हो सकता है, इसे उनका अन्त.करण स्वीकार नही कर पाता। अपने रूप मे ईश्वर को देखकर उनकी भावना सन्तुष्ट होती है। उनके पास भी तर्कों का अभाव हो, ऐसी बात नही। देह की नश्वरता का तर्क उन्हे भौड़ा लगता है। यदि मर्त्यलोक के शरीर नश्वर हो तो उसके आधार पर सारे ब्रह्माण्ड मे उसी को प्रमाण मान लेना स्वय अवैज्ञानिक है। ईश्वर का शरीर निर्विकार सच्चिदानन्द-घन है ·

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत विकार जान अधिकारी॥

इस तरह व्यक्तिगत सस्कारो को ही व्यक्ति तार्किक आधार देकर उसके पक्ष-विपक्ष मे निर्णय कर लेता है। स्वय अपनी ही मान्यता और सस्कारो को दूसरे पर लादने की चेष्टा करता है, परिणामस्वरूप कटुता और सघर्ष की सृष्टि होती है।

इस विवाद मे उलझने के स्थान पर, कि यथार्थ सत्य क्या है, यह विचार अधिक कल्याणकारी है कि व्यक्ति को अधिकाधिक सन्तोष किस स्वीकृति से होता

है। गोस्वामीजी दोनो ही पक्षों का समन्वय करते हुए कहते हैं :

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम-उपल विलग नहिं जैसे॥

उन्हे यह भावना अधिक सन्तोष देती है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्त की भावना को पूर्ण करने के लिए सगुण-साकार हो जाता है। मनु की साधना में इसी मान्यता का दर्शन होता है :

उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥

वे इसी नाम को सुन्दर साक्षी के रूप में प्रस्तुत करते हुए इस संघर्ष को सुलझाने का प्रयास करते है। किसी घटनाक्रम के दर्शक को साक्षी कहा जाता है। साक्षियो के तीन भेद किए जा सकते हैं .

(१) घटनाक्रम को तोड-मरोडकर ऐसे रूप मे प्रस्तुत करना, जिसमे 'संघर्ष' की वृद्धि हो। इसे 'कुसाक्षी' कह सकते हैं।

(२) घटनाक्रम का यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत करना 'साक्षी' का कार्य है।

(३) 'सुसाक्षी' केवल यथार्थ वर्णन पर ही विश्वास नही करता वलिक उसकी दृष्टि परिणाम पर भी होती है। जिसके वर्णन से अनावश्यक सघर्ष की सृष्टि हो, सुसाक्षी उसे प्रगट करना अनावश्यक मानता है।

राम-नाम भी सुसाक्षी के रूप मे सघर्ष मिटाने का प्रयास करता है। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि निर्गुण और सगुण के सघर्ष के स्थान पर क्यो न व्यक्ति नाम का आश्रय ले, क्योंकि दोनो ने ईश्वर का एक ही नाम स्वीकार कर लिया है। दोनों ही नाम के अमित सामर्थ्य को स्वीकार करते है। विवाद केवल इतना ही है कि यह नाम किसका है ? अत हम नाम लेकर पुकारे, वह जिसका नाम होगा, सामने आ जाएगा। वे कहते है—"सगुण-साकार के ध्यान के लिए जिस सरस मन की अपेक्षा है, उसका अभाव है, और निर्गुण-निराकार मन से सर्वथा परे है। इसलिए राम-नाम का स्मरण करना चाहिए। नाम अमृतमय सजीवन है" :

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सँजीवन मूरि॥

नाम को दुभाषिया वताते हुए भी, उसके साथ वे 'चतुर' का विशेषण जोडते हैं। दो भिन्न भाषा-भाषियों के वीच ऐसे दुभाषिये की आवश्यकता होती है जो दोनों ही भाषाओ से परिचित हो एवं दोनो को एक-दूसरे की वात पूरी तरह समझा सके। पर चतुर दुभाषिया वह है जो केवल शाब्दिक अनुवाद के ही फेर में नही पड़ता, अपितु उसकी दृष्टि तो भावनात्मक उद्देश्य पर भी होती है। दृष्टान्त के रूप मे हम इसे यो कह सकते हैं . हिन्दी और रूसी-भाषी दो व्यक्ति आमने-सामने हैं। हिन्दी-भाषी व्यक्ति ने किसी सुन्दरी के लिए 'गजगामिनि' शव्द का प्रयोग किया। साधारण दुभाषिया गज और गामिनि शव्द का पर्यायवाची रूसी

शब्द सामने रख देगा, किन्तु चतुर दुभाषिया ऐसी भूल नही कर सकता, क्योंकि उसे ज्ञात है कि हिन्दी मे गजगामिनि शब्द जहाँ प्रशसार्थक है, वहाँ रूसी भाषा मे वह उपहाससूचक है। अत चतुर दुभाषिया गजगामिनि का अनुवाद करते हुए सुन्दरी शब्द कहना अधिक उपयुक्त समझेगा।

निर्गुण-निराकारवादी और सगुण-साकारवादी भी दो ऐसे भिन्न भाषियो की तरह है, जिनके व्यवहृत शब्दों में सर्वथा साम्य होते हुए भी, उनके तात्पर्य मे भिन्नता है। शब्द-साम्य को लेकर संघर्ष करने के स्थान पर, उनके तात्पर्य को हृदयगम करना अधिक अच्छा होगा। सगुण-साकारवादी ने कहा कि दशरथनन्दन ईश्वर है। निर्गुण-निराकारवादी ने कहा कि दशरथनन्दन ईश्वर कभी नही हो सकते। दोनो परस्पर लड़ पड़े, किन्तु वे यदि एक-दूसरे के सही तात्पर्य को जान ले, तो दूरी मिट सकती है। निर्गुणवादी जब यह कहता है कि दशरथनन्दन ईश्वर नहीं है, तब उसका दशरथनन्दन से कोई व्यक्तिगत विरोध नही होता। उसका अभिप्राय तो यह है कि ईश्वर का कोई कारण नही होता, अत जिसका कोई पिता है वह ईश्वर कैसे हो सकता है? सगुण-साकारवादी भी यही मानता है कि ईश्वर सबका कारण है। जब वह कहता है कि दशरथ-नन्दन राम ईश्वर हैं, तब उसका तात्पर्य है कि ईश्वर कृपा करके दशरथ-नन्दन बनना स्वीकार कर लेता है। न तो वह दशरथ-नन्दन है और न तो हो जाता है, अपितु रगमच पर दशरथ-नन्दन का अभिनय प्रस्तुत करता है। अत यदि यह कहा जाय कि राम ईश्वर है, तो दोनो मे कोई मतभेद नही रह जाता। 'राम' शब्द का भिन्न तात्पर्य लेकर दोनो अपनी भावना को सन्तुष्ट कर सकते है। इस तरह राम-नाम के माध्यम से गोस्वामीजी दोनो के मध्य मे समन्वय का सेतु प्रस्तुत करते है।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

राम कथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह वन, सिय रघुवीर विहारु॥

अर्थ—श्रीराम-कथा मन्दाकिनी है। सुन्दर चित्त ही चित्रकूट है। सुन्दर स्नेह ही वह वन है जिसमे श्रीसीता और राम विहार करते है।

भारत मे तीर्थो को अतुलनीय गौरव प्राप्त है। प्रत्येक हिन्दू अपने व्यस्त जीवन से समय निकालकर तीर्थ-यात्रा करना चाहता है, किन्तु सभी के लिए यह सम्भव नही होता है कि वह तीर्थ-यात्रा के समग्र साधन एकत्र कर सके। द्रव्य, समय और यात्रा के अवरोधो को पार करता हुआ ही व्यक्ति तीर्थो तक पहुँच सकता है किन्तु वहाँ तक पहुँचकर भी यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति को उस आनन्द की अनुभूति हो, जिसकी कल्पना वह तीर्थ-माहात्म्य के रूप मे पढता अथवा सुनता रहा है। स्वभावत जहाँ व्यक्ति श्रद्धा, सद्भाव तथा दान की वृत्ति लेकर जाता है, वहाँ उससे अनुचित लाभ उठाने वाले भी एकत्र हो जाते हैं। श्रद्धोपजीवी वर्ग का चरित्र निम्न धरातल पर आ जाना कठिन नही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यक्ति योग्यता को महत्त्व देता है, क्योकि उसमे उसके लाभ-हानि का प्रश्न सम्मिलित रहता है। स्वभावत वह दूसरो के दोप के प्रति सजग रहता है। किन्तु तीर्थ-यात्रा मे व्यक्ति का दृष्टिकोण परिवर्तित होता है। तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य किसी भौतिक लाभ की उपलब्धि नही होता। अध्यात्म तथा धर्म के क्षेत्र मे दोप-दर्शन को त्रुटि और पाप के रूप मे माना जाता है। तीर्थ-यात्री पाप-मुक्ति की भावना लेकर जब तीर्थ मे जाता है, तब उससे यह आशा की जाती है कि दोष-दर्शन के माध्यम से वह अपने पाप मे और वृद्धि नही करेगा। इस धर्म-भावना का लाभ प्राप्त करने वाला व्यक्ति और वर्ग निश्चिन्त हो जाय और सजग तथा पवित्र रहने की चेष्टा न करे, इसे अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। क्योकि वह यह सोचकर निश्चिन्त हो जाता है कि उसमे भले ही त्रुटियाँ हो किन्तु धर्म-लाभ के लिए लोग उन्हे द्रव्य आदि देते ही रहेगे। अत. तीर्थ-यात्रा जहाँ यात्री के लिए पुण्य और परमार्थ का माध्यम है, वहाँ दूसरी ओर वह तीर्थ निवासियो के भौतिक लाभ का माध्यम है। स्वार्थ और परमार्थ का यह सघर्ष अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न कर देता है। तीर्थ-यात्री को वहाँ पर प्रतिपल ठगे जाने का भय बना रहता है। चाहकर भी वह अपनी श्रद्धा सुस्थिर नही रख पाता। गोस्वामीजी के मन मे इस प्रकार के वातावरण से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई थी, उसे दोहावली रामायण के इस दोहे मे उन्होने प्रकट किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि देश के अन्य भागो मे तो कलियुग के सैनिक रहते हैं किन्तु तीर्थो और मन्दिरो मे साक्षात् कलियुग अपने विशिष्ट सेनापतियो के साथ रहता है

सुर-सदनन तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज ।।

ऐसी परिस्थिति में गोस्वामीजी व्यक्ति के अन्त करण की शुद्धि के लिए तीर्थ का विकल्प प्रस्तुत करते है। लेख के प्रारम्भ मे उद्धृत पक्ति मे उसी भावनात्मक तीर्थ का मधुर रूप प्रस्तुत किया गया है। स्वय गोस्वामीजी को समस्त तीर्थों मे चित्रकूट सर्वाधिक प्रिय था और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योकि चित्रकूट मे ही उनके जीवन को नई दिशा प्राप्त हुई थी। अपने इष्टदेव को प्रत्यक्ष पाकर वहाँ उन्हे श्रीराम के शाश्वत स्वरूप का साक्षात्कार हुआ था। जव वे श्रीराम की ईश्वरता के प्रति इतना अधिक आग्रह करते है, तव उसके पीछे उनकी स्वयं की अनुभूति ही है। महर्षि वाल्मीकि भगवान् राम के समकालीन थे। यदि उन्हें उनमें पूर्ण मानवता का साक्षात्कार हुआ तो यह स्वाभाविक ही था। किन्तु कलियुग मे जव तुलसी ने राम को देखा, तव उन्हे वे केवल मानव के रूप मे कैसे स्वीकार कर सकते थे ? काल की इस विशाल परिधि के पार स्वयं अपने को अभिव्यक्त करने वाला ईश्वर को छोडकर अन्य कोई नही हो सकता। स्वयं को वे वार-वार चित्रकूट की उस लीला का स्मरण कराते रहते हैं ·

तुलसी तोको कृपालु, जो कियो कोसलपाल,
चित्रकूट को चरित्र चेत चित करि सो।

जीवन के उत्तरार्द्ध मे उनकी कर्म-भूमि काशी वनी, किन्तु वे चित्रकूट को कभी भूल नही पाए। रामचरितमानस की राम-कथा मे भी वे चित्रकूट का ही दर्शन पाते थे।

चित्रकूट को पवित्रता के साथ-साथ प्रकृति का भी अनुपम वरदान प्राप्त हुआ है। मथर गति से वहने वाली उज्ज्वल जल-पूरिता मदाकिनी, अनुपम वनश्री और हरीतिमा से भरा हुआ पर्वत शृंग किसे अपनी ओर आकृष्ट नही कर लेता ! राम-कथा मे भी वे इसी दिव्यता का दर्शन करते है। मदाकिनी के प्राकट्य की कथा पुराणों में इस रूप मे प्रस्तुत की गई है · चित्रकूटवासी महर्षि अत्रि के अन्त.-करण मे गगा के प्रति असीम अनुराग था। वे वहुधा गंगा-स्नान के लिए तीर्थराज प्रयाग की यात्रा किया करते थे। पतिप्राणा अनसूया को प्रतीत हुआ कि महर्षि को गंगा-स्नान के लिए अत्यन्त कष्ट उठाना पडता है और यह सोचकर उस महा तपस्विनी पतिव्रता ने, गंगा की एक धारा मदाकिनी के रूप मे, चित्रकूट में ही प्रवाहित करने मे सफलता प्राप्त की, जो कि उन दोनो के निवास की भूमि थी। मानस मे चित्रकूट की महिमा के प्रसग में इस कथा का सूत्र इन पंक्तियो मे प्रस्तुत किया गया है

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि-प्रिया निज तप बल आनी।
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सव पातक पोतक डाकिनि।।

इस मदाकिनी और राम-कथा मे उन्हे सर्वथा साम्य दिखाई देता है। रामकथा मंदाकिनी महिमामयी भक्ति-गगा का सुलभ रूप है। यद्यपि ब्रह्मलोक की दुर्लभ

गगा मृत्युलोक मे आकर सुलभ हो गईं, किन्तु फिर भी अत्रि के लिए उतनी सुलभ नही थी। उन्हे पैदल चलकर वहाँ जाना ही पडता था। राम-भक्ति भी अपने मूल स्वरूप मे अतीव दुर्लभ है। "रघुपति भगति करत कठिनाई" मे इसी दुर्लभता का सकेत प्राप्त होता है। "कहहु भगति पथ कवन प्रयासा" के माध्यम से भक्ति की सुलभता की ओर सकेत किया गया है। दुर्लभ पथ मे यात्रा करना अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु सुलभ पथ मे भी साधना-श्रम तो होता ही है। भक्ति-साधना मे सुलभता के पश्चात् भी कुछ-न-कुछ साधना तो व्यक्ति को करनी ही पडती है। राम-कथा मे इस साधना का श्रम भी अत्यन्त न्यूनमत रह जाता है। एक दृष्टि से यह कहे कि जैसे श्रम तो अनसूया ने किया, किन्तु परिणाम अत्रि को प्राप्त हुआ, यही स्थिति रामकथा की भी है। कथा वक्ता के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, किन्तु फल श्रोता को प्राप्त होता है। वक्ता का अन्त.करण अनसूया की भाँति है, तथा श्रोता अत्रि के स्थान पर प्रतिष्ठित है। अनसूया से मदाकिनी के प्राकट्य की गाथा की भाँति ही राम-कथा का प्राकट्य भी सरल नही है। अन-सूया शब्द का अर्थ है, 'असूया का अभाव।' दूसरे के गुण मे दोष निकालना ही 'असूया' है। असूया-वृत्ति वाला व्यक्ति राम-कथा को अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही हो सकता। कथा का मुख्य तात्पर्य भगवद्‌गुण का वर्णन करना है। असूया वृत्ति वाला व्यक्ति श्रीराम के गुणो मे भी दोष का ही आविष्कार करेगा। रावण का चरित्र इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। रावण को भी राम-कथा का इतिहास-रूप मे ज्ञान था, किन्तु वह श्रीराम के किसी भी कार्य मे विशेषता का दर्शन नही कर पाता। यदि श्रीराम ने अयोध्या के राज्य का परित्याग कर दिया तो उसकी दृष्टि मे यह 'मिथ्या प्रचार-मात्र' था। वस्तुत. उन्हे पिता ने निष्कासित कर दिया था और यह निष्कासन भी गुण और स्वाभिमान के सर्वथा अभाव के कारण था·

अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास।
सो दुख अरु जुवती-बिरह, पुनि निसिदिन मम त्रास॥

औदार्य के कारण रावण के निकट प्रेषित सन्धि-प्रस्ताव मे भी रावण को राघ-वेन्द्र की कायरता का ही दर्शन होता है·

जौं पै समर सुभट तव नाथा। पुनि-पुनि कहसि जासु गुन गाथा॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा॥

यदि रामभद्र ने सेतु-रचना के द्वारा असाध्य-साधन सम्पन्न किया है, तो भी रावण की दृष्टि मे इसका कोई महत्त्व नही था। उसकी धारणा है कि क्या पक्षी समुद्र को बहुधा पार नही कर लिया करते .

नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु सब कीसा॥

ऐसी मनोवृत्ति के माध्यम से राम-कथा के रस का आस्वादन कैसे किया जा सकता है? यही कारण था कि जब भी किसी ने रावण के समक्ष श्रीराम के गौरव-पूर्ण चित्र को चित्रित करने की चेष्टा की, तो वह क्रोधित रावण के उपहास का पात्र बना। पवन-नन्दन श्रीहनुमानजी से बढ़कर राम-कथा का कोई अन्य वक्ता

नही है। उन्होने अपनी सरस राम-कथा के द्वारा जगज्जननी के दुःख का निवारण किया था, किन्तु रावण पर उनके उपदेश का कोई प्रभाव नही पड़ा। मदोदरी के द्वारा वर्णित श्रीराम का विराट् स्वरूप सर्वथा तात्त्विक है .

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान॥

किन्तु रावण ने इस वर्णन को अपने-आपसे जोड़ लिया। उसे लगा कि मदोदरी ने राम के बहाने उसी के स्वरूप का वर्णन किया है :

जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई॥
तब बतकही गूढ़ मृग-लोचनि। समुझत सुखद सुनत भय-मोचनि॥

राम-कथा के प्राकट्य के लिए अन्त.करण की अपेक्षा है जिसमे प्रभु के प्रति सच्ची श्रद्धा-भावना विद्यमान हो। जिसे उनकी प्रतिकूल प्रतीत होने वाली लीलाओ मे भी गुणो का साक्षात्कार हो। भगवान् शिव का स्वभाव तो इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। वे श्रीराम के रुदन मे सच्चिदानदत्व का साक्षात्कार करते है

जय सच्चिदानंद जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज-नसावन॥

सुग्रीव पर क्रुद्ध श्रीराम के क्रोध मे भी उन्हे दिव्य रहस्य की अनुभूति होती है ·

जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥

वक्ता के अन्त.करण मे जहाँ पर अनसूया का निवास होना चाहिए, वहाँ श्रोता के हृदय मे अत्रि की उपस्थिति आवश्यक है। अत्रि के अन्त करण मे गंगा स्नान की तीव्र उत्कठा थी। अत्रि की ही भाँति जब श्रोता भी भक्ति की उपलब्धि के लिए व्यग्र होता है, तब राम-कथा के रूप मे उसके लिए भक्ति सुलभ हो जाती है।

चित्रकूट मे स्थित पर्वत की तुलना गोस्वामीजी अचल चित्त से करते है। चचल चित्त से राम-कथा का रस नही लिया जा सकता। इसलिए शान्त चित्त के माध्यम से ही राम-कथा का सच्चा लाभ प्राप्त होता है। चंचल गरुड़ जिज्ञासा से प्रेरित होकर भगवान् शिव से मिले। उस समय वे कुवेर के घर की ओर जा रहे थे। गरुड ने प्रश्न किया, किन्तु राम-कथा के परमाचार्य होते हुए भी, शकरजी ने उन्हे यह कहकर काकभुशुण्डि के पास भेज दिया कि चलते हुए मार्ग मे तुम्हें राम-कथा नही सुनाई जा सकती .

मिलेउ गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावउँ तोही॥

मार्ग के स्थान पर वे अचल सुमेरु पर स्थित काकभुशुण्डि से कथा-श्रवण का आदेश देते है। इसका तात्पर्य यही है कि जब वक्ता और श्रोता दोनो शान्त चित्त से कथन और श्रवण करते है, तभी अन्तःकरण की भ्रान्ति का निवारण होकर भगवद्रस की अनुभूति हो पाती है।

अयोध्या के भव्य भवनो का परित्याग कर जब श्रीराम चित्रकूट मे पधारे, तब वहाँ की वनश्री ने उन्हें मुग्ध कर लिया। वहाँ निर्मित पर्णकुटी मे रहकर वे अयोध्या के आनन्द को भी भूल गए :

क्यों कहौं चित्रकूट गिरि सम्पति, महिमा मोद मनोहरताई।
तुलसी जहँ बसि लखन राम सिय आनँद अवधि अवध बिसराई॥

इसी चित्रकूट की वनश्री को गोस्वामीजी स्नेह-वन के रूप में देखते हैं। पूजा के विविध उपकरणों से जब मंदिर मे कोई व्यक्ति भगवान् की पूजा करता है, तब उसकी तुलना अयोध्या से की जा सकती है। किन्तु जब राम-कथा के माध्यम से अन्तःकरण मे स्नेह का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब चित्रकूट की ही भाँति श्रीसीताराम श्रोता के अन्तःकरण मे विविध लीलाओं का रस प्रकट करते हैं और तब श्रोता का अन्तःकरण प्रभु की विहार भूमि बन जाता है।

॥ श्रीराम: शरण मम ॥

सवत सोरह सै एकतीसा।
करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।।
नौमी भौमबार मधुमासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।

अर्थ—सवत् सोलह सौ इकत्तीस को भगवान् के चरणों को हृदय मे धारण करके कथा करता हूँ। नवमी, मगलवार, वसन्त ऋतु मे अयोध्यापुरी में यह चरित्र प्रकाशित हुआ।

मानस-चतु शती के संदर्भ मे इस पक्ति का असाधारण महत्त्व है। गोस्वामीजी कालक्रम और तिथियो के प्रति अत्यन्त उदासीन रहे है। सारे रामचरितमानस के कथा-प्रसग मे एकमात्र जिस तिथि का उन्होने उल्लेख किया है, वह है 'रामजन्म' की तिथि। सत्य तो यह है कि इस तिथि के उल्लेख मे किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति भी नही है। राम-नवमी के रूप मे यह तिथि सारे भारत मे प्रसिद्ध थी। इसका उल्लेख यदि वे न भी करते तो इससे कोई अन्तर नही पडता। हाँ, अन्य तिथियो का उल्लेख होने पर वे लोगो के काल-ज्ञान मे सहायक सिद्ध होती; किन्तु गोस्वामीजी के अन्तर्मन मे इतिहास के प्रति कोई विशेष आकर्षण नही था। उनके लिए श्रीराम पुराण या त्रेतायुग के बीते हुए पात्र नही है। वह तो उनके शाश्वत विद्यमान रहने वाले राम है। मानस मे इतिहास की ही तरह भूगोल की भी उपेक्षा हुई है। सारी पुराण-गाथा मे श्रीराम ही एक ऐसे अवतार है जिन्होने सबसे लम्बी यात्राएँ की है। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक तो वे पैदल यात्रा करते है। समुद्र पार करके वे लका मे प्रवेश करते है। किन्तु मानस मे इसका वर्णन ऐसी पद्धति से किया गया है कि उससे किसी भौगोलिक ज्ञान की उपलब्धि नही होती। स्थूल भूमि की अपेक्षा मार्ग-निवासियो की भावात्मक भूमि का वर्णन करने मे वे अधिक रस लेते है। उन्हे इस विवाद मे पडना अभीष्ट नही है कि प्रभु ने वस्तुत किन मार्गो से लका तक की यात्रा पूरी की। उनके लिए तो पथिक श्रीराम की वन-यात्रा अपने धाम का पथ दिखाने के लिए ही है। उनकी एकमात्र आकाक्षा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी हृदय-भूमि मे श्रीराम को वसा ले·

अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहिं लखन सिय राम बटाऊ।
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कवहुँ मुनि कोई।।

भूगोल और इतिहास की इस उपेक्षा-वृत्ति के होते हुए भी, गोस्वामीजी ने यदि किन्ही तिथियो और स्थानो का उल्लेख किया, तो इसे असाधारण अपवाद के रूप मे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। यह अपवाद ही आज चतु शती के रूप मे

देश के सौभाग्य का हेतु वन गया है। चारसौवें वर्ष की स्मृति मे ही सही, मानस के अध्ययन, मनन, चिन्तन, प्रकाशन आदि को इससे एक गति प्राप्त हुई है; और यह इसीलिए सम्भव हुआ कि उन्होने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे "सम्वत सोरह सौ एकतीसा" का उल्लेख किया, किन्तु उन्होने जिन शब्दो मे इस काल-क्रम का वर्णन किया है, उसमे कुछ अस्पष्टता की-सी अनुभूति होती है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि उपर्युक्त चौपाइयो मे जिस तिथि का उल्लेख किया गया है, वह मानस-रचना के श्रीगणेश की तिथि है अथवा उसके प्रकाशन की ? अधिकाश विद्वानो की यह धारणा है कि यह रचना प्रारम्भ करने की तिथि है। यदि यह रचना की प्रारम्भिक तिथि है तो यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि इस रचना के निर्माण की प्रक्रिया कितने दिनो मे सम्पन्न हुई ? यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की किसी तिथि का उल्लेख मानस मे प्राप्त नही होता। मुझे यह प्रतीत होता है कि इस तिथि का सम्वन्ध न तो रचना के प्रारम्भिक दिन से है और न तो समापन से। यह आज की भाषा मे प्रकाशन या विमोचन की तिथि है। इस तिथि के पहले ही गोस्वामीजी मानस-रचना का कार्य पूर्ण कर चुके थे। श्रीरामनवमी की मगलमयी वेला मे जब चारों ओर से सन्त-समाज का आगमन हुआ, तब उसके समक्ष उन्होने कथा-वाचन के रूप मे इसे प्रस्तुत किया। उपर्युक्त पक्तियो के साथ-साथ उसके आस-पास की पक्तियो से भी इसी विश्वास की पुष्टि होती है

करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
× ×
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
× ×
विमल कथा करि कीन्ह अरम्भा।
सुनत नसाहिं काम मद दम्भा॥
× ×
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई।
सादर सुनहु सुजन मन लाई॥

इन पक्तियो मे प्रयुक्त शब्दो से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कथा रामनवमी को श्रोताओ को सुनाई जा रही है। गोस्वामीजी की भाव-भूमि का अध्ययन करने पर भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

भक्ति-शास्त्र की मान्यता के अनुकूल रामचरितमानस एक साधारण ग्रन्थ मात्र नही है। इसे वे प्रभु का वाङ्मय-रूप विग्रह मानते है। भगवान् राम की ही भाँति उनके नाम, चरित्र और धाम को भी प्रभु का ही पूर्ण रूप स्वीकार किया जाता है। अत जैसे श्रीराम का प्राकट्य होता है, उसी तरह राम-कथा का भी अवतरण होता है। भगवान् श्री राघवेन्द्र के अवतरण की ही भाँति राम-कथा का अवतरण भी ठीक उसी तिथि को होना कोई आश्चर्यजनक नही है।

इस सन्दर्भ मे देखना यह है कि श्रीराम के अवतार की पृष्ठ-भूमि क्या थी ?

रावण के अत्याचार से सारा समाज संत्रस्त हो उठा, तब पृथ्वी, मुनि और देवता एक-स्वर से स्तुति करते हुए प्रभु के समक्ष अपनी विपत्ति रखते है। आकाशवाणी से प्रभु ने निर्भयता का सन्देश दिया :

जनि डरपहु मुनि सिद्धसु रेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब वर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥
नारद बचन सत्य सब करिहऊँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥
गगन ब्रह्म बानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना॥

गोस्वामीजी के समय मे भी देश की सामाजिक परिस्थिति ठीक इससे मिलती-जुलती ही थी। सारा समाज दरिद्रता के दशानन से सन्त्रस्त हो रहा था। यह दरिद्रता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे परिव्याप्त थी। अकबर की एक श्रेष्ठ शासक के रूप मे प्रशसा की जाती है, किन्तु प्रशसा का तथ्य इतना ही है कि वह अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती शासको की तुलना मे धार्मिक दृष्टि से अधिक सहिष्णु था एवं सगीत-साहित्य का पारखी था। उसकी सभा मे विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति थे। किन्तु जन-साधारण आर्थिक दृष्टि से कितनी दयनीय स्थिति मे था, इसका चित्र गोस्वामीजी की इन पक्तियो मे प्राप्त होता है :

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग, सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सौं कहाँ जाई, का करी।
बेदहूँ पुरान कही लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु,
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी॥

आर्थिक दृष्टि से दरिद्रता तो थी ही, मानसिक दृष्टि से लोगो मे हीन भावना का होना भी स्वाभाविक था। क्योकि यहाँ की बहुसख्यक जनता एक अल्पसख्यक वर्ग के समक्ष पराजित और शासित थी। पराजित जातियो का एक सहज मनो-विज्ञान यह होता है कि उन्हे अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप मे कमी दिखाई देने लगती है। उनकी आस्थाए खण्डित हो जाती हैं। वे परस्पर सघर्षरत हो जाती है।

गोस्वामीजी आर्थिक दरिद्रता के निवारण मे कोई राजनैतिक या आर्थिक भूमिका सम्पन्न करने की स्थिति मे नही थे। तत्कालीन समाज मे उसका कोई मार्ग शेष नही था, परन्तु उन्हे लगा कि अभावजन्य दरिद्रता तो समय पाकर मिट ही जाएगी, किन्तु आन्तरिक दारिद्र्य से पीडित समाज तो पूरी तरह समाप्त

हो जाएगा। इस दारिद्र्य-दशानन के वध के लिए रामचरितमानस के अवतरण की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव किया। मानव जाति के आदिपुरुष मनु सर्व-प्रथम राम के दर्शन के लिए तपस्या मे सलग्न हुए। उन्होने राम का साक्षात्कार किया। पर जब उन्होंने प्रभु से पुत्र बनने की प्रार्थना की, तब इसके लिए उन्हे प्रतीक्षा का आदेश मिला, "जब आप त्रेतायुग मे महाराज श्रीदशरथ के रूप मे जन्म लेगे, तब मै आपका पुत्र बनूगा," यह वर देकर प्रभु अन्तर्धान हो गए .

अब तुम मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी ॥
तहँ करि भोग बिसाल, तात गए कछु काल पुनि।
होइ-हहु अवध भुआल, तब मै होब तुम्हार सुत ॥

लगता है रामकथा के अवतरण मे भी इससे ही मिलता-जुलता इतिहास दुहराया गया। आदिपुरुष मनु की भाँति आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम रामचरित्र के अवतरण का कार्य सम्पन्न किया। किन्तु यह महामानव समस्त गुण-गण-निलय राम थे। मनु के राम की ही भाँति इनके चरणो मे दण्डवत् प्रणाम किया जा सकता था, पर उस सामीप्य की अनुभूति सभव नही थी, जो एक पिता बालक को दुलारते हुए गोद मे उठाकर पाता था। मनु यदि इस सुख की उपलब्धि के लिए दशरथ बने, तो महर्षि वाल्मीकी भी तुलसी बनकर इसी रस की प्राप्ति और उसके वितरण का कार्य सम्पन्न करते है। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति जन और बुध दोनो मे यही भावना प्रचलित थी। स्वय गोस्वामीजी स्वीकार करते है कि तत्कालीन समाज ने उन्हे महामुनि वाल्मीकि के रूप मे देखा :

जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागि बस,
खाए टूक सबके, बिदित बात दुनी सो।
मानस बचन कायँ, किए पाप सति भायँ,
राम को कहाइ दासु, दगाबाजु पुनी सो ॥
राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा, प्रतापु,
तुलसी सो सठ मानिअत महामुनि सो।
अति ही अभागो, अनुरागत न राम पद,
मूढ़ एतो ! बड़ो अचरजु देखि सुनी सो ॥

महाराज मनु ने अकेले श्रीराम का साक्षात्कार किया था तो दशरथ के रूप मे वे अपने प्रागण मे ब्रह्म के चार रूपो का साक्षात्कार करते है। वाल्मीकि रामायण की तुलना मे रामचरितमानस के चार घाट भी इसी सादृश्य की एक कड़ी के रूप मे देखे जा सकते है। दोनो का अवतरण श्रीअवध मे हुआ। गोस्वामी जी की भाषा मे यदि त्रेतायुग की चैत्र-शुक्ल नवमी को राम का प्राकट्य हुआ था, तो सोलह सौ इकत्तीस विक्रमीय की नवमी को 'रामचरितमानस' प्रकाशित हुआ। प्रभु के रूप के लिए वे 'प्रकट' शब्द का प्रयोग करते है और चरित्र के लिए 'प्रकासा' शब्द का :

सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ। जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ॥

× ×

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

उपर्युक्त तिथि को मानस-रचना की प्रारम्भिक तिथि मानना न तो पद्धति की दृष्टि से उचित है और न भावनात्मक दृष्टि से ही। यदि गोस्वामीजी रचना की प्रारम्भिक तिथि का उल्लेख करते तो उपसंहार में वे रचना के समापन की तिथि का उल्लेख भी अवश्य करते। यदि दोनो तिथियो मे से एक का ही उल्लेख अभीष्ट होता तो समापन की तिथि ही इसके लिए अधिक उपयुक्त होती।

रचना और समापन, दोनों ही तिथियो का उल्लेख करना वे आवश्यक नही मानते। इस विपय मे वे राम-जन्म की परम्परा का ही पालन करते है। प्रभु के गर्भ मे आने का उल्लेख वे अवश्य करते है पर उसकी कोई तिथि नही बताई गई :

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥

सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ। जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ॥

कितने मास प्रभु गर्भ मे रहे, इसका वर्णन भी वे अनावश्यक मानते है। मानस-रचना का काल भी 'गर्भ-स्थित' प्रभु के सदृश ही अप्रकट है। वस, इतना ही यथेष्ट है कि दोनो के अवतरण की तिथि एक है। लगता है, 'रामचरितमानस' की रचना काशी मे की गई और पूर्ण होने के वाद श्रीरामनवमी के पुनीत अवसर पर वे श्री अवध-धाम मे पधारे और सन्त-समाज के बीच उन्होने इसे कथा के रूप मे प्रस्तुत किया :

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥

× ×

विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥

यह भावनात्मक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। मानस के मूल आचार्य भगवान् शिव है, अत उनकी पुरी मे रहकर मानस का प्रणयन स्वाभाविक था। और प्रभु के अवतरण की भूमि श्री अवध है इसलिए वे उनके 'वाङ्मय-विग्रह' को भी सर्वप्रथम वही प्रकट करते है। मानस-रचना के वाद कुछ पक्तियाँ उसमे उसी रूप मे रामनवमी को जोड दी गई, जैसे ग्रथ के साथ भूमिका जोड़ी जाती है। भूमिका ग्रथ मे भले ही प्रारम्भ मे प्रकाशित होती है, पर वहुधा वह लिखी वाद में ही जाती है।

चार सौ वर्ष पूर्व तुलसी के माध्यम से प्रभु का यह शव्दमय विग्रह प्रकट हुआ और अभी मानस-युग चल ही रहा है। प्रभु रूपमय विग्रह के रूप मे १३००० (तेरह हजार) वर्ष तक प्रत्यक्ष रहे; किन्तु उनका शव्दमय विग्रह सर्वदा प्रकट रहता है। 'राम-राज्य' ही श्रीराम के अवतार की पूर्ण परिणति थी और वह तभी सभव हुआ, जव रावण का विनाश हो गया। गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' की चरम सार्थकता भी इसी मे है कि वह दरिद्रता के दशानन से समाज को मुक्त कर सके। राम-राज्य की स्थापना का महत् कार्य सरल नही था। महाराज श्रीदशरथ

चाहकर भी राम-राज्य की स्थापना अपने सामने नही कर पाए थे। उसके लिए श्रीराम ने अयोध्या से लेकर लंका तक की लम्बी यात्रा की, प्रत्येक वर्ग से उन्होने मैत्री की स्थापना की। वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्त करण मे यह अनुभव करा देना चाहते थे कि यह राम-राज्य वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति का अपना राज्य है, और इसी की स्थापना मे उसे भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। इसमे प्रेरक रूप में देवता और मुनि तो थे ही, पर इस कार्य मे मुख्य भूमिका वन्दरो की ही थी। रामचरितमानस का प्रचार प्रत्येक वर्ग मे होना चाहिए, किन्तु उसकी समग्र भूमिका तो तभी सम्पन्न होगी, जब साधारण-से-साधारण जन भी उसका अनुगमन कर सके। मानस मे वर्ग-भेद तो स्वीकार किया गया है, किन्तु वर्ग-संघर्ष के स्थान पर उसमे इनको परस्पर मिलाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। श्रीराम के विशाल व्यक्तित्व ने सेतु वनकर इस भूमिका को सम्पन्न किया। वही कार्य आज रामचरितमानस के द्वारा सम्पन्न होना चाहिए।

वन की ओर प्रस्थान करते हुए भगवान् राम ने जव केवट से नौका की याचना की, तव उसका उद्देश्य केवल नदी की धारा को पार करना ही नही था। इसका तात्पर्य केवट मे यह आत्म-विश्वास उत्पन्न करना था कि इस महान् यात्रा मे उसकी साधारण भूमिका नही है। हमारी श्रद्धा श्रीराम को पूर्ण ईश्वर के रूप मे देखती है। वे सारे ब्रह्माण्ड को ढाई पग मे नाप लेते है। उन्हे इस नन्ही धारा को पार करने के लिए किसी नौका या केवट की आवश्यकता नही थी। तुलसी कवितावली रामायण मे आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते है :

नाम अजामिल ते खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर वारिधि वाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद-पंकज ते प्रगटै तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिवे कहँ माँगत नाव करार ह्वै ठाढ़े॥

किन्तु राघवेन्द्र केवट के उस दैन्य को मिटा देना चाहते थे, जिसे समाज ने उस पर लाद दिया था। वह धन की दृष्टि से ही नही, हर तरह से हीन कर दिया गया था। वह अस्पृश्य था—"जासु छाँह छुई लेइय सीचा।" वह किसी राजा के समक्ष मुख खोलने की कल्पना भी नही कर सकता था। श्रीराम सत्ता को छोड़कर रामराज्य की स्थापना करते है। यह एक नई दृष्टि थी जो उन्होंने समाज को प्रदान की। वे राजा के रूप मे यात्रा करते हुए मानसिक क्रान्ति का वह महान् कार्य सम्पन्न नही कर सकते थे, जिसे उन्होने 'तापस-वेश' मे पूरा किया। वे केवट के निकट पहुँचते है, उसे स्नेह और अपनत्व प्रदान करते है। देवभाषा की राज्यश्री का परित्याग कर राम-कथा का ग्राम्य भाषा मे उतर आना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए था। देवभाषा के प्रासाद मे प्रत्येक व्यक्ति प्रविष्ट नही हो सकता था। स्वर्ण-सिंहासनासीन श्रीराम लोगो के अन्त करण मे आदर उत्पन्न कर सकते थे, किन्तु सामीप्य की वह अपनत्व-भरी अनुभूति, जो उन्होने वन-पथ मे केवट को अपने निकट वैठाकर प्रदान की, राजा के रूप मे सम्भव नही थी :

सहज सनेह बिबस रघुराई । पूछी कुसल निकट बैठाई ॥

ग्राम्य भाषा मे रामचरित्र में इसी अपनत्व की अनुभूति जनता को प्राप्त हुई। वैभव, वस्त्र और आभूषण का परित्याग कर, श्रीराम को वन जाते देखकर लोगो को न जाने कैसा प्रतीत होता था। उदासी-वेश मे श्रीराम की कल्पना ही उनके लिए असह्य थी इसके लिए महाराज श्रीदशरथ की अनगिनत लोगों ने आलोचना की। कैकेयी तो लोगों के आक्रोश की पात्र थी ही, पर आलोचना के मध्य भी एक स्वर गूज उठा—एक ग्रामवासी ने कहा कि महाराज श्रीदशरथ भले है—यदि उन्होने इन्हे वन न भेज दिया होता तो हमारे नेत्र कैसे सफल होते :

कहहिं एक अति भल नर नाहू । दीन्ह हमहिं जोइ लोचन लाहू ॥

राम-कथा को ग्राम्य भाषा मे प्रस्तुत किए जाने पर गोस्वामीजी को भी अनगिनत लोगो की आलोचना सुननी पडी थी। देव-भाषा का दिव्य वैभव, काव्य की छटा, अलकारों का दिव्य प्रवाह, उससे पृथक् ग्राम्य भाषा में रामचरित्र कैसा लगेगा, इसकी आशंका न जाने कितने व्यक्तियो के हृदय में रही होगी। क्योकि उनकी धारणा थी कि वस्त्र व आभूषण से व्यक्ति की शोभा बढती है। किन्तु क्या वनवासी वेश मे श्रीराम के सौन्दर्य मे न्यूनता आ गई थी ? गोस्वामीजी को ऐसा लगा कि वस्त्र और आभूषणो को हटा देने पर राघवेन्द्र का सौन्दर्य उसी रूप में झलक उठेगा जैसे काई को हटा देने पर जल :

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीरु लस्यो तजि नीरु ज्यों काई ।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभायँ सनेह सगाई ॥
संग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई ।
राजिव लोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाऊ की नाईं ॥

राम-कथा के साथ भी यही कुछ हुआ। जिनके अन्त.करण मे यह भय था कि वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास आदि की दिव्य देव-भाषा से अलकृत राम-कथा की तुलना मे तुलसी के 'गिरा ग्राम्य सिय राम जस' मे वह आकर्षण कहाँ होगा, किन्तु समय ने उन्हें भी यह बता दिया कि उनकी यह आशंका कितनी निर्मूल थी। कभी-कभी वस्त्रालंकार हमारी दृष्टि को इतना उलझा लेते है कि उसके अतराल मे छिपे हुए सौन्दर्य को सहज रूप मे देख पाना कठिन हो जाता है। आभूषणों का सौन्दर्य हमे व्यक्ति के स्थान पर आभूषण-निर्माता के कौशल की ओर ले जाता है। काव्य के रचयिता का पाण्डित्य भी कभी-कभी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न कर देता है। किसी महाकाव्य को पढते हुए यदि हमारी दृष्टि नायक के स्थान पर काव्य-कौशल की ओर अधिक जाती हो, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह किसी कवि की सफलता है ? यदि किसी रचनाकार का उद्देश्य अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन हो तो उसको उसमे सफलता की अनुभूति हो सकती है। किन्तु एक भक्त के लिए यह स्थिति सर्वथा असह्य होगी। रचना का वास्तविक उद्देश्य नायक को ही पाठक के अन्त.करण मे प्रतिष्ठापित करना होना चाहिए। गोस्वामीजी का दृष्टिकोण वस्तुत. यही था। उन्होंने अपने काव्य-कौशल के चमत्कारो से पाठक

का अन्त करण अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा नही की; अपितु इसके स्थान पर उन्होने श्रीराम के सौन्दर्य, शील और सामर्थ्य की दिव्य मूर्ति जन-मन मे स्थापित की। -

सवत् सोलह सौ इकत्तीस की नौमी तिथि इतिहास की अन्य तिथियो की अपेक्षा अपना भिन्न रूप प्रस्तुत करती है। इतिहास राजा-रानियो के जन्म और मृत्यु की तिथियो की याद दिलाता है। उनके द्वारा लडी जाने वाली लडाइयो की तिथिया भी उसके लिए बडे महत्त्व की बात है, पर इन तिथियो का महत्त्व तो केवल उन विद्यार्थियो के लिए है जो परीक्षा मे उत्तीर्ण होना चाहते है। साधारण जन-समाज के लिए उनका कोई महत्त्व नही है। पर 'सवत सोलह सौ एकतीसा' की यह तिथि तो शाश्वत इतिहास के उस पक्ष को प्रस्तुत करती है जो अनगिनत युगों तक हमारे जीवन को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

रचि महेस निज मानस राखा।
पाव सुसमउ सिवा सन भाषा॥
तातें राम चरित मानस बर।
धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥

अर्थ—भगवान् शकर ने अपने मन मे राम-चरित की रचना करके उसे रख लिया तथा सुन्दर समय पाकर पार्वती को सुनाया। महेश ने हर्षित हृदय से विचार करके इसका नाम 'रामचरितमानस' रखा।

भारतीय वाङ्मय मे भगवान् राम एक ऐसे नायक रहे है, जिन्हें अनेक मनीषियो और कवियो ने काव्य का केन्द्र बनाया। श्रीराम-सम्बन्धी अधिकांश ग्रन्थो का प्रचलित नाम रामायण है। केवल विभिन्न रामायण के अलगाव के लिए इस शब्द के साथ कोई अन्य शब्द भी जोड़ दिया जाता था। 'वाल्मीकीय रामायण', 'अध्यात्म-रामायण', 'भुशुण्डि-रामायण', 'लोमश-रामायण', 'अगस्त-रामायण', 'आनन्द-रामायण', 'महारामायण', 'अद्‌भुत-रामायण' आदि नाम इसी परम्परा को प्रकट करते है। किन्तु 'रामचरितमानस' इस परम्परा से हटकर एक नये प्रकार का नाम था। इसीलिए तुलसीदास को यह उचित जान पडा होगा कि इस नामकरण का इतिहास पाठक और श्रोता के सम्क्ष प्रकट कर दे।

सर्वप्रथम यह स्मरण दिला देते है कि इस ग्रन्थ के मूल रचयिता वे नही है और न तो उन्होने इसका नामकरण ही किया है। भगवान् शकर द्वारा रचित यह दिव्य ग्रन्थ उन्हे परम्परा से प्राप्त हुआ :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समसीला। सँवदरसी जानहिं हरि लीला॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल-गत आमलक समाना॥
औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥
मै पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
श्रोता बकता ग्यान निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मै जीव जड़, कलिमल-ग्रसित बिमूढ़॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषाबद्ध करब मै सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

इस तरह अपनी दृष्टि से वे 'रामचरितमानस' के रचयिता न होकर अनु-

वादक मात्र है। इसीलिए वे सम्वत् १६३१ को इस ग्रन्थ के रचना-काल के रूप में प्रस्तुत नही करते—वह तो उनकी दृष्टि मे 'रामचरितमानस' की कथा के प्रकाशन की तिथि है

सम्वत् सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

इस सन्दर्भ मे विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सोलह सौ इकत्तीस (१६३१) 'रामचरितमानस' के प्रकाशन की तिथि है। लगता है, इस विशेप पर्व पर एकत्रित सन्त-समाज के समक्ष, गोस्वामीजी ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ की कथा प्रस्तुत की। आज की भाषा मे कहे तो यह ग्रन्थ-विमोचन की तिथि थी, न कि लेखन की। चतु शती को लेकर जिनके अन्त करण मे लेखन-तिथि की भ्रान्ति हो, उन्हे उपर्युक्त पक्तियो का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर इसे मिटा लेना चाहिए। फिर भी यह जिज्ञासा की जा सकती है कि इस ग्रन्थ की रचना की तिथि क्या है? यह पहले ही स्पष्ट किया चुका है कि गोस्वामीजी स्वय को ग्रन्थ का रचयिता नही मानते। अनुवाद की तिथि का उल्लेख वे अनावश्यक मानते है। किन्तु यह प्रश्न तो शेप ही रह जाता है कि यदि इसके रचयिता भगवान् शिव है तो उन्होने इसकी रचना किस समय की? गोस्वामीजी ने भगवान् शिव के द्वारा लिखित इस रचना की किसी तिथि का उल्लेख नही किया। इसके पीछे छिपी हुई भावना को हृदयंगम करने के लिए मानस के तात्त्विक पक्ष को समझ लेना आवश्यक है।

भूतभावन शिव और तुलसीदास, दोनो की यह सुदृढ मान्यता है कि श्रीराम एक व्यक्ति न होकर साक्षात् ईश्वर है। इसीलिए एक व्यक्ति के इतिहास की भाँति श्रीराम का चरित्र प्रस्तुत नही किया जा सकता। एक व्यक्ति जन्म लेकर कुछ वर्षो के पश्चात् मृत्यु का ग्रास वन जाता है। उसके जीवन मे जो घटनाएँ घटती है, उसी को इतिहास के रूप मे रखा जाता है। वह व्यक्ति पुन उसी रूप मे लौटकर पृथ्वी पर नही आता। किन्तु तुलसी के श्रीराम प्रत्येक कल्प मे अवतरित होते है

कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करही॥
तव-तव कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥

अलग-अलग रामायणो मे दिखाई देने वाली विविधता का वे वडा सार्थक उत्तर देते है। यदि एक व्यक्ति का इतिहास अनेक इतिहासकार लिखे तो उनके घटनाक्रम मे कोई भिन्नता नही होती। घटनाक्रम के विश्लेपण को लेकर भिन्नता हो सकती है। श्रीराम के चरित्र को लेकर यदि इतिहास की दृष्टि से विवेचन करे, तो उसमे यही असगति सामने आती है कि विविध रामायणो के घटनाक्रम मे भी अलगाव क्यो है? इसका उत्तर केवल इतिहास की दृष्टि से प्राप्त नही हो सकता। इसके स्पष्टीकरण के लिए गोस्वामीजी ने 'लीला' शब्द का आश्रय लिया है। 'लीला' शब्द का तात्पर्य है . नाटक मे किया जाने वाला क्रियाकलाप। व्यक्ति पूर्व कर्मो से प्रेरित होकर जन्म लेता है। उसके द्वारा होने वाले क्रियाकलाप मे उसके

सस्कार और कर्मो का हाथ होता है। किन्तु ईश्वर के साथ यह वाध्यता नही है; वह अपनी इच्छा से अवतरित होता है :

निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग सब, रहहिं मोच्छ सुख त्यागि॥

इस स्थिति की तुलना अभिनेता के क्रिया-कलाप से की जाती है। रंगमच पर अभिनेता का पद स्वीकार करना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। प्रभु भी भक्तो के आग्रह पर विश्व-रगमच पर वार-वार अवतरित होकर अपना नाट्य प्रस्तुत करते है।

इस सदर्भ मे 'रामचरितमानस' के रचना-काल पर विचार किया जाना चाहिए। वाल्मीकि रामायण के विषय मे यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि उसकी रचना श्रीराम के अवतार से पहले की गई है। श्रद्धालु पाठक के लिए इसमे कोई असंगति नही प्रतीत होती। उसकी दृष्टि मे मुनि त्रिकालज्ञ होते थे। अत भविष्य की घटना का साक्षात्कार करते हुए वे उसे वर्तमान मे प्रस्तुत कर सकते थे। बौद्धिक विचार के व्यक्ति इसे असंगत मानते है। मूल रामायण से भी इसी पक्ष की पुष्टि होती है। 'मूल रामायण' ही वाल्मीकि रामायण का मूलाधार है। उसके अनुसार वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से किसी महान् व्यक्ति का चरित्र जानना चाहा था जिसमे समस्त गुण एक साथ निवास करते हो। इसके उत्तर मे नारद ने श्रीराम का नाम लेते हुए उनकी कथा सुनाई। महर्षि वाल्मीकि ने इसी कथा का विस्तार किया। वाल्मीकि का प्रश्न 'कोन्वस्मिन्' शब्द से प्रारम्भ होता है

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत॥

अर्थात्—इस समय ससार मे क्या कोई ऐसा गुणवान् व्यक्ति है कि जो बल से सम्पन्न होने के साथ-साथ धर्मात्मा, सत्यवादी, कृतज्ञ और अपने व्रत मे सुदृढ रहने वाला हो?

यह प्रश्न राम की समकालीन स्थिति को प्रगट करता है। किन्तु भगवान् शकर के द्वारा रचित 'रामचरितमानस' के रचना-काल के विषय मे, मेरी सुनिश्चित मान्यता है कि वह श्रीराम के अवतार के पूर्व ही निर्मित हुआ। इसके समर्थन के लिए मैं भगवान् शकर की त्रिकालज्ञता की दुहाई नही देना चाहूँगा। भगवान् शकर ने सारे रामचरित्र को लीला (नाटक) के रूप मे प्रस्तुत किया है। इतिहास व्यक्ति के वाद लिखा जाता है, किन्तु नाटक तो लिखे जाने के पश्चात् ही खेला जाता है।

भगवान् शंकर ने 'रामचरितमानस' के रूप मे एक महानाट्य की रचना प्रस्तुत की, और त्रेतायुग मे अवतरित होकर भगवान् राम ने उसे विश्व-रगमच पर प्रस्तुत किया।

भावनात्मक दृष्टि से भी यही उपयुक्त है। क्योकि ब्रह्म अपने भक्तों की आकाक्षा पूर्ण करने के लिए मनुष्य-शरीर ग्रहण करता है।

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवस सगुन सो होई ॥

ईश्वर अनीह है, उसमें कोई इच्छा नही होती। वह भक्तों की इच्छा को ही अपनी इच्छा वना लेता है। लीला-दर्शन की आकाक्षा भी भक्तो के हृदय और नेत्र की माग है। अत' यह स्वाभाविक है कि वह अपनी लीला भी उसी रूप मे प्रस्तुत करे जिस रूप मे भक्त चाहता है। अरण्यकाण्ड में एक वडा ही विलक्षण दृश्य उपस्थित हो जाता है। सीता के वियोग मे व्याकुल श्रीराम का चित्र प्रस्तुत करने के पश्चात् भगवान् शकर पार्वती के समक्ष एक दूसरा चित्र भी प्रस्तुत करते हैं, जिसमे परम प्रसन्न मन से वे वृक्ष की छाया मे विराजमान है :

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला ॥

और दूसरे ही क्षण परिवर्तित राम का एक दूसरा ही स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। देवर्षि नारद भगवान् श्रीराघवेन्द्र के दर्शन के लिए आते हैं। उन्हे विरह-विषादयुक्त श्रीराघवेन्द्र का ही दर्शन होता है। इसमें जो परस्पर-विरोधाभास है, उसका निराकरण 'लीला' शव्द के माध्यम से ही किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से सीता का वियोग वास्तविक नही था। रगमच पर वियोग की लीला प्रस्तुत की गई। अभिनेता का उस समय रुदन करना स्वाभाविक ही है। किन्तु यवनिका का पटाक्षेप होते ही वही अभिनेता अपने किसी दूसरे अभिनेता मित्र से प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप कर रहा हो, यह भी स्वाभाविक है—विशेप रूप से जव उस अभिनेता को अपने अभिनय में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई हो। श्रीराम की प्रसन्न मुख-मुद्रा का रहस्य भी यही है।

पार्वती पूर्वजन्म मे सती के रूप मे इसी नाट्य को देखकर भ्रमित और चकित हो चुकी हैं। यदि कोई दर्शक नाटक को इतना वास्तविक मान ले कि दु.खद दृश्य उसे शोकार्त्त वना दे और नाटक के वाद भी उससे मुक्त न हो सके, तव उसका चतुर साथी भ्रान्ति दूर करने के लिए यवनिका के पीछे का दृश्य ले जाकर दिखला देता है। वही अभिनेता, जो रंगमच पर करुण विलाप कर रहा था, मुस्कराता हुआ किसी मित्र से वार्तालाप कर रहा है। इस दृश्य को देखते ही भ्रान्त दर्शन की भ्रान्ति दूर हो गई। भगवान् शकर भी पार्वती को मोह-मुक्त करने के लिए "बैठे परम प्रसन्न कृपाला" के रूप मे पर्दे के पीछे का एक दृश्य दिखला देते हैं। पार्वती जी सतुष्ट हो गई। किन्तु अभी नाटक पूरी तरह समाप्त तो हुआ नही था—यह तो मध्यान्तर-जैसा था। पुन यवनिका उठी और विरह का नाट्य समाप्त हो गया। विशेपरूप से जव नारद का आगमन हुआ तव इसकी विशेप आवश्यकता थी, क्योंकि नारद के अभीष्ट नाटक का वह प्रधान दृश्य अवशिष्ट था, जिसमे क्रुद्ध नारद ने उन्हे पत्नी के वियोग मे दु खी होने का शाप दिया था :

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम होव दुखारी ॥

अत' नारद के आगमन पर प्रभु उनके समक्ष स्वय को 'विरहवत' के रूप मे प्रस्तुत करते है। स्वाभाविक ही इस दृष्टात से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीराम चरित्र को मानस मे एक महानाट्य के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसके रचयिता

भगवान शंकर है।

किन्तु प्रारम्भ मे यह रचना किसी लेखनी के द्वारा कागज पर नही लिखी गई थी। इसका निर्माण तो भगवान् शकर के अन्तर्मन मे ही हुआ था। इसीलिए इसका नाम भी 'रामचरितमानस' रखा गया। यह शिव के भाव-राज्य की ओर इगित करने वाला साधन-सूत्र है। वाह्य क्रिया-कलाप से मुक्त कोई व्यक्ति जब अकेला वैठा होता है, तव भी उसके अन्तर्मन मे कोई-न-कोई काल्पनिक दृश्य चलता ही रहता है। यह काल्पनिक चित्र भी कभी-कभी उन अकांक्षाओ का परिचायक है, जिन्हे वह वाह्य जगत् मे पूरी कर पाने मे स्वय को असमर्थ पाता है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह अन्तर्मन मे उठने वाली कल्पनाओ को वाह्य जगत् में भी चरितार्थ करने की चेष्टा करता है। भगवान् शिव के अन्त.करण मे साधारण व्यक्तियो की भाँति अनियंत्रित मनोविलास की स्फुरणा नही होती, किन्तु उनके अन्तर्जगत् मे भी एक सकल्प चलता रहता है। परम तत्त्वज्ञ के रूप मे उन्हे ब्रह्म के निर्गुण-निराकार स्वरूप का वोध है। अचानक उनके अन्त.करण मे एक सकल्प जाग्रत् हुआ—"कितना अच्छा हो कि यह निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार वनकर विश्व मे अवतरित हो और ऐसा चरित्र प्रस्तुत करे जो लोक-मगल के लिए आदर्श वन जाए!" वह आदर्श लीला कौन-सी हो सकती है, इसकी एक रूप-रेखा उनके अन्तर्मन में वनी। यह स्फुरणा ही राम-चरित्र का मूल सूत्र बन गई। निर्गुण ब्रह्म ने सगुण-साकार वनकर भगवान् शकर की कल्पनाओं को साकार रूप प्रदान किया। साकार होने के पहले यह रचना किसी को नही सुनाई गई। किन्तु भगवान् राम के अवतार के पश्चात् शिव ने इसे सर्वप्रथम पार्वती को सुनाया। इस तरह महेश के अन्तर्जगत् की वस्तु, वाणी के माध्यम से, कथा का रूप ग्रहण कर लेती है। पार्वती इसकी प्रथम श्रोता वनी। इसके द्वारा यह संकेत मिला कि श्रद्धा के माध्यम से ही अन्तर्जगत् की इस दिव्य अनुभूति को ग्रहण किया जा सकता है। यही कथा काकभुशुण्डि को भी भगवान् शिव के माध्यम से उपलब्ध होती है। काकभुशुण्डि से याज्ञवल्क्य और पुन. परम्परया गोस्वामीजी के गुरुदेव प्राप्त करते है। अनाथ तुलसीदास गुरु के सान्निध्य मे ही पले। ऐसा वालक जो प्रारम्भ से ही वात्सल्य से वचित रहा हो, जिसे समाज ने अभागा कहकर भी तिरस्कृत किया हो, उसके अन्त करण मे दैन्य और निराशा का कितना अन्धकार व्याप्त रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। इस अनाथ बालक के प्रति सहृदय सत के मन मे करुणा उमड पडी और उन्होने उसे उस दैन्य से मुक्त करने के लिए राम-कथा का ही आश्रय लिया। इस कथा ने ही तुलसी के अन्त करण को प्रकाश से भर दिया। कृतज्ञता के रूप मे मानस के प्रारम्भ मे तुलसीदास ने उन गुरुदेव की वंदना की है जिन्होने उनके अन्त करण के मोहान्धकार को वचन-रविकर से विनष्ट कर दिया -

बंदउँ गुरु पद कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि।
महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रविकर-निकर॥

जिन राम के चरित्र ने उनके इस नैराश्य को दूर किया, वह केवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकते थे। यदि उन्हें यह सुनाया जाता कि त्रेतायुग में सर्वगुण-सम्पन्न एक महापुरुष उत्पन्न हुए थे, तो इसके द्वारा उनके निराश अन्तःकरण को कोई आश्वासन प्राप्त नहीं हो सकता था। उनके समक्ष तो गुरुदेव ने उन श्रीराम का स्वरूप प्रस्तुत किया जो शाश्वत हैं, पूर्ण परब्रह्म हैं—भक्तों की कल्पना को साकार करने के लिए वे बार-बार अवतरित होते हैं। जिन्हें दीन जन अत्यन्त प्रिय हैं, जिनमें पाषाणी अहल्या को चैतन्य करने की सामर्थ्य है—वह अहल्या जो पति से परित्यक्त और लोक से तिरस्कृत थी; वे दीन-हीन केवट को अपना सखा बनाते हैं; जिनके समादर के अधिकारी गीध और शबरी हैं, जो वानरों और भालुओं के बीच उन्मुक्त आनन्द की वर्षा करते हैं और जो प्रत्येक युग में जीव को अपनाते रहते हैं, वही राम उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे। उस अनाथ बालक को लगा कि भले ही भौतिक जगत् के माता-पिता ने उनका परित्याग कर दिया हो, जगज्जननी सीता और जगत्-पिता राम का वात्सल्य उन्हें आज भी प्राप्त हो सकता है। मानस में सुमित्रा अम्बा ने अपने लाड़ले पुत्र से जो वाक्य कहा, वह इन पंक्तियों में साकार हो उठा :

तात, तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥

निश्चित रूप से मानस में प्रस्तुत यह पंक्ति स्वयं गुरुदेव ने अनाथ बालक तुलसी से भी कही होगी। यह पंक्ति उनके जीवन का सम्बल बन गई। अनाथ बालक एक महान् विद्वान् और संत के रूप में वाल्मीकि का अवतार माना जाने लगा—"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित, वाल्मीकि तुलसी भये" कहकर संत नाभादास ने उनकी वंदना की। पर तुलसीदास को वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम ने नहीं, भगवान् शिव के शाश्वत राम ने आश्रय दिया था। भारत के दैन्य और निराशा से ग्रस्त कोटि-कोटि जन-समूह के हृदय में वे इन्हीं राम को सुप्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने वाल्मीकि रामायण के स्थान पर शिव के अन्तःकरण में अभिव्यक्त राम-चरित्र को, काव्य के माध्यम से लोक-मानस में प्रविष्ट कराने का प्रयास किया। किन्तु उस निरभिमानी सन्त ने एक क्षण के लिए भी यह नहीं चाहा कि मौलिक रचनाकार के रूप में उसे सम्मान प्राप्त हो। वह तो स्वयं को अनुवादक-मात्र घोषित करता है। उसने बड़े ही श्रद्धापूर्ण अन्तःकरण से आदि रचनाकार का नाम प्रस्तुत करते हुए पाठक और श्रोता को उसी के प्रति कृतज्ञ होने की प्रेरणा दी है।

'मानस' शब्द दो भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। एक ओर तो वह भगवान् शिव के हृदय से सम्बद्ध है, दूसरी ओर कैलास-शिखर के निकट मानसरोवर से भी उसकी तुलना की गई है, मानस-सर से रामचरितमानस की तुलना का अभिप्राय उसकी पवित्रता, गरिमा और सुन्दरता के साथ-साथ उसकी दुर्लभता की ओर भी इंगित करना है। किन्तु उस दुर्लभ को सुलभ बनाने का एक मार्ग भी गोस्वामीजी खोज लेते हैं। हिमालय में स्थित मानस-सर से ही सरयू

नदी निकलती है। इस तरह नदी के माध्यम से वही जल जनसाधारण के लिए सुलभ हो जाता है। ठीक इसी तरह रामचरितमानस जब तक केवल शिव के हृदय मे था वह साधारण जन के लिए सुलभ न था। तुलसी कविता-सरिता के माध्यम से उसे जन-जन के पास पहुँचाने मे सफल हो जाते है। इस तरह दुर्लभता और सुलभता का एक अनुपम समन्वय प्रस्तुत किया गया है। दुर्लभता के कारण जहाँ वह बुधजनो को आकृष्ट करता है, वहाँ सुलभता के कारण जनप्रिय हो जाता है। किन्तु इसके साथ-साथ 'मानस' शब्द का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में भी हुआ जान पडता है। रामचरितमानस के उपसहार मे काकभुशुण्डि और गरुड़ का सम्वाद उस विशेष तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। गरुड़ के सप्त प्रश्नो मे अन्तिम प्रश्न मानस रोगों से सम्बद्ध है :

मानस रोग कहहु समुझाई।

सप्त प्रश्नो मे काकभुशुण्डि इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर देते है मानो रामचरितमानस के माध्यम से मानस रोगों के निराकरण की पद्धति प्रस्तुत की गई है। शकर के हृदय से अभिव्यक्त होने वाला यह मानस मानव-मन की शाश्वत समस्या का समाधान देता है। व्यक्ति और समाज को स्वस्थ बनाने के लिए यह अनुभूत प्रयोग है। गोस्वामीजी जिस समाज मे रह रहे थे, वह बाह्य विजेताओ से तो आक्रान्त था ही, अपनी आंतरिक दुर्बलताओं के कारण अस्वस्थ और निराश भी था। ऐसी स्थिति मे जब बाह्य जगत् मे आशा की कोई किरण नही दिखाई दे रही थी, तब गोस्वामीजी ने 'राम-रवि' के माध्यम से उस घनीभूत अधकार को दूर करने की चेष्टा की। यह कार्य मात्र ऐतिहासिक राम से सम्भव नही था। इतिहास के रूप मे तो राम-चरित्र समाज मे पहले से ही विद्यमान था। उसे रामभद्र के उदात्त चरित्र का ज्ञान भी था। किन्तु क्या इतिहास के अध्ययन-मात्र से ही व्यक्ति या समाज परिवर्तित हो सकता है? वस्तुत: मुख्य समस्या किसी आदर्श को जानने की नही होती, कठिनाई तो उसे क्रियान्वित करने मे आती है। इसीलिए गोस्वामीजी ने शाश्वत राम का परिचय समाज को दिया, जिनका चिन्तन-ध्यान-जप करने से व्यक्ति वह क्षमता प्राप्त कर लेता है कि जिससे जाने हुए सत्य को वह क्रियान्वित कर सके। किन्तु उनके श्रीराम निराकारवादियो के अन्तर्यामी ब्रह्म ही नही है। वे बाहर भी अवतरित होते है, जो धनुर्धर है और भक्तो की विपत्ति दूर करने के लिए प्रतिक्षण प्रस्तुत रहते है.

राजिव नयन धरे धनु-सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥

उनके राम अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म में समान रूप से प्रेरक है। वे रामचरित्र की मानस-सर के जल से तुलना करते हुए, इस विविधता और पूर्णता की ओर इंगित करते है। सरोवर के निकट व्यक्ति विविध आकांक्षाओं से प्रेरित होकर आता है। कोई सरोवर की शोभा देखने आता है, तो कोई स्नान करने, कोई तैरने आता है, तो कोई जल पीने। सौन्दर्य-प्रिय व्यक्ति को इसमे पुरइन और कमल की शोभा प्राप्त होगी। स्नानार्थी को सगुण-साकार लीला

की स्वच्छता मिलेगी। तैराक के लिए अगुण की गहराई तथा पीने वाले के लिए प्रेम और भक्ति की मिठास प्राप्त होगी :

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी॥

× ×

प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥

× ×

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥

× ×

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥

छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥

इस तरह साहित्य-प्रेमियो को जहाँ वे पुरइन और कमल की शोभा देखने के लिए आमंत्रित करते हैं, वहाँ धर्मप्रधान व्यक्तियो के लिए राम-चरित मे स्नान कर जीवन को स्वच्छ बनाने का सदेश देते है। यदि सगुण-साकारवादी भक्त प्रेम और भक्ति की मिठास का अनुभव करता है, तो निर्गुण-निराकारवादी ज्ञानी अगुण-महिमा की गहराइयो मे गोते लगाता है। इस तरह भगवान् शिव के अन्त.करण से अभिव्यक्त मानस, गोस्वामीजी के द्वारा इतना सुलभ बना दिया जाता है कि वह कोटि-कोटि व्यक्तियो को कृतकृत्य कर देता है।

॥ श्रीराम. शरणं मम ॥

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी।
मधुर मनोहर मंगलकारी॥

अर्थ—वेद और पुराण समुद्र की तरह है, संत मेघ वनकर रामकथा-रूप जल की वर्षा करते है। जिसमे सुमति की पृथ्वी और अगाध हृदय की गहराई विद्यमान है, वही भूमि राम-कथा के लिए उपयुक्त आधार है।

गोस्वामीजी परम्परावादी है। मौलिकता के दावे के स्थान पर उन्होने मानस मे वार-वार यह स्मरण दिलाया है कि वे जो कुछ कह रहे है या लिख रहे है, वह उनकी अपनी वस्तु न होकर वेद, पुराण और सत-परम्परा से उपलब्ध है। स्वयं अपनी वात तो गौण है, मानस के सर्वोत्तम पात्र भी अपनी वात की पुष्टि के लिए वेदो और पुराणो की साक्ष्य प्रस्तुत करते है। ग्रन्थ-रचना के प्रारम्भिक वन्दना के श्लोको मे इसी वात की पुष्टि होती है। वे यह भी स्पष्ट घोपणा करते है कि मानस मे जो कुछ उपलब्ध है, वह वेद, पुराण और तन्त्र-सम्मत है। उन्होने तो केवल मात्र उन्हे भाषा मे अनूदित कर दिया है :

नाना-पुराण-निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा-निबन्धमति-मंजुलमातनोति॥

मानस के आचार्य भगवान् शिव भी, अपने सिद्धान्त के समर्थन मे, वैदिक परम्परा का ही उल्लेख करते है.

तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मै सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥

मानस के परमाराध्य भगवान् राम भी अपने वाक्य की पुष्टि के लिए वेद की दुहाई देते है

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि वे वेद और पुराणो की परम्परा की स्वीकृति से उत्पन्न समस्याओं से परिचित न रहे हो। वेद और पुराणो के लिए समुद्र की उपमा देकर जहाँ वे उनकी अगाधता और गम्भीरता की ओर इगित करते है, वही साधारण व्यक्ति के लिए उसकी अगम्यता का भी परिचय दे देते है। मेघ यद्यपि समुद्र से ही जल ग्रहण करता है, किंतु वह जल इतना परिष्कृत होता है कि यह विश्वास करना भी कठिन हो जाता है कि यह जल खारेपन से भरे हुए समुद्र का ही है। कई वार आलोचको ने गोस्वामीजी पर यह आरोप लगाया कि वे जो कुछ वेद के नाम पर कहते है, वह वेदों मे उपलब्ध नही है। ऐसे आरोपो के सन्दर्भ में

मुझे तुलसी की इसी पक्ति का स्मरण आता है। वेचारा आलोचक उसी व्यक्ति की भॉति है जो समुद्र मे स्नान कर चुका है, उसके जल का स्वाद चख चुका है, किन्तु जव उससे यह कहा गया कि मेघ की वर्षा से प्राप्त जल भी समुद्र का ही है, तव उसके लिए इस पर विश्वास करना असम्भव हो गया। क्योकि आकृति, प्रकृति और स्वाद—किसी भी दृष्टि से उसे समुद्र के जल और मेघ के जल मे सादृश्य की अनुभूति नही हुई। परम्परा का तात्पर्य किसी सिद्धान्त को यदि शब्दश स्वीकार करना हो, तो इस प्रकार की परम्परावादिता गोस्वामीजी मे नही है—इसे मै नि सकोच भाव से स्वीकार कर लूगा। परम्परा के प्रति ऐसा आग्रह जडता का ही पर्यावाची बन जाता है। परम्परावादियो के इस दुराग्रह और उनसे होने वाले दुष्परिणामो से गोस्वामीजी परिचित थे। उत्तरकाण्ड की इस पक्ति मे उनकी इसी दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है :

श्रुति पुरान वहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक विरुझाई ॥

वेद और पुराणो ने मनुष्य को वन्धन-मुक्त करने के लिए अनेक उपाय वताए, किन्तु व्यक्ति उनसे छूटने के स्थान पर अधिकाधिक उलझता ही गया। यह एक ऐसा यथार्थ सत्य है जिसका अनुभव समाज मे पग-पग पर होता रहता है। जहॉ परम्परा के नाम पर स्थिरता होगी, वहॉ जड़ता और अस्वस्थता को छोडकर और आ ही क्या सकता है ? गोस्वामीजी की परम्परावादिता उस नदी की भॉति है, जो अपने मूल स्रोत से कभी भी विच्छिन्न नही होती फिर भी जिसमे प्रतिक्षण नूतन जल प्रवाहित होता रहता है। अनगिनत वर्षो से प्रवाहित होने वाली गगा मे स्नान करते हुए व्यक्तियो को यह अनुभव होता है कि वे उसी जल में स्नान कह रहे है जिसमे उनके हजारो पुरखो (पूर्व पुरुषो) ने स्नान किया था। अपने-आप मे यह सत्य होते हुए भी शब्दश. यथार्थ नही है। एक सरोवर का जल कई वर्षो तक यह तो दावा कर सकता है कि वह सच्चा परम्परावादी है क्योकि उसका जल स्थिर है। किन्तु यही स्थिरता उसमे वह सडन उत्पन्न कर देती है जिसे देखकर न उसमे स्नान करने का मन होता है और न पीने का ही। इन दोनो नियमो का पालन करने वाले सरोवर के समान घोर परम्परावादी व्यक्ति ही हो सकते है।

दूसरी ओर स्थिरता का एक भिन्न प्रतीक समुद्र भी है। अनगिनत युगो से समुद्र स्थिर है। उसमे अथाह जल विद्यमान है, अत. उसमे मलिनता का वैसा भय नही है जैसा कि सरोवर मे, किंतु उसका जल पीने-योग्य वनाने की प्रक्रिया का पडित तो मेघ ही है। गोस्वामीजी सतो की तुलना जव मेघ से करते है, तव उनका तात्पर्य यही है कि भले ही वेद-पुराण परम प्रमाण हो पर जन-समाज को सत के माध्यम से ही उनमे सच्चे तात्पर्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आस्तिक हिंदू वेद को ही परम प्रमाण मानता है। पुराणों को भी वेद का ही विस्तार स्वीकार किया जाता है। भगवान् व्यास ने समाज के प्रति करुणा से प्रेरित होकर वेदो का **उपबृंहण** किया और वही पुराण कहलाया। शब्दश. विचार करने पर यह भी विरोधाभासी सत्य ही प्रतीत होता है। वैदिक मत्रो में

सर्वाधिक समादृत देवता इन्द्र है। उसी को केन्द्रित करके ऋचाएँ लिखी गई है—उसीकी स्तुतियाँ की गई है। यज्ञ में उसे आहुति देकर उससे विविध वस्तुओ की याचना की गई है। किन्तु पुराणों मे पहुँचकर इन्द्र अपनी महिमा खो बैठा है। उसके चरित्र की अनेक त्रुटियों का रहस्योद्घाटन किया गया है। वह दैत्यो से परास्त होता है और अंत मे उनसे त्राण पाने के लिए वह नारायण का आश्रय लेता है। वेद के मुख्य देवता जहाँ इन्द्र, वरुण और अग्नि है, वहाँ पुराणो में इनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रतिष्ठा की गई है। तथा त्रिवेद में भी ब्रह्मा का गौरव कम हो जाता है—मुख्य पूजा विष्णु और शिव की ही रह जाती है। पुराणों मे उनकी अभिन्नता का प्रतिपादन करने के साथ-साथ उन्हे कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। उनके परस्पर सघर्ष का भी वर्णन किया गया है। रामचरितमानस मे, वेदो और पुराणो की महिमा और साक्ष्य का वर्णन करते हुए भी भगवान् राम को ही सर्वोत्कृष्ट पद प्रदान किया गया है। विष्णु और शिव भी उनके अश से समुद्भूत होते है :

सम्भु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

स्थूल दृष्टि से देखने पर वेद, पुराण और रामचरितमानस परस्पर-विरोधी मत का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते है, तब इन तीनो के एकत्व के प्रतिपादन का तात्पर्य क्या हो सकता है। कई आलोचको ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दशरथ, राम, सीता आदि नाम वेदों मे कही प्राप्त नही होते। वही दूसरी ओर कई विद्वानों ने वेद की अनेक ऋचाओ मे इनके नाम खोज निकाले है। इन खोजो को प्रामाणिक मानने के बाद भी यह तो असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वेदों में उन्हे वह गौरवपूर्ण पद प्राप्त नही है, जो पुराणो अथवा रामचरितमानस मे दिया गया है।

वेदो और पुराणो मे बहुत कुछ ऐसा है, जिसे शब्दश ग्रहण करने पर व्यक्ति और समाज, दोनो का ही अकल्याण हो सकता है। यद्यपि उनमे शतश ऋषियों और अनगिनत राजपुरुषो के चरित्र का वर्णन आता है—धर्म और जीवन मे किसी न किसी अंग पर उनसे प्रकाश पडता है—किन्तु वे ऋषि या महापुरुष दुर्बलताओ से सर्वथा शून्य नही है। उनमें जीवन की समग्रता का आदर्श प्राप्त नहीं होता। महाराज हरिश्चन्द्र की गणना महापुरुषो मे की जाती है। सत्यवादिता के प्रतीक के रूप मे वे समाज मे सर्वमान्य है। सत्य की रक्षा के लिए वे बडे-से-बडा बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाते है। पर उनके जीवन का दूसरा भी पक्ष है। सन्तान की कामना से प्रेरित होकर वे यह मनौती मान लेते है कि सन्तान होने पर मै बालक को ही बलिदान कर दूगा। इससे उनकी मोहान्धता का ही परिचय प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि सन्तान की अपेक्षा वे अनपत्यता के कलक से अधिक भयभीत थे। समाज पुत्रहीन समझकर उनको हेय दृष्टि से देखे, यह उन्हे असह्य था। इस कलंक को मिटाने के लिए वे किसी भी सीमा तक जाने को प्रस्तुत हो जाते है। ऐसी मनौती मानते समय वे स्वयं को भी छल रहे थे। उन्होंने सोचा होगा कि

पहले पुत्र तो प्राप्त हो, वाद मे देखा जाएगा। पुत्र होने के पश्चात् वे वलिदान के वचन को टालते गए, अन्त में वे अपने पुत्र के प्राण की रक्षा और स्वयं की रुग्णता-निवारण के लिए, शुन शेप नाम के वालक को, उसके पिता से खरीदकर, उसका वलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो जाते है। महर्षि विश्वामित्र की कृपा से इस वालक की रक्षा होती है। हरिश्चन्द्र के चरित्र का यह भाग उनके निम्नतम मनोभावो और दुर्वलताओ का परिचायक है। सम्भव है, उस समय के समाज मे ऐसी निकृष्ट परम्पराएँ प्रचलित रही हो, पर हरिश्चन्द्र का एक महान् पुरुष के रूप मे वर्णन करने का दुष्परिणाम यह भी तो हो सकता है कि व्यक्ति जीवन के उत्तरार्ध मे उनकी सत्यवादिता के स्थान पर, वलिदान के द्वारा सन्तान-प्राप्ति की परपरा का अधविश्वासी बन जाए—अपने पुत्र की रक्षा और स्वास्थ्य के लिए वह दूसरे के पुत्र को वलिदान कर देने मे सकोच का अनुभव न करे।

महर्षि विश्वामित्र वेद और पुराणो के मत्रद्रष्टा ऋषि है। उनके त्याग और तपस्या की अद्भुत गाथाओ से पुराणो के पृष्ठ अकित है। पर उनका चरित्र भी अपूर्णताओ का पुज है। अपनी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए महर्षि वशिष्ठ के सौ पुत्रो को नष्ट कर देना, एव वशिष्ठ का वध करने के लिए प्रस्तुत हो जाना उनके इसी अन्धकार-पक्ष का परिचय देता है। अत. उनके ऋषित्व से समाज दिग्भ्रान्त हो सकता है। वह यह समझकर सतुष्ट हो सकता है कि अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए यदि विश्वामित्र सव-कुछ कर सकते है, तो हमारे लिए तो यह और भी स्वाभाविक है। वेदो मे वहुत-कुछ ऐसा अग्राह्य (किसी एक काल-विशेष के लिए) था, उसे भगवान् व्यास ने परिष्कृत करने का प्रयास किया। किंतु पुराण केवल आदर्श ही नही, इतिहास भी प्रस्तुत करते है, इनके भी परिष्कार की आवश्यकता थी। यह कार्य राम-कथा के द्वारा सम्पन्न होता है। सारे वेदो और पुराणो मे चरित्र की समग्रता का यदि कोई मापदण्ड हो सकता है तो वह एकमात्र भगवान् 'श्रीराम' है। इतिहास मे ऐसे सहस्रो व्यक्ति हुए है जो किसी विशेष घटना के कारण लोक-मानस मे धूमकेतु के समान अचानक चमक उठे है। किन्तु प्रकाश तो सूर्य का है जो अनगिनत वर्षों से प्रतिदिन समाज और व्यक्ति को प्रकाश देता है और देता रहेगा। और यह सूर्य है भगवान् 'श्रीराम'—जिनका चरित्र देश और काल की सीमाओ को पार कर शाश्वत मूल्यो का साक्षात्कार कराता है।

सन्तो के द्वारा जिस दिव्य राम-कथा के जल की उपलब्धि होती है, उसके लिए गोस्वामीजी ने तीन विशेषणो का प्रयोग किया है—'मधुर, मनोहर, मगलकारी'। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है जो वाहर से देखने मे आकर्षक प्रतीत होती है, उनके लिए 'मनोहर' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किंतु यह आवश्यक नही है कि स्वाद मे भी मधुरता हो। इन्द्रायण का फल देखने मे अत्यन्त आकर्षक होता है किंतु स्वाद इतना कडवा होता है कि भगवान् बचाएँ। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी है जिनमे मधुरता तो होती है, किंतु उनका रूप मनोहर नही होता। गन्ने के रस मे

कितनी मिठास है किंतु उसके रूप को आकर्षक नही कहा जा सकता। वहुधा मधुरता, मनोहरता और मंगलमयता का समन्वय कठिन होता है; किंतु राम-कथा में इन तीनों का दुर्लभ समन्वय विद्यमान है। उसका चमत्कारिक रचना-कौशल किसके मन को अपनी ओर आकुष्ट नही कर लेता। भावों की मधुरता अद्भुत स्वाद की सृष्टि करती है। अंतःकरण में प्रविष्ट होकर यह मधुर और मनोहर राम-कथा कल्याण व मंगलमयता का सृजन करती है। यदि श्रीराम के गुणों के संदर्भ मे विचार करे तो इन शब्दो को भिन्न रूप मे भी ले सकते है। इतिहास और पुराणों मे ऐसे अनेक विशिष्ट व्यक्तियों का वर्णन प्राप्त होता है जिनका सौन्दर्य आकर्षक था, किंतु न तो उनके स्वभाव मे मधुरता थी और न वे किसी कल्याणकारी परिणाम की ही सृष्टि कर सके। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी व्यक्तित्व थे जो अष्टावक्रकी भाँति ज्ञान की दृष्टि से महान् थे, जिनसे लोक-मंगल की सृष्टि होती है, किंतु न तो उनका रूप ही आकर्षक था और न उनके स्वभाव मे ही मधुरता थी। वे अपनी वात दो टूक भाषा में रख देते थे। किंतु व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए गोस्वामीजी एक ही व्यक्ति मे रूप, शील और वल का सामजस्य चाहते है। किसी भी सौदर्य-सम्पन्न व्यक्ति को देखकर उसके निकट जाने का मन होता है। निकट जाने पर शील की मधुरता उससे और भी सामीप्य का बोध कराती है। ऐसे व्यक्ति मे कदाचित् सामर्थ्य का भी परिचय प्राप्त हो, तव तो उसके भरोसे निश्चिन्त रहने की भी प्रेरणा प्राप्त होती है। मनोहर रूप, मधुर शील और मगलकारी वल का एकत्रीकरण यदि किसी एक व्यक्ति में प्राप्त करना हो, तो असदिग्ध रूप से वह श्रीराम ही होगे। गोस्वामीजी ने इसीलिए मानस मे वार-वार श्रीराम के रूप, शील और वल का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है :

चारिउ रूप सील वल धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥

× ×

राम लखन दोउ बंधुवर, रूप सील व्रल धाम।
मख राखेउ सब साखि जगु, जिते असुर संग्राम॥

वे श्रीराम के सुयश-रूपी जल के लिए 'मधुर', 'मनोहर' एवं 'मंगलकारी' कहकर प्रत्येक को आमंत्रित करते है कि वह श्रीराम के रूप, शील और वल से धन्यता प्राप्त करे। सन्त-मेघ के माध्यम से वितरित यह जल प्रत्येक दृष्टि से संग्रहणीय है।

वर्षा का जल कितना भी स्वच्छ क्यो न हो, भूमि की मलिनता के स्पर्श से मटमैला हो जाता है

भूमि परत भा डावर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी॥

इसके विपरीत किसी ऐसे स्थान की कल्पना की जा सकती है जहाँ पर जल मलिन नही होता, किंतु गहराई के अभाव मे वहाँ वह टिक नही पाता। अतः स्थान मे, स्वच्छता और गहराई, दो गुणो की आवश्यकता है। राम-कथा रूपी जल को ग्रहण करने के लिए भी श्रोता में इन्हीं दोनों गुणां की आवश्यकता है। जव

तक श्रोता की बुद्धि निर्मल नही होगी, तब तक वह राम-कथा का वास्तविक अर्थ ग्रहण नही कर सकता। किंतु सही समझ के साथ-साथ जब तक हृदय की गहराइयों मे उसे धारण नही किया जाता, तब तक जीवन मे उसे उतार पाना भी सम्भव नही। इस प्रकार वे श्रोता में बुद्धि और हृदय का पूर्ण सामंजस्य देखना चाहते हैं। वस्तुतः उनके काव्य का आधार भी हृदय और बुद्धि का समन्वय ही है। इसीलिए कविता को मोती के रूप में प्रस्तुत करते हुए, काव्य के प्रादुर्भाव की जिस पद्धति का वे वर्णन करते है, उसमे भी इसी तथ्य को प्रतिष्ठापित करते हैं:

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाँति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोइअहिं, राम-चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

इस रूपक मे वे कवि के हृदय की तुलना समुद्र से करते है और बुद्धि को सीप के रूप मे प्रस्तुत करते है। विशाल हृदय और सूक्ष्म बुद्धि के समन्वय से ही श्रेष्ठ कविता का प्रादुर्भाव होता है। कवि के तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिए श्रोता अथवा पाठक मे भी इन दोनो का संतुलन विद्यमान होना चाहिए। मानस के प्रथम प्रणेता भगवान् शिव मे हृदय और बुद्धि की यही समग्रता विद्यमान है। एक ओर वे विश्वास के घनीभूत रूप है, दूसरी ओर मूर्तिमान ज्ञान भी है:

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

× ×

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव, सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि, प्रनत कलपतरु नाम॥

इसीलिए रामचरितमानस की रचना के बाद भी वे श्रोता के अभाव मे उसे अभिव्यक्त नही करते·

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

उचित समय पाकर उन्होंने पार्वती को कथा सुनाई। इसमे निहित संकेत यह है कि पार्वती के सती-रूप में होते हुए उन्हे राम-कथा नही सुनाई गई। सती दक्ष-पुत्री के रूप मे बुद्धिमती तो अवश्य थी, किन्तु हृदय की विशालता के अभाव मे वे राम-कथा की अधिकारिणी नही मानी जाती।

गोस्वामीजी श्रोता मे न केवल बुद्धि और हृदय का समन्वय चाहते हैं, अपितु दोनो मे हृदय को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। जब वे हृदय की तुलना समुद्र से करते हुए बुद्धि को सीप कहते हैं, तब उनका तात्पर्य बुद्धि को हृदयानुगामी सिद्ध करना ही है। भक्ति के लिए जिस विश्वास और प्रीति की अपेक्षा है, वह हृदय की विशालता के बिना सम्भव नही है। इसीलिए आगे चलकर वे यह स्पष्ट कर देते है कि रामचरितमानस को समझने के लिए केवल भाषा-ज्ञान की ही अपेक्षा नही है; श्रद्धा, सत्संग और राम-प्रेम के अभाव में इसे ग्रहण नही किया

जा सकता :

ज श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ॥

माँ और पुत्र के बीच मे चल रहे वार्तालाप को समझने के लिए शब्दकोष की अपेक्षा नहीं है। उसका सच्चा रस प्राप्त करने के लिए शब्दो से भी अधिक बालक के विश्वास और माँ के वात्सल्य को समझना होगा। यह विश्वास और वात्सल्य तर्क का नही, अनुभूति का विषय है। मानस के राम केवल इतिहास के एक पात्र ही नही है जिनका निरपेक्ष दृष्टि से मूल्यांकन किया जा रहा हो। जिस व्यक्ति की दृष्टि मे राम भूतकालीन इतिहास के एक पात्र मात्र है, या वे एक कल्पित नायक है, और जो लोग कवि प्रतिभा-प्रदर्शन का उसे एक केन्द्र मानते है, उनके लिए तुलसी के राम को समझ पाना न केवल कठिन है, अपितु असम्भव भी है।

भगवान् राम को सीता के वियोग से व्याकुल होकर विलाप करते देखकर, शिव और सती पर पृथक्-पृथक् प्रतिक्रिया होने का कारण भी यही था। सती के लिए भगवान् श्रीराघवेन्द्र के रुदन में अज्ञान, दु.ख और आसक्ति का ही दर्शन हो रहा था, क्योकि वे उनके आंसुओं को ठीक उन्ही अर्थो मे ले रहीं थी, जिन्हें तार्किक आधार पर समझा जा सकता है। एक व्यक्ति तभी रुदन करता है जब वह दु खित होता है और यह दु ख आसक्ति का ही परिणाम है। व्याकुल होकर लता-वृक्षों से पता पूछने वाला एक अल्पज्ञ ही हो सकता है। इसे समझने के लिए अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता न थी। किन्तु भगवान् शंकर की स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न थी। वे श्रीराम को अश्रु-पात करते देखकर आनन्द-मग्न हो जाते है। उनका हर्ष पुलक के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। गद्गद कंठ से वे 'जय सच्चिदानन्द' कहकर उनका अभिनन्दन करते है:

जय सच्चिदानंद जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन ॥

तब शिव के इस विलक्षण व्यवहार को समझ पाना सती के लिए और भी असम्भव हो जाता है, क्योकि वे उसे भी तार्किक आधार पर समझना चाहती थीं। यही पर वे तर्क के विरोधाभासी चक्र में उलझ जाती है। एक ओर वे सहज भाव से शिव को सर्वज्ञ स्वीकार कर लेती है, क्योंकि सभी लोग उन्हे 'भगवान्' कहकर प्रणाम करते है :

संकर जगतवंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा ॥

जिस सहज भाव से वे शकर को सर्वज्ञ स्वीकार कर लेती है, उसी सहजता से वे श्रीराम को ईश्वर नही मान पाती। क्योकि शिव के प्रति उनके हृदय में प्रीति और अपनत्व है। जहाँ पर प्रीति और अपनत्व होता है वहाँ तार्किकता का स्थान विश्वास ग्रहण कर लेता है। सती की समस्या यह थी कि वे शिव और राम को भिन्न-भिन्न मापदण्डों से समझने की चेष्टा कर रही थी। दूसरी ओर शंकर-जी की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उनके लिए राम की ईश्वरता स्वयंसिद्ध सत्य थी। वह हृदय की अनुभूति का विषय था, न कि किसी तार्किक परम्परा का

परिणाम। एक वालक माँ के मातृत्व को किसी तार्किक कसौटी पर कसकर नही देखता। उसे माँ के प्रत्येक व्यवहार मे मातृत्व की अनुभूति होती है। तार्किक आधार पर निकाला गया निष्कर्ष परिवर्तित होता रहता है। एक विद्यार्थी की योग्यता का आधार परीक्षा हो सकती है। किसी वर्ष वह उसमे उत्तीर्ण होता है, तथा किसी वर्ष अनुत्तीर्ण। किन्तु माँ के मातृत्व को यदि वालक परीक्षा के आधार पर स्वीकार करना चाहे, तो उसे सम्भवत: प्रतिदिन अपनी मान्यता को वदलना होगा। यदि उसकी यही तार्किक मान्यता हो कि माँ का हृदय अत्यन्त कोमल होता है, इसलिए उसका व्यवहार भी सर्वदा कोमल होगा, और शत्रु वही है जो कठोर व्यवहार करे; तव तो उसे माँ के कोमल व्यवहार मे मातृत्व और कठोर व्यवहार मे शत्रुता का ही दर्शन होगा। मातृत्व से भी अधिक ईश्वर के विपय मे इस सन्दर्भ मे विचार अपेक्षित है। ईश्वरत्व अनुभूति का विषय है, परीक्षा का नही। शिव के लिए भी श्रीराम परीक्षा के विपय नही थे। एक वार उनको ईश्वर मान लेने के पश्चात् उनके क्रिया-कलाप को तार्किक आधार दिया जा सकता था। श्रीराम ईश्वर है, इसलिए उनके आँसू दु.ख के प्रतीक नही हो सकते अत. ये आँसू वास्तविक न होकर लीला-मात्र मे ही प्रदर्शित हो रहे है। अभिनेता आँसू वहाता हुआ भी दु ख से मुक्त है। इस तरह इसमे तार्किकता का सर्वथा अभाव नही है। यह हृदयानुगामी तर्क है। मानस को हृदयंगम करने के लिए भी इसी प्रकार के तर्क की अपेक्षा है।

प्रारम्भ मे उल्लिखित पक्तियो के माध्यम से गोस्वामीजी की मान्यता का जो परिचय प्राप्त होता है, उसका संक्षिप्त तात्पर्य कुछ वाक्यो के द्वारा इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है ·

(१) वेदो और पुराणो के तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यक्ति को, अपनी पूर्वाग्रह-युक्त वुद्धि के स्थान पर, सन्त का आश्रय लेना चाहिए।

(२) उपर्युक्त तात्पर्य से भी व्यक्ति तभी लाभ उठा सकता है जव उसमे हृदय और वुद्धि का उचित सन्तुलन विद्यमान हो।

(३) ऐसे व्यक्ति के लिए राम-कथा से मधुरता और मनोहरता के साथ-साथ मगलमय परिणाम की सृष्टि होती है।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

सुठि सुन्दर सम्बाद बर, बिरचै बुद्धि बहोरि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥

अर्थ—इस मानस मे मैने विचारपूर्वक पवित्र और सुन्दर जिन चार सम्वादों का निर्माण किया है, वे ही इस सुन्दर और पवित्र सरोवर के चारो घाट है।

रामचरितमानस मे रामकथा के चार वक्ताओ और चार श्रोताओ के एकत्र होने का वर्णन किया गया है। इन आगन्तुक महापुरुपो मे महर्षि याज्ञवल्क्य भी एक है, तथा दूसरे महापुरुष है महर्षि भरद्वाज—जिनका निवास तीर्थराज प्रयाग मे ही है, जहा पर माघ मास मे सन्त-समाज एकत्र होकर विविध विषयो पर विचार करता है ·

ब्रह्म निरूपन धरम बिधि, बरनहिं तत्त्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ग्यान बिराग॥

समापन के पश्चात् सभी आगन्तुक सन्त अपने-अपने आश्रमो को चले जाते है। किन्तु एक बार भरद्वाज के आग्रह पर महर्षि याज्ञवल्क्य वहाँ रुक गए। महर्षि भरद्वाज ने उनके समक्ष श्रीराम के विपय मे अपनी जिज्ञासा को प्रगट किया, और उसके उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को राम-कथा सुनाई। किन्तु साथ ही उन्होने राम-कथा की परम्परा का उल्लेख करते हुए यह वताया कि इस कथा के आदिप्रणेता भगवान् शकर है; उन्होने यह कथा सर्वप्रथम पार्वतीजी को सुनाई थी

ऐसेइ संशय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा वखानी॥
कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा सम्भु सम्बाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटहिं बिषाद॥

दूसरी ओर भगवान् शंकर और उमा के सम्वाद मे परम्परा की तीसरी कड़ी का परिचय प्राप्त होता है। भगवान् शंकर कथा के प्रारम्भ मे ही यह वताते है कि अव मैं तुम्हे वह कथा सुना रहा हूं, जो भक्त काकभुशुण्डि ने पक्षिराज गरुड़ को सुनाई थी .

सुनु सुभ कथा भवानि, राम-चरित-मानस बिमल।
कहा भुसुण्डि बखानि, सुना बिहग नायक गरुड़॥

इस तरह तीन वक्ताओ और तीन श्रोताओ का परिचय प्राप्त होता है। चौथे वक्ता स्वय तुलसीदास है, जिन्होने इन सारी परम्पराओ का उल्लेख करते हुए यह वताया कि गुरुदेव के द्वारा मैने वाल्यावस्था मे इस राम-कथा का श्रवण किया और उसी कथा को मै अपने मन के संतोष के लिए भापा मे ग्रथित कर, प्रस्तुत कर रहा हूं ·

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषाबद्ध करब मै सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

तुलसीदास का श्रोता स्वयं उनका मन है। "मोरे मन प्रबोध जेहि होई" में इसी तथ्य की ओर इगित किया गया है। कैलास-स्थित मानसरोवर मे कोई घाट नही है। वह प्रकृति के द्वारा निर्मित विशाल ह्रद-मात्र है। भारत के सारे तीर्थों मे मानसरोवर की यात्रा सर्वाधिक कठिन है। (भौगोलिक दृष्टि से वह तिब्बत की सीमा मे स्थित है।) दृढ सकल्प वाले विरले यात्री ही वहाँ तक पहुँच पाते है। भगवान् शकर के अन्तर्मन मे स्थित राम-कथा इससे भी अधिक अगम्य थी। क्योकि इस सरोवर मे स्नान करने का सौभाग्य एकमात्र पार्वतीजी को ही प्राप्त हुआ। इस यात्रा की दूरी पार करने मे भी उन्हे दो जन्म लग गए। शिव के समीप रहने वाले उनके गण भी इस ह्रद मे प्रवेश के अधिकारी नही माने गए। अत: लोकमगल के लिए इस दुर्लभ राम-कथा को सुलभ बनाने की आवश्यकता थी। चार घाटो के निर्माण का उद्देश्य भी अधिकाधिक लोगों के लिए सरोवर के जल की उपलब्धि को सरल बनाना ही है। चार घाटो के निर्माण की प्रक्रिया का रूप यह है १. जहाँ विशिष्ट वर्ग के लोग स्नान कर सके। २. प्रत्येक व्यक्ति जहाँ स्नान का अधिकारी हो। ३. जहाँ केवल स्त्रियाँ ही स्नान कर सके। ४. वह घाट जहाँ पशु भी जल पी सके।

रामचरितमानस मे घाटो की परम्परा का सक्षिप्त सूत्र उत्तरकाण्ड मे प्राप्त होता है। रामराज्य का वर्णन करते हुए सरयू और उसके घाटो का उल्लेख इन पक्तियों मे किया गया है

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥
राजघाट सब बिधि सुन्दर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥

यहाँ चार घाटो के स्थान पर केवल तीन ही घाटो का उल्लेख किया गया है। यह वर्णन साभिप्राय है। राम-राज्य में विषमता समाप्त हो चुकी है। विशिष्ट और साधारण—इस तरह के दो वर्ग वहाँ विद्यमान नही है। इसलिए वहाँ का राजघाट केवल राजा या राजकुमारो के लिए ही न होकर सभी लोगो के लिए खुला हुआ है। "मज्जहिं जहाँ बरन चारिउ नर" मे इसी आदर्श की झलक प्राप्त होती है। नदी पर तीन घाटो का होना अस्वाभाविक नही है, किन्तु सरोवर मे चार घाट होने ही चाहिए। व्यवहार के क्षेत्र मे वर्ग-भेद मिट जाना सम्भव है किन्तु विचार मे यह सम्भव नही है। विज्ञान और अध्यात्म के सभी सूक्ष्म तत्त्व सबके लिए ग्राह्य नही हो सकते। इसलिए अध्यात्म के राजघाट मे प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नही है। इस राजघाट का प्रतिनिधित्व महादेव शिव और पार्वती के सम्वाद मे प्राप्त होता है। शिव के लिए भगवान् राम का चरित्र उतना ही नहीं

है जितना कथा के रूप मे प्राप्त होता है। उनकी राम-कथा केवल अवतार के कारणों से ही प्रारम्भ नही हो जाती, वे सर्वप्रथम पार्वती को राम के तात्त्कि स्वरूप का परिचय देते है। उसमे सर्वाधिक वल इस सिद्धान्त की ओर दिया गया है कि निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार ब्रह्म मे रचमात्र भी भेद नही है। जब वे कथा के प्रारम्भ मे श्रीराम के बालस्वरूप की वदना करते है, तब उनकी दृष्टि इस बालक के अनुपम सौन्दर्य की ओर ही नही है, अपितु वे तो इस स्वरूप के स्मरण मे भी दार्शनिक गुत्थियो का समाधान पाते है :

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।।
बंदउँ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।।

वे पार्वती को यह स्पष्ट बता देना चाहते है कि उनके राम एक साधारण राजकुमार-मात्र नही है। अपितु योग और वेदान्त का प्रकाशक 'ब्रह्म' तत्त्व ही दशरथ-पुत्र वनकर अवतरित होता है .

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम-उपल बिलग नहिं जैसे।।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा।।
राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा।।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।।
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेश पुराना।।

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव दायउ माथ।।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।।
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी।।
चितव जो लोचन अंगुलि लाए। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाए।।
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।।
बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधिपति सोई।।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।।
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि।।

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई।।
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।।

आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ-सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥

उक्त पंक्तियो मे दर्शन के जो सूत्र उपलब्ध होते है, वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए न तो आकर्षक ही है और न बोधगम्य ही। इसीलिए इस घाट पर केवल एक श्रोता दिखाई देता है। काकभुशुडि के द्वितीय घाट पर राम-कथा, विचार के स्थान पर, भावना के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। भगवान् शकर और काकभुशुण्डि के पार्थक्य को दोनो के द्वारा की गई वदना के माध्यम से हृदयगम किया जा सकता है। शिव की ही भाँति काकभुशुण्डि के आराध्य भी बालक राम ही है। वे भी उनकी वदना मे मुखर हो उठते है। किन्तु राम के दार्शनिक स्वरूप के स्थान पर वे उनके सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करने मे अधिक रस लेते है·

इष्ट देव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखउँ बाल चरित बहु रंगा॥
लरिकाई जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ॥
एक बार अतिसय सब, चरित किए रघुबीर।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ, पुलकित भयउ सरीर॥
कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक। रामचरित सेवक सुखदायक॥
नृप मंदिर सुन्दर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई॥
बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग-अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुत हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥
रेखा त्रय सुन्दर उदर, नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध, बाल बिभूषन चीर॥
अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससि-कर-सम हासा॥

नील कंज लोचन भव मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥
विकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छवि छाए ॥
पीत झीनि झगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी ॥

काकभुशुण्डि ने गरुड़ को राम-कथा के साथ-साथ आत्म-कथा के जो सस्मरण सुनाए, उनसे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ मे ब्रह्म के निर्गुण-निराकार स्वरूप की ओर उनका कोई आकर्षण नही था। उनके आकर्षण का केन्द्र था, राम का सौदर्य और शील। इसलिए वे महर्षि लोमश से यह स्पष्ट कह देते है कि अवधेश का सौदर्य निहार लेने के पश्चात् ही मैं निर्गुण-निराकार की वात सुनूँगा :

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा ॥

काकभुशुण्डि के घाट की तुलना पनघट से की जा सकती है जहाँ स्त्रियां केवल स्नान ही नही करती, अपितु अपने-अपने घड़ो में जल भी भरकर ले जाती है। घट भावना है, भगवत्कथा ही मधुर जल है, भक्ति-निष्ठा ही नारी है। शरीर मे सिर सवसे ऊपर है, यह मस्तिष्क की श्रेष्ठता का प्रतीक है। सिर पर मृत्तिका-घट को धारण करने वाली नारी मस्तिष्क का अनादर नही करती है, अपितु यह सिर का सवसे वडा सदुपयोग है कि वह भार उठाने का श्रम करते हुए भी, मधुर जल के द्वारा स्वय को नही, सारे परिवार को तृप्ति देती है। भक्त ज्ञान के ऊपर भावना को स्थापित करके इसी प्रक्रिया को सम्पन्न करते है। वे कथा-जल मे स्वच्छता तो प्राप्त करते ही है, दूसरों को कथा-रस देकर तृप्ति भी प्रदान करते है। काकभुशुण्डि भक्ति-घाट के आचार्य है। भक्त निष्पक्षता का दावा नही करता, इसीलिए वह पक्षी है। कथा-श्रवण के लिए भी वहा पक्षियो की भीड है। हंस निष्पक्षता का प्रतीक माना जाता है। वह ज्ञानी है, किन्तु इस कथा मे हसों की भी भीड रहती है। ऐसा लगता है कि विचारक हंस की भावना भी तृप्ति के लिए यहाँ आते है :

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरन्तर जे तेहि ताला ॥

इस कथा के आचार्य सुमेरु पर्वत पर निवास करते है। हिमाचल और सुमेरु के शिखरो पर पहुँचना सवके लिए सम्भव नही है। विचार का शिखर अगम्य है और भावना के ऊर्ध्व शिखर तक पक्षी पहुँच सकते है। इसीलिए राम-कथा का तृतीय केन्द्र तीर्थराज प्रयाग को समतल भूमि है, जहाँ सारा देश ही उमड पडता है। वहाँ पुण्यलाभ के लिए लक्ष-लक्ष नर-नारी एकत्र होते है। यहाँ राम-कथा के आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य है, जिन्होने समाज के सुव्यवस्थित सचालन केलिए स्मृति का निर्माण किया है। स्मृतियाँ भावना और विचार के स्थान पर व्यवहार को अधिक महत्त्व देती है। सामाजिक जीवन मे व्यक्ति का एक-दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसका निर्देशन करना ही स्मृति का मुख्य कार्य है। याज्ञवल्क्य को श्री-राम के चरित्र मे व्यवहार के वे सारे सूत्र प्राप्त हो जाते है, जो स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। उन्हे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ होगा कि स्मृति के शुष्क निर्देशक

वाक्यो के स्थान पर राम-कथा से सरस माध्यम से यह अधिक सम्भव है । राम-राज्य सुव्यवस्थित समाज का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इस तरह विचार और भावना के स्थान पर राम-कथा व्यवहार की भूमि पर प्रतिष्ठापित होती है। अत. उन्होने वालक राम के स्थान पर धनुर्धर श्रीराम की वन्दना की, जो सूत्रधार के रूप मे सवका सचालन करते है :

तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी ॥
सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरजामी ॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥
प्रनवउँ सोई कृपालु रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा ॥

श्रीराम की वन्दना मे वे उनके धनुप-वाण को नही भूलते है। यह धनुष-वाण उनकी दृष्टि मे न्याय और दण्ड का प्रतीक है। ये वही धनुर्धर श्रीराघवेन्द्र है, जिन्होने दण्डकारण्य मे मुनियो की हड्डियो का ढेर देखकर द्रवित अन्त करण से राक्षसो के विनाश का सकल्प लिया और लका को विध्वस्त कर अधर्म के स्थान पर धर्म-राज्य की स्थापना की .

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥

× ×

निसिचरनिकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥
निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

गोस्वामीजी ने उस चौथे घाट का प्रतिनिधित्व किया, जिसे गौघाट का नाम दिया जाता है। यह पशुओ के लिए निर्मित किया जाता है। पशु जो स्वय घाट-निर्माण मे असमर्थ है, और अपनी प्यास की तृप्ति के लिए पूरी तरह मनुष्य पर आश्रित है। गोस्वामीजी को श्रीराम के उस कृपा-गुण ने मुग्ध कर लिया है, जिससे वे पशु और पक्षियो को भी मित्र का सम्मान प्रदान करते है। वे वार-वार यह प्रश्न करते है कि श्रीराम को छोडकर और कौन ऐसा दूसरा प्रभु है जिसने पतित पापाणी अहल्या का उद्धार किया हो ? जिसने केवट को मित्रता का गौरव प्रदान किया हो और गीध को पिता से भी अधिक सम्मान देकर पिण्ड-दान का अधिकारी वनाया हो ?

कहहु कौन सुर सिला तारि करि केवट मीत कियो ॥
कौने गीध अधम को पितु ज्यो निज कर पिंड दियो ॥

वाल्यावस्था से ही समाज से तिरस्कृत और उपेक्षित तुलसी को श्रीराम के इसी गुण ने आश्रय प्रदान किया। इसीलिए जव वे श्रीसीता-राम की वन्दना करते है, तव उनके अन्य गुणो के साथ-साथ यह लिखना नही भूलते कि दीन जन उन्हे अत्यन्त प्रिय है ·

पुनि मन वचन करम रघुनायक। चरन कमल बन्दउँ सब लायक ॥
राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बन्दउँ सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।

रामचरितमानस के राम ज्ञानियो के परब्रह्म परमात्मा है। भक्तो के सगुण-साकार ईश्वर है। कर्म-मार्ग के अनुगामियो के लिए महान् मार्ग-दर्शक और दीनों के लिए दीनबन्धु है। चार घाटो के माध्यम से रामचरितमानस मे गोस्वामी जी ने सारे समाज के व्यक्तियो को आमन्त्रण दिया कि वे श्रीराम के चरित्र से अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर ले।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क वढ़ावइ साखा ॥

अर्थ—वही होगा जिसकी रचना भगवान् राम ने पहले से कर रखी है। तर्क-वितर्क के द्वारा शाखा वढाने से लाभ ही क्या है?

दण्डकारण्य मे श्रीराम को विलाप करते देखकर सती सशय-ग्रस्त हो गई। भगवान् शिव के समझाने पर भी उनका सशय दूर नही हुआ। अत मे शिव ने उनकी भ्रान्ति की गहराई को समझने के लिए, उनसे श्रीराम की परीक्षा लेने का प्रस्ताव रखा। सती परीक्षा लेने के लिए चल पडी। देवाधिदेव ने पुन उन्हे चेतावनी दी, किन्तु इसके वाद भी वे चली जाती है। सती के जाते ही शिव के अन्तर्मन मे यह प्रश्न उठता है कि क्या होने जा रहा है! उन्हे प्रतीत हुआ कि सम्भवत सती का महान् अकल्याण होने जा रहा है, किन्तु अगले ही क्षण वे यह सोचकर शान्त हो जाते है कि जो प्रभु की इच्छा होगी, वही होगा। उपर्युक्त पक्ति मे हमें उनके अन्तिम निष्कर्ष की सूचना प्राप्त होती है।

सारे संदर्भ से अलग करके इस पक्ति को देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि उपर्युक्त पक्ति व्यक्ति को निष्क्रियता और अकर्मण्यता की दिशा मे ले जाती है। पुरुषार्थवादियो को ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की पक्तियाँ ही व्यक्ति और समाज को पतन के गर्त मे ले जाती है। किन्तु प्रसग के सन्दर्भ को सामने रखकर विचार करने पर इस धारणा का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

भाग्यवादियो की यह धारणा है कि व्यक्ति का जीवन सर्वथा परतन्त्र है। जन्म के साथ ही ब्रह्मा व्यक्ति के मस्तक मे उसका भाग्य अकित कर देते है, और व्यक्ति का जीवन उन्ही भाग्य-रेखाओ के द्वारा सचालित होता है। वे रेखाएँ ऐसी अमिट है कि साधारण व्यक्ति की तो वात ही क्या, देवता और मुनि भी उसमें परिवर्तन नही कर सकते

कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥

पुरुपार्थवादी इस सिद्धान्त को कभी स्वीकार नही कर सकता। वह कहता है कि पुरुपार्थ ही सव-कुछ है। व्यक्ति पुरुपार्थ के द्वारा ही जीवन निर्माण करता है। देव और भाग्य का नाम तो केवल आलसी व्यक्ति ही लिया करते है। पुरुषार्थ का यह स्वर रामानुज श्रीलक्ष्मण की वाणी मे अभिव्यक्त होता है

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

कई वार व्यक्ति सोचता है कि इन दोनो मे यथार्थ सत्य क्या है? क्या मनुष्य नियति का एक खिलौना-मात्र है अयवा पुरुपार्थ ही सब-कुछ कर सकता है? यदि

जीवन में दोनों का स्थान है, तो दोनो के बीच मे विभाजन की कौन-सी रेखा विद्यमान है जिसके द्वारा व्यक्ति यह निर्णय कर सके कि पुरुषार्थ की रेखाएँ कहाँ समाप्त होती है और नियति का राज्य कहाँ से प्रारम्भ होता है ? रामचरितमानस का दृष्टिकोण इस विषय मे एकांगी न होकर सर्वथा सन्तुलित है। वह दोनों की सत्ता को स्वीकार करता है।

राजनीति की भाषा मे लगता है कि भाग्य और पुरुषार्थ दो पड़ौसी राष्ट्रों की भाँति रहते है। राजनैतिक मान्यता यह है कि पडौसी राष्ट्रो मे मित्रता की सम्भावनाएँ बहुत कम होती है। अधिकाश व्यक्तियो के जीवन मे नियति और पुरुषार्थ का सघर्ष चलता ही रहता है। इसलिए दोनों की सीमा-रेखाएँ भी परिवर्तित होती रहती है। कभी भाग्य के सैनिक पुरुषार्थ की सीमा-रेखा मे प्रविष्ट होकर उसे विनष्ट करने पर तुल जाते है, तो कभी पुरुषार्थ के प्रचण्ड सैनिक भाग्य की सीमा-रेखा को छिन्न-भिन्न कर देते है। यह कभी न समाप्त होने वाला शाश्वत सघर्ष है। विजय के परिवर्तन के साथ-साथ विजय-गीत की भाषा मे परिवर्तन होना भी स्वाभाविक ही है। जब व्यक्ति के प्रयास सफल होते है, तब वह पुरुषार्थ की जय-ध्वनि करता है; किन्तु शत-शत प्रयासो के बाद भी असफलता मिलने पर व्यक्ति भाग्य-देवता के समक्ष सिर झुका देता है—उनकी सामर्थ्य के गीत गुनगुनाने लगता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—प्रत्येक के जीवन मे यह परिवर्तन आता ही रहता है। भारतीय वाङ्मय मे, पुरुषार्थ और प्रारब्ध को लेकर इतनी परस्पर-विरोधी उक्तियाँ है कि उन्हे पढकर व्यक्ति चकित हो जाता है। कई लोग उन पक्तियो मे ही पतन और उत्थान की प्रेरणा के सूत्र खोज निकालते है, किन्तु यह यथार्थ नही है। भारत विश्व का सबसे पुरातन राष्ट्र है। उत्थान और पतन के अनगिनत चक्रो को उसने स्वय के जीवन मे आते देखा है। उसकी अनुभूतियो ने उसको सहिष्णुता की सामर्थ्य प्रदान की है। अपेक्षाकृत नवीन राष्ट्र यदि पुरुषार्थ के प्रबल समर्थक है तो यह अवस्थाजन्य उत्साह ही है, किन्तु इन अनुभूतियो से वे भी वचित नही रह सकते। काल उनकी धारणाओ मे भी परिवर्तन ला ही देगा। काल की कल्पना दो रूपो मे की जा सकती है। विष्णु के हाथ का चक्र काल का ही प्रतीक है। काल चक्राकार है और वह लौट-लौटकर आता ही रहता है। भगवान् राम के धनुष और बाण को भी काल के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है :

लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड॥

बाण अपेक्षाकृत सीधे चलता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह भी लौटकर पुन श्रीराम के निषग मे ही आ जाता है। दिन, रात्रि, मास और वर्ष का परिवर्तन-चक्र सर्वव्यापी है। जो लोग काल और इतिहास को सीधी रेखा की भाँति प्रस्तुत करते है, उनकी दृष्टि स्थूल और ससीम है। समतल धरती की कुछ दूरी मे रेखा खीचने पर वह सीधे आगे बढती हुई प्रतीत होती है, किन्तु यदि रेखा का विस्तार करते हुए, उसे सीधे ले जाने की चेष्टा की जाए, तो अन्त मे वह चक्राकार ही हो

जाएगी, क्योंकि पृथ्वी स्वयं भी तो गोल है।

काल की चक्राकार गति मे ही नियति का रहस्य छिपा हुआ है, किन्तु इससे पुरुषार्थ की महिमा समाप्त नही हो जाती। नियति के समक्ष पूरी तरह समर्पित हो जाना मानवीय प्रकृति के विरुद्ध है। स्वतन्त्रता के प्रति आकर्षण मनुष्य का स्वभाव है। वह परतन्त्रता के विरुद्ध सघर्ष करता ही रहता है। नियति को मनुष्य कभी प्रसन्नता से स्वीकार नही कर सकता, क्योकि यह परतन्त्रता की स्वीकृति होगी। "पराधीन सपनेहुँ सुख नाही" के मूल सूत्र को स्वीकार करने वाला व्यक्ति भाग्य के समक्ष सरलता से सिर नही झुकाता, पुरुषार्थ उसकी स्वतन्त्रता का उद्‌घोष है, इसलिए उसके अन्त करण मे उसके प्रति आदर-बुद्धि होना एक स्वयसिद्ध सत्य है। ऐसी परिस्थिति मे स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का यह सघर्ष चलता ही रहता है। उसमे विराम आता है, असफलताओ और निराशा का सामना भी करना पडता है। उसे थककर रुकना भी पडता है। उस समय नियति की स्वीकृति भी आवश्यक है। दिन-भर सघर्षरत योद्धा भी तो रात्रि के समय निष्क्रियता का आश्रय लेता है। निष्क्रियता और गाढी नीद से उसे दूसरे दिन पुन सघर्ष करने की क्षमता प्राप्त होती है। पराजय और असफलता के क्षणो मे नियति की स्वीकृति भी व्यक्ति को समग्र निराशा से बचाती है, क्योकि नियतिवादी धारणा यह आश्वासन भी प्रदान करती है कि पराजय शाश्वत वस्तु नही है। पुन सफलता और जय का आगमन भी अवश्यम्भावी है। सफल सेनानी और साहित्यिक रहीम ने अपने जीवन मे अनेक उतार-चढाव देखे थे। असफलता के क्षणो मे यही धारणा उन्हे आश्वासन प्रदान करती थी .

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहै, बनत न लगिहै देर॥

रामचरितमानस के विविध प्रसगो मे इसका यह मनोवैज्ञानिक स्वरूप देखने को मिलता है। "होइहि सोइ जो राम रचि राखा" की स्वीकृति भी इसी मनोविज्ञान का एक दृष्टान्त है। यह कोई ऐसा सिद्धान्त-दर्शन नही है जो विचार, तर्क और पुरुषार्थ का सर्वथा निषेध करता हो। शिव ने सती को समझाने का अनवरत प्रयास किया—तर्क, चेतावनी, व्यग, सभी विधाओ से उन्होने समझाने की चेष्टा की और अत मे परीक्षा के लिए जाती हुई सती के साथ न जाकर अपना विरोध क्रियात्मक रूप मे भी प्रगट किया—किन्तु इतना होने पर भी सती अपने ही मार्ग पर चल पडी। ऐसी स्थिति मे नियति की अपरिहार्यता का स्मरण आना स्वाभाविक था। भगवान् शिव को लगता है कि ब्रह्मा सती के विपरीत है और उनका अकल्याण होने ही वाला है, किंतु इस धारणा मे भी परिवर्तन उन्हे आवश्यक लगा। नियति के समक्ष सिर झुकाने की बाध्यता होते हुए भी, उससे उत्पन्न होने वाले दु.ख का निराकरण करने के लिए एक उपाय निकाल ही लिया।

नियति की प्रबलता देखकर व्यक्ति झुँझला उठता है। यह नियति का कुचक्र रचने वाला कौन है, जो व्यक्ति को अनावश्यक नाच नचाया करता है? कर्म-

सिद्धान्त मुँहफट व्यक्ति की भाँति जवाब देता है—व्यक्ति के कर्म ही इसके लिए उत्तरदायी है

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

नियति का निर्माण भी व्यक्ति के अपने ही कर्मो से होता है। इस उत्तर से व्यक्ति मूक तो हो सकता है, किंतु इससे उसके दु.ख और निराशा का निराकरण नही होता है। भगवान् राम के बाण से आहत बालि ने, कठोर स्वर मे श्रीराम पर आरोप लगाते हुए पूछ ही तो लिया, कि ईश्वर होते हुए भी आपने मुझमें और सुग्रीव मे भेद क्यो किया? धर्म-रक्षा के लिए अवतार लेने पर भी आपने छिपकर मुझ पर प्रहार क्यो किया?

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मै बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

प्रभु की ओर से भी उतना ही कडा उत्तर प्राप्त हुआ—"मूर्ख, इसके लिए तेरे कर्म ही उत्तरदायी है".

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ, कन्या-सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

प्रभु ने कहा कि अपराधी के समक्ष आकर युद्ध करने की कोई आवश्यकता न थी। न्यायाधीश दण्ड देता है, युद्ध नही करता। वृक्ष की आड़ मे छिपकर बाण चलाने का प्रतीकात्मक तात्पर्य भी यही था। विनयपत्रिका मे गोस्वामीजी ने वृक्ष को कर्म के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया है **संसार कांतार अति घोर गम्भीर वन, गहन तरु कर्म संकुल मुरारी।**

इसका तात्पर्य है कि ईश्वर भी दण्ड की व्यवस्था कर्म को ही आगे रखकर करता है। बालि ने पुरुषार्थ से सुग्रीव को परास्त कर दिया था, किंतु उस नियति पर उसका क्या बल था जो बाण के माध्यम से वृक्ष के पीछे से आकर उसकी विजय को पराजय मे परिणत कर देती है। बालि इस सिद्धांत के सामने निरुत्तर था, किंतु उसने विजय का एक मार्ग ढूढ़ निकाला। उसका उत्तर था कि यदि बाण ही मुझे लगा होता तो उत्तर-प्रत्युत्तर का प्रश्न ही कहाँ था? किंतु जब बाण चलाने वाला सामने हो और उसके विषय में यह सुन रखा हो कि वह पतित-पावन है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उस ईश्वर के दर्शन के पश्चात् भी क्या मेरे पाप अभी समाप्त नही हुए?

सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु, अजहूँ मैं पापी, अंतकाल गति तोरि॥

अगले ही क्षण भगवान् राम का कोमल कर-कमल बालि के मस्तक पर था। प्रभु ने बालि की अमरता का आश्वासन देना चाहा:

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तन राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥

किंतु अब बालि इसे स्वीकार करने की मुद्रा में नही था। अब उसे केवल प्रभु

के कर-कमलों मे ही नही, बाण के प्रहार मे भी करुणा का साक्षात्कार हो रहा था। यही जीवन का यथार्थ सत्य है। अज्ञात नियति के प्रहार से विक्षुब्ध व्यक्ति भी उस समय शान्त हो जाता है, जब उसे उसके पीछे ईश्वर का हाथ दिखाई देता है। भगवान् शकर भी नियति के पीछे प्रभु का ही हाथ देखते है और तब तर्क-वितर्क का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। प्रभु के मगलमय विधान के द्वारा जो कुछ भी होगा, वह कल्याणकारी ही होगा—"होइहि सोइ जो राम रचि राखा" के पीछे भी यही भावना कार्य कर रही है।

।। श्रीरामः शरणं मम ।।

नारद बचन न मैं परिहरऊँ।
बसउ भवन उजरउ नहिं, डरऊँ ।।
गुरु के बचन प्रतीति न जेही।
सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ।।

अर्थ—मैं श्रीनारदजी के वचनो का परित्याग नही कर सकती, इससे चाहे मेरा घर वसे अथवा उजड जाए। जिस व्यक्ति को अपने गुरुदेव के वचनों पर विश्वास नही है, उसे स्वप्न मे भी सिद्धि प्राप्त होना सम्भव नही।

अध्यात्म-साधना के पथ मे गुरु का स्थान अप्रतिम है। व्यावहारिक जगत् मे भी मार्ग-दर्शक के अभाव मे यात्री वहुधा भटक जाया करते है। फिर उस 'अज्ञात देश' की यात्रा का तो कहना ही क्या है जहाँ साधक के लिए सब-कुछ अजाना है! "जो पथ पाव कवहुँ मुनि कोई" कहकर उसकी दुर्लभता की ओर इंगित किया गया है। इस कठिन पथ के लिए मार्ग-दर्शक का चुनाव सरल नही है।

नगर-डगर मे भी अनेको ऐसे व्यक्ति मिल जाते है जो पथ के विषय में जिज्ञासा किए जाने पर, न जानते हुए भी, मार्ग वताने लग जाते है। उनकी वात मानकर यात्री और भी अधिक भटक जाता है। अत. आवश्यकता केवल मार्ग-दर्शक की ही नही, अपितु ऐसे पथ-प्रदर्शक के चुनाव की है जो विश्वस्त हो—जिसे गन्तव्य और मार्ग दोनों का सही ज्ञान हो। अध्यात्म-पथ निर्देशक ही गुरु है—वह गुरु जिसके विषय मे शिष्य पूरी तरह आश्वस्त हो कि उसने स्वय उस लक्ष्य का साक्षात्कार कर लिया है जिसकी ओर वह साधक को ले जाना चाहता है। पार्वती की दृष्टि मे ऐसे महापुरुष नारद थे। भगवान् शिव को पाने के लिए वे जिस साधना-प्रणाली में लगी हुई थी, उसके उपदेष्टा देवर्षि ही थे। परीक्षा के लिए आए हुए सप्तर्षियों ने उनके अन्त करण मे साध्य, साधन और साधना के पथ-प्रदर्शक तीनों ही के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने का प्रयास किया, परन्तु उमा अविचल रही। किंतु सप्तर्षियो की परीक्षा-प्रणाली मे सवसे कठिन प्रश्न यह था कि शकर स्वय आकर यदि नारद की साधना-प्रणाली की आलोचना करे, तब वे इष्ट की वात को स्वीकार करेंगी अथवा गुरु की? पार्वती देवर्षि का गुरु के रूप मे वरण इसीलिए करती है, जिससे वे भगवान् सदाशिव को पति के रूप में प्राप्त कर सकें। अत. उनकी श्रद्धा के वास्तविक केन्द्र तो शभु है। नारद तो एक माध्यम-मात्र है! क्या वे माध्यम को इतना महत्त्व देंगी कि आराध्य की अवहेलना हो जाए?—यह प्रश्न साधारण न था; पर पार्वती ने विना किसी हिचकिचाहट के इसका उत्तर दिया और उत्तर भी ऐसा जो प्रथम दृष्टि मे अटपटा प्रतीत होता है। वे कहती है, "मै नारद के वचनो का परित्याग नही कर सकती हूँ चाहे स्वयं भूतभावन शिव

ही आकर क्यो न आदेश दे। एक वार की तो वात ही क्या है, यदि शंकर मुझे सौ बार भी ऐसा करने के लिए कहे तो भी मै उसे स्वीकार नही करूँगी। चाहे भवन उजडे या बसे, मैं तो देवर्षि के वचनो को ही मानती हूँ। जिसे गुरु के वचनो पर विश्वास नही होता, उसे स्वप्न मे भी सुख अथवा सिद्धि की प्राप्ति नही होती" ·

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू॥

× ×

नारद बचन न मै परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

उमा का उत्तर ऊपर से भले ही दुराग्रह-युक्त जान पडे, किंतु साधना-प्रणाली का यह सार-सर्वस्व है। सप्तर्षियो ने पार्वती के अन्त करण मे भगवान् विष्णु के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना चाहा था, "शिव सद्‌गुणो से रहित है और विष्णु गुणो के पुज है" यह उनके तर्को का सार था। उमा को सप्तर्षियों का यह तर्क हास्यास्पद प्रतीत हुआ। दृष्टान्त के रूप मे एक ऐसे पथिक को ले सकते है जो अपने स्नेही मित्र के घर पहुँचने के लिए उतावला हो रहा है। उसे मार्ग-दर्शक से पथ का ज्ञान प्राप्त हो चुका है। जव वह अपने पथ पर उत्साहपूर्वक वढ रहा है, उसी समय यदि कुछ लोग आकर उससे यह कहने लगे कि तुम जहाँ जा रहे हो, वहाँ तो एक झोपडा है, वहाँ जाकर क्या करोगे? एक करोडपति सेठ यहाँ से कुछ दूरी पर रहता है, उसके महल मे चलकर विश्राम करो। यह प्रलोभन का सही उत्तर वही था जिसे अपर्णा ने दिया। "ससार मे एक-से-एक वढकर महल हो सकते है किंतु यात्री भवन की समृद्धि और ऊँचाई खोजने नही निकला था। उसे अपने मित्र से मिलना है। वह झोपडी मे रहता है या अट्टालिका मे, इससे उसे क्या लेना-देना? कुछ इसी प्रकार की भावना इन शब्दो मे है ·

महादेव अवगुन भवन, बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम॥
जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्म सम्भु हित हारा। को गुन दूषन करै विचारा॥

किंतु दूसरा प्रश्न जटिल है। यदि मित्र मार्ग मे ही आकर मिले और पथ-प्रदर्शक को धूर्त बता दे, उस समय पथिक क्या कहेगा? पथिक चतुर निकला। उसने मित्र के मिलते ही उसे गले से लगा लिया। पथ-प्रदर्शक की आलोचना सुनकर पथिक हसने लगा। उसने कहा, "मित्र, तुम मेरे सर्वस्व हो, किंतु तुम्हारी यह वात मैं मानने से रहा। पथ-प्रदर्शक कैसा है, मुख्य प्रश्न यह नही है। प्रश्न यह है कि उसने सही मार्ग वताया या नही? मार्ग कितना सही था, इसका प्रमाण मिल गया। यदि मार्ग ठीक न होता तो तुम कहाँ से आकर मिल जाते, तुम मार्ग-दर्शक की आलोचना तो कर रहे हो, पर मै तो इनका कृतज्ञ हूँ। यदि तुम चलकर न आते तो मुझे स्वय चलकर तुम्हारे निकट पहुँचना पडता। इनकी कृपा से तुम मिले और आशा से पहले मिले। मैं तो इनके अवगुणो का ही कृतज्ञ हूँ जिनकी आलोचना

के लिए तुम इतनी शीघ्रता से आ गए।" मित्र हँसने लगा, क्योंकि उसने पथ-प्रदर्शक की आलोचना केवल परीक्षा के लिए की थी।

आध्यात्मिक साधना मे गुरु का स्थान इष्ट की तुलना मे श्रेष्ठ है। पार्वती के वाक्यों से इसी का समर्थन होता है। महर्षि वाल्मीकि ने तो स्वय प्रभु से ही यह अनुरोध किया, "जो साधक आपकी अपेक्षा गुरु को अधिक सम्मान देता है, उनकी हर प्रकार से सेवा करता है, आप उसके हृदय मे निवास कीजिए" :

तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहि सनमानी॥

किंतु इस प्रकार की पक्तियों को सही सन्दर्भ मे ही लिया जाना चाहिए। सत्य तो यह है कि इस प्रकार की पंक्तियों का वडा दुरुपयोग किया जाता रहा है, और आज भी किया जा रहा है। इसका दुरुपयोग विशेप रूप से तथाकथित उन गुरु नामधारी व्यक्तियो के द्वारा किया जाता है जो ईश्वर के स्थान पर अपने अह को प्रतिष्ठित करना चाहते है एव अपनी पूजा और स्वार्थ-सिद्धि ही जिनका उद्देश्य है। ईश्वर की तुलना मे गुरु उसी तरह श्रेष्ठ है जिस तरह एक स्त्री के लिए पति की तुलना मे सास-श्वसुर श्रेष्ठ है—यद्यपि पत्नी का सर्वस्व तो पति ही है। उसके नातो का केन्द्र भी वही है। पति ही नही होगा तो सास-श्वसुर के सम्वन्ध का आधार ही समाप्त हो जाएगा। किन्तु व्यवहार मे उसे पति की अपेक्षा सास-श्वसुर को ही अधिक सम्मान देना होगा। विवाह के पूर्व यदि होने वाले सास-श्वसुर और पति कन्या को देखने के लिए आते है, तो कन्या भावी वर के माता-पिता का चरण-स्पर्श करती है, और होने वाले पति को केवल नमस्कार करती है। व्यवहार देखकर लगता है कि वह पति को कम महत्त्व देती है, किन्तु आन्तरिक तात्पर्य सर्वथा भिन्न है। कन्या वस्तुत: पति के प्रति ही अनुरागिणी है, उसे ही पाना चाहती है। पर उसे यह ज्ञात है कि पति की प्राप्ति उनके माता-पिता की दया के विना नही होगी। इसलिए वह अपने शील-सौजन्य से उन्हे सन्तुष्ट करती है। विवाह हो जाने के वाद भी वह सास-श्वसुर की सेवा करती है। पति की तुलना मे उन्हे ही अधिक सम्मान देती है। यह उसकी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति है यदि वे न होते, उन्होने कष्ट न उठाया होता, तो मै अपने प्राणेश्वर को कैसे पा सकती ? कवीर के प्रसिद्ध दोहे मे गुरु को गोविन्द से श्रेष्ठ इसीलिए वताया गया है कि उन्होने 'गोविन्द' को लखाया है :

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।
वलिहारी गुरुदेव की, जिन्ह गोविन्द दियो वताय॥

वाल्मीकि ने भी यही कहा "साधक मंत्रराज का नित्य जप करता है। परिवार-सहित आपका पूजन करता है। तर्पण, हवन, व्राह्मण-भोजन की प्रक्रिया का पालन करता है। आपकी अपेक्षा गुरु को अधिक सम्मान देता है। **किन्तु सब-कुछ करने वाद वह एक ही फल चाहता है कि प्रभु के चरणों में प्रेम हो।** ऐसे साधक के हृदय मे आप दोनों (सीता-राम) निवास करे :

मंत्र राज नित जपहि तुम्हारा। पूजहि तुम्हहि सहित परिवारा॥

तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
तुम्ह ते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥
सब कर माँगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन-मंदिर बसहु, सिय-रघुनन्दन दोउ॥

सास-श्वसुर की सेवा के बाद भी पत्नी यही चाहती है कि वे आशीर्वाद दें जिससे उसका सौभाग्य अचल रहे। उसके अनुराग का केन्द्र पति ही है। उसका स्थान कोई दूसरा नही ले सकता। ईश्वर जीव का पति है। किन्तु गुरु उस ईश्वर को भी प्रकट करता है इसलिए वह सास-श्वसुर के समान है। उसको अधिक सम्मान मिलना ही चाहिए। भगवती उमा का देवर्षि के प्रति आदर भी इसी भावना से प्रेरित है। गुरु ईश्वर से बड़ा हो सकता है पर वह ईश्वर नहीं हो सकता। पार्वती के वाक्य को सही सन्दर्भ में लेने पर ही वह कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

काम जारि रति कहँ बर दीन्हा ।
कृपासिधु यह अति भल कीन्हा ॥
साँसति करि पुनि करहि पसाऊ ।
नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥

अर्थ—काम को जलाकर आपने रति को वरदान दे दिया । कृपासिंधु, आपने यह बहुत ही अच्छा किया । सत्पुरुषो का यह सहज स्वभाव है कि वे दण्ड देने के पश्चात् कृपा (भी अवश्य) करते है ।

समाज के नियमन के लिए दण्ड की आवश्यकता को अस्वीकार नही किया जा सकता । किन्तु दण्ड देने का उद्देश्य क्या है ? साथ ही दण्ड देने का अधिकार किस व्यक्ति को है ? यह प्रश्न भी कम महत्त्व के नही है । दण्ड एक ऐसा शस्त्र है जिसका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के विरुद्ध करना चाहता है, किन्तु स्वय के लिए बिरले व्यक्ति ही दण्ड की माँग कर सकते है । स्वय के प्रति दया और दूसरे के प्रति दण्ड की माँग ही व्यक्ति का सहज स्वभाव है । दण्ड-शक्ति का दुरुपयोग भी समाज में कम नही हुआ है । प्रत्येक समर्थ व्यक्ति दण्ड-शक्ति के द्वारा अपने स्वार्थ और सत्ता को सुरक्षित रखना चाहता है । रामचरितमानस के रचयिता ने तत्कालीन समाज मे राजाओ के द्वारा कठोर दण्ड-नीति का प्रयोग जिस रूप मे देखा, वे उसकी आलोचना किए विना न रह सके .

गोड गँवार नृपाल महि, जमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल ॥

दण्ड का वास्तविक दर्शन भगवान् शिव के स्वरूप मे अभिव्यक्त होता है । वे रुद्र होते हुए भी शिव है । रुद्र शव्द जहाँ उग्रता की अभिव्यक्ति करता है, वहाँ शिव का अर्थ है—कल्याणमय । वे प्रलय और मृत्यु के देवता है, उनकी तृतीय दृष्टि से सृष्टि भस्म हो जाती है । पिनाकपाणि त्रिशूली का रुद्र नाम सर्वथा सार्थक है । किन्तु उनके कण्ठ की नीलिमा, भाल का शिशु चन्द्र, जटा-जूट मे स्थित गगा उनके एक भिन्न स्वरूप की सूचना देते है । इन्हे देखकर शिवता का ही बोध होता है । परस्पर-विरोधी प्रतीत होने पर भी वस्तुत. ये वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक है । दण्ड का स्वरूप भी ठीक इसी प्रकार का है । जव तक दण्ड देने वाले के अन्त.करण में दया की वृत्ति विद्यमान न हो, तव तक दण्ड का दुरुपयोग छोड़कर और कुछ नही हो सकता । कठोर दण्ड देते हुए यदि दण्डदाता के अन्त:करण मे, केवल अपराध के प्रतिशोध की भावना विद्यमान हो, तव भी उसे दण्ड का सही प्रयोग नही कह सकते । वहुधा यह कहा जाता है कि कठोर दण्ड का उद्देश्य लोगो के सामने ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत करना है, जिससे भयभीत होकर समाज के अन्य व्यक्ति भी बुराई

से बचें। यह भी दण्ड का एक उपयोग तो हो सकता है किन्तु यह उसका आदर्श रूप नही है। वस्तुत दण्ड देते हुए दंडित व्यक्ति के प्रति भी करुणा की भावना उसको सही परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करती है। दण्ड के मूल मे द्वेष की वृत्ति होते ही वह कलुषित हो जाता है। अधिकाश व्यक्ति द्वेष और प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर ही दण्ड का प्रयोग करते है, इसीलिए दण्डित व्यक्ति अथवा उससे सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियो के अन्त.करण मे प्रतिहिंसा का जन्म होता है।

भगवान् शंकर की स्तुति करते हुए लोक-निर्माता ब्रह्मा ने सत्पुरुषो के जिस स्वभाव का वर्णन किया, वही दण्ड-दाता का सच्चा स्वरूप होना चाहिए। भगवान् शिव द्वारा दण्ड दिए जाने वाले प्रत्येक पात्र के जीवन मे इस पंक्ति की सार्थकता का अनुभव किया जा सकता है। उनके द्वारा दण्डित किए जाने वाले जिन पात्रो का नाम रामचरितमानस मे आता है, उन्हे देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने दण्ड देने मे अपने और पराये का कोई भेद नही किया। असुर और विरोधी कहे जाने वाले पात्र ही उनके द्वारा दण्डित नही किए गए, अपितु स्वजन भी दण्ड के भागी बने। सती और दक्ष दोनो ही उनके द्वारा दण्डित किए जाते है। यद्यपि दोनो की मनोवृत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। सती न केवल उनकी पत्नी ही थी, अपितु शिव के चरणों मे उनका अगाध स्नेह भी था। दक्ष का अन्त करण उनके प्रति द्वेष से भरा हुआ था। राम को वन मे विलाप करते देखकर सती सशयग्रस्त हो उठी। शिव के द्वारा समझाए जाने पर भी उनका भ्रम दूर नही होता है। श्रीराम की परीक्षा के लिए वे उनके समक्ष सीता के वेश मे जाती है। लौटकर आने के बाद भगवान् शिव की जिज्ञासा के उत्तर मे उन्होने असत्य-भाषण किया। त्रिकालज्ञ शम्भु ध्यान से सब-कुछ जान लेते है। अपराध की तुलना मे दण्ड बड़ा कठोर था—"इस शरीर मे सती को स्वीकार करना अब मेरे लिए सम्भव नही है" :

एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥

किन्तु इस परित्याग की कठोरता के पीछे भी करुणा की भावना कार्य कर रही थी। यदि दण्ड देने का उद्देश्य केवल परिणाम भोगने के लिए बाध्य करना होता, तो वे सती का सर्वदा के लिए परित्याग कर सकते थे। केवल एक ही जन्म में परि-त्याग के सकल्प के पीछे महादेव का मगलमय उद्देश्य छिपा हुआ था। सती शिव के चरणो की अनुरागिणी होते हुए भी उनके वचनो पर विश्वास क्यो नही कर पाती? शिव की सर्वज्ञता जानते हुए भी वे असत्य-भाषण का साहस कैसे कर पाई? वस्तुत सती का यह अपना दोष नही था। उन्हें जन्म से ही जो उपादान प्राप्त था वे स्वय को उससे पूरी तरह पृथक् कैसे कर सकती थी? वे दक्ष-पुत्री थीं। उनके शरीर का निर्माण जिस वस्तु मे हुआ था, उसमे दक्ष के सद्गुण-दुर्गुण सभी सम्मिलित थे। दक्ष के जीवन मे चतुराई का जो अहकार विद्यमान था, वे उससे मुक्त नही हो सकती थी। तात्त्विक दृष्टि से शरीर जीवात्मा का वस्त्र-मात्र है। जीवात्मा नित्य-शुद्ध है किन्तु मन्दिर में देव-पूजा के लिए प्रविष्ट होते हुए वस्त्र की पवित्रता का भी ध्यान रखना ही पडता है। दर्शनार्थी यदि ऐसे वस्त्रो मे पूजा मे

प्रविष्ट होना चाहे जो निषिद्ध है, तब योग्य पुजारी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह दर्शनार्थी को लौटाते हुए उसे यह स्पष्ट निर्देश दे कि उसे किस वस्त्र मे देव-दर्शन का अधिकार प्राप्त होगा। सती को दक्ष के द्वारा जो शरीर प्राप्त हुआ था, वह उन्हे ईश्वर के सामीप्य से वचित कर रहा था। शिव द्वारा परित्यक्ता सती ने, आत्म-मन्थन करते हुए, स्वय की त्रुटियो को पहचान लिया। अन्त मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँची कि दक्ष के द्वारा प्राप्त शरीर का परित्याग करने के पश्चात् ही मै शिव के चरणो मे सर्वतोभावेन समर्पित हो सकती हू। दक्ष-यज्ञ मे उन्होने अपना यह सकल्प पूर्ण कर लिया ·

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन संकर निंदा॥
सो फलु तुरत लहब सब काहूँ। भली भाँति पछिताव पिताहू॥
संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवण मूँदि न त चलिअ पराई॥
जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी॥
पिता मंद-मति निंदत तेही। दक्ष सुक्र सभव यह देही॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चन्द्रमौलि बृषकेतू॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥

इन शब्दो में शिव के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा परिलक्षित होती है। शिव के द्वारा परित्याग किए जाने पर भी उनके अन्त करण मे इसका रचमात्र भी आक्रोश नही था। वे तो जन्म-जन्मान्तर मे शिव के चरणो मे ही अनुराग चाहती है .

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥

यह तभी सभव हुआ जब उन्होने परित्याग के पीछे शिव की सद्भावना का अनुभव किया। सती शरीर से पास रहते हुए भी, मन से वे शिव के निकट नही थी। इस परित्याग के पश्चात् उन्हे जो शरीर प्राप्त हुआ, उसने उन्हे पूरी तरह शम्भु से एकाकार कर दिया।

कर्माभिमानी दक्ष को भी कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ा। उसका तो सिर ही काटकर अग्निकुण्ड मे डाल दिया गया। किन्तु बकरे का सिर जोडकर उसे पुन. जीवन-दान दिया। दक्ष का सिर ही सारे अनर्थो की जड था। वह समझता था कि सत्य उतना ही है जितना वह जानता है। वास्तविकता यह थी कि दक्ष को मात्र व्यावहारिक सत्य का बोध था। परमार्थ सत्य का उसे रचमात्र भी ज्ञान नही था। भगवान् शिव परमार्थ सत्य के प्रतीक है। उन्हे सत्य की असीमता का ज्ञान है, इसलिए किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे कभी भी यह दावा नही करते कि सत्य केवल इतना ही है। वे तो स्पष्ट कर देते है कि मै अपनी बुद्धि के अनुकूल सत्य का प्रतिपादन कर रहा हूँ

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थ कहि जाइ न सोई॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥

तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥

दक्ष के सिर पर किया जाने वाला प्रहार वस्तुत उसके अहकार को विनष्ट करने की ही योजना का एक अग था। दक्ष के सिर पर जुडा हुआ वकरे का सिर यह स्मरण दिलाता रहता है कि जो अहकार के कारण शिव का तिरस्कार करता है, उस मस्तक की अपेक्षा पशु का सिर ही श्रेष्ठ है क्योंकि पशु को अपने स्वामी पर विश्वास होता है और वह उसकी इच्छा के अनुकूल ही सचालित होता है। महादेव पशुपति है, इसीलिए वकरे का सिर प्राप्त होते ही दक्ष उनकी स्तुति करने लगता है।

काम को भी इसीलिए दडित होना पडा, क्योकि उसने समाधिस्थ शंकर को वहिर्मुख वनाने की चेष्टा की। तारकासुर के सहार के लिए ऐसे पुत्र की आवश्यकता थी जिसका जन्म भगवान् शिव के शरीर से हुआ हो। देवताओ ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम को देवाधिदेव के अन्त करण मे वासना की सृष्टि करने के लिए भेजा था। शकर इसके पहले ही भगवान् राम के आदेश का पालन करते हुए विवाह की स्वीकृति दे चुके थे, किन्तु उतावले देवताओ की यह धारणा थी कि विवाह तो केवल काम की प्रेरणा से ही किया जाता है। अत शिव को समाधिस्थ देखकर भयभीत देवताओ ने काम को उत्प्रेरित किया। विवाह तो भगवान् शिव को करना ही था, किन्तु यदि काम को दण्डित न किया जाता, तो सभी के मन मे यह भ्रान्ति वनी रहती कि विवाह काम की प्रेरणा से ही सम्पन्न हुआ है। काम को भस्म कर दिए जाने से इस भ्रान्ति का निराकरण हो गया कि विवाह का उद्देश्य काम की तृप्ति-मात्र है। वे काम के स्थान पर श्रीराम को प्रेरक मानकर विवाह करने के लिए प्रस्तुत थे। काम के स्थान पर वे धर्म को विवाह के आधार के रूप मे प्रस्तुत करना चाहते है। काम मे जहाँ पर केवल व्यक्तिगत सुख की आकाक्षा है, वहाँ धर्म सारे समाज के सुख की चिन्ता करता है। विवाह का आधार यदि केवल काम होगा तो वह परिवार और समाज मे विघटन की सृष्टि करेगा। धर्म व्यक्तिगत सुख को अस्वीकार नही करता, किन्तु वह सुख परिवार और समाज के सुख का विरोधी न हो, यह उसकी मान्यता है। काम को भस्म कर देने के वाद भी वे अनंग के रूप मे उसे जीवित होने का वरदान प्रदान करते है। इसके द्वारा उनका तात्पर्य यह था कि काम को केवल शरीर की सीमाओ मे ही परिच्छिन्न नही हो जाना चाहिए। यदि काम अशरीरी होकर जीवित रह सकता है, तो यह आवश्यक नही कि काम को स्वीकार करने वाला व्यक्ति शरीर की परिच्छिन्नताओ मे ही घिरा रहे। शरीर को छोडकर भी काम के अनेक कलात्मक उपयोग हो सकते है। यह अनग साहित्य और सगीत के मूल मे वर्तमान रहकर रस की सृष्टि कर सकता है।

साधन की अपवित्रता के लिए भले ही काम को दण्डित होना पडा हो, किन्तु साध्य की पवित्रता का उसे असाधारण पुरस्कार प्राप्त होता है। अपनी मृत्यु को [illegible] हुए भी, काम ने लोक-सरक्षण के लिए ही देवाधिदेव रुद्र पर

आक्रमण करना स्वीकार किया था। 'स्वसुख' का प्रेरक काम वस्तुतः उस समय विश्व-सुख के लिए ही अपना वलिदान कर देता है। इस वलिदान का पुरस्कार उसे श्रीकृष्ण के पुत्रत्व के रूप मे प्राप्त होता है। रति को वरदान देते हुए भगवान् शिव ने यह आश्वासन प्रदान किया कि जव "पृथ्वी का भार उतारने के लिए भगवान् कृष्ण अवतरित होगे, तव तुम्हारा पति उनके पुत्र के रूप मे जन्म लेगा। उस समय तुम पुन· अपने पति को प्राप्त कर सकोगी"

जब जदुवंस कृष्न अवतारा। होइहि हरन महामहि भारा॥
कृष्न तनय होइहि पति तोरा। वचन अन्यथा होइ न मोरा॥

यह इतना अतुलनीय पुरस्कार था कि दूसरो को नरक की दिशा मे प्रेरित करने वाला काम इसकी कोटि-कोटि जन्मो मे भी कल्पना नही कर सकता था। प्रद्युम्न के रूप में श्रीकृष्ण का पुत्र वनकर वह उनकी तद्‌रूपता प्राप्त कर लेता है। काम को यदि प्रारम्भ मे ही दण्ड न देकर क्षमा कर दिया जाता तो वह इस महान् सौभाग्य से वचित रह जाता।

मानस के उत्तरकाण्ड मे काकभुशुण्डि ने अपनी आत्मकथा सुनाते हुए पूर्व-जन्म के जो सस्मरण सुनाए, उसमे शिव के द्वारा स्वय को दण्डित किए जाने का भी उपाख्यान है। उस समय काकभुशुण्डि शूद्र वर्ण मे उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म श्रीअवध की पावन भूमि मे हुआ। किन्तु उनके हृदय मे उस दिव्य भूमि के प्रति कोई श्रद्धा नही थी। उसी समय अवध प्रदेश मे अकाल पड़ा। इससे उनकी अश्रद्धा को और भी अधिक वल मिला। उन्हे लगा कि इस भूमि मे कोई चमत्कार होता तो यहाँ अकाल कैसे पडता? वे अयोध्या को छोडकर मालवा प्रान्त की भूमि मे आते है। वह प्रदेश अकाल से मुक्त था। उन्हे लगा कि यह उज्जैन-स्थित महाकाल भगवान् शिव का ही दिव्य प्रभाव है कि इस प्रदेश मे कोई अकाल नही पड़ा। वे शिव के भक्त वन गए। उज्जैन-निवासी एक विद्वान् ब्राह्मण से उन्होंने शिवमन्त्र की दीक्षा ली। किन्तु वाद मे गुरुदेव मे उनकी श्रद्धा कम होती गई, क्योंकि उन्होने भगवान् शिव को प्रभु श्रीराम का भक्त वता दिया·

हर कहँ हरि सेवक गुरु कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय महँ दहेऊ॥

× ×

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुरु कर द्रोह करउँ दिन राती॥

एक दिन शिव-मन्दिर मे वे मन्त्र-जप कर रहे थे। गुरुदेव के आगमन पर भी वे वैठे हुए जप करते रहे। उन्हे यह गर्व था कि शम्भु के प्रति उनका अनन्यानुराग है, जवकि गुरुदेव मे निष्ठा की कमी है·

एक बार हर मंदिर, जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥

गुरुदेव के अन्त करण मे किसी प्रकार का क्षोभ न था, किन्तु रुद्र क्रुद्ध हो उठे। मन्दिर मे आकाशवाणी हुई·

सो दयालु नहिं कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता, सहि नहि सके महेस॥
मंदिर माझ भई नभ-वानी। रे हतभाग्य अन्य अभिमानी॥
जद्यपि तव गुरु कें नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा॥
तदपि साप सठ देहउँ तोही। नीति विरोध सुहाइ न मोही॥
जौं नहि दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥
जे सठ गुरु सन इरिषा करही। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥
बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति व्यापी॥
महा बिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥

शाप अत्यन्त कठोर था, किन्तु यहा भी शिव के अन्त.करण मे करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही थी। अनगिनत लोग नित्य गुरुजनों का अनादर करते रहते है, किन्तु न तो आकाशवाणी होती है और न उन्हे कोई शाप ही देता है। रोष भी व्यक्ति उन्ही पर करता है जिन्हे अपना मानता है। स्वजनो की त्रुटि का परिमार्जन ही गुरुजनों का कर्त्तव्य हे। शिव की दृष्टि भी यही थी। उन्हे यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि भुशुण्डि की भक्ति का भवन अहकार और अज्ञान की नीव पर स्थित है। इसकी ऊचाई किसी भी क्षण अभिशाप बन सकती है।

शिव का क्रोध इसलिए भी आवश्यक था कि भुशुण्डि जो कुछ कर रहे थे, वह केवल शकर की भक्ति के ही नाम पर था। और उनका (शिव का) मौन स्वीकृतिसूचक माना जाता। अत उन्होने अपने ही नाम पर किए जाने वाले मिथ्याचार के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की। उन्हे सर्प होने का जो शाप दिया गया वह भी बडा सार्थक था। अजगर एक ऐसा सर्प है जिसमे गति का अभाव है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उसका अन्त करण पूरी तरह प्रशान्त हो चुका है, किन्तु यह स्थिरता उसके तमोगुण की ही प्रतीक है। समाधिस्थ महात्मा-जैसा प्रशान्त प्रतीत होनेवाला अजगर घोर हिंसक वृत्ति का परिचायक है। वह आहार को सामने पाते ही उसे पूरी तरह निगल जाता है। भुशुण्डि ने भी बैठे रहकर यह प्रदर्शित करने की चेप्टा की थी कि वे जप मे पूरी तरह तल्लीन है, यद्यपि इसका उद्देश्य गुरुदेव को अनादृत करना ही था। गुरु तो वस्तुत. शिव का ही रूप है। यह इप्ट का ही अनादर था। शिव ने दण्ड का समर्थन करते हुए जो वाक्य कहे, वे बडे महत्त्व के है—"यदि मैं तुझे दण्ड नही दूंगा तो मेरा वेद-मार्ग भ्रष्ट हो जाएगा।" मार्ग का निर्माण इसीलिए किया जाता है कि व्यक्ति सरलता से अपने गन्तव्य तक पहुँच जाय। किन्तु यदि कोई व्यक्ति मार्ग पर चलता हुआ मार्ग को ही नष्ट-भ्रष्ट करने पर तुल जाए, तो क्या उसे पथिक की उपाधि दी जा सकती है? ऐसे भी मूर्ख व्यक्ति होते है जो अनजान मे भी ऐसी क्रिया करते है, जो अन्य व्यक्तियो के लिए घातक सिद्ध होती है। एक व्यक्ति पथ मे चलता हुआ केले खाकर उनके छिलको को फेकता चले, तो वह दूसरो के फिसलकर

गिरने का ही प्रबन्ध कर रहा होता है। ऐसे व्यक्ति मे सजगता तभी आ सकती है जब फिसलकर गिरने की पीड़ा का अनुभव उसे स्वयं हो। भुशुण्डि को दिया जाने वाला यह दण्ड इसी पीडा की अनुभूति करानेवाला था। शाप सुनते ही वे काँप उठे। गुरुदेव का हृदय करुणा से द्रवित हो उठा·

हाहाकार कीन्ह गुरु, दारुन सुनि सिव साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति, उर उपजा परिताप॥

गुरुदेव की भावनामयी स्तुति से भगवान् शकर प्रसन्न हो गए। उन्होंने शाप को वापस तो नही लिया, किन्तु उसके साथ कुछ वाक्य जोडकर उसे ऐसा रूप दे दिया कि शाप वरदान से भी वढकर कल्याणकारी सिद्ध हुआ। शिव ने भुशुण्डि को एक हजार जन्म लेने का शाप दिया था। उन्होने कहा, "इसे हजार जन्म तो अवश्य लेने पड़ेगे, किन्तु जन्म और मृत्यु की असह्य पीडा का इसे अनुभव नही होगा। साथ ही इसे पूर्व-पूर्व जन्मो की स्मृति भी वनी रहेगी।" अभिशाप ही उनके जीवन मे अनुभूति का साधन वन गया। इसी अनुभूति का यह परिणाम था कि महर्षि लोमश द्वारा काक होने का शाप सुनकर वे रचमात्र भी विचलित नही हुए, क्योकि उन्हे यह ज्ञात हो चुका था कि सत्पुरुपो के दण्ड मे भी कृपा की ही भावना विद्यमान रहती है। दण्ड के द्वारा वे व्यक्ति के अन्तःकरण का शोधन करते है, और पात्रता का उदय होते ही उसे कृपामृत से पूर्ण कर देते है।

॥ श्रीरामः शरण मम ॥

तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला।
नित नूतन सुदर सब काला॥

अर्थ—उस पर्वत पर वट (बरगद) का एक विशाल वृक्ष है, जो नित्य नूतन है तथा प्रत्येक काल मे सुन्दर है।

श्रीरामचरितमानस मे यह एक अनोखी परम्परा है कि कथा जहाँ पर भी कही गई है (हिमालय पर कही गई या सुमेरु पर्वत के नील शिखर पर अथवा प्रयाग मे), उस स्थान पर वटवृक्ष अवश्य है। गोस्वामीजी बार-बार यह स्मरण दिलाना चाहते है कि कथा वट के नीचे ही होती है। कैलास-शिखर का जो चित्र अंकित किया गया है, उसमे भगवान् शकर वटवृक्ष की छाया मे आसीन है। वटवृक्ष उन्हे अत्यन्त प्रिय लगता है। वे उसकी प्रशसा करते है। शकर वटवृक्ष के नीचे स्वय मृग-चर्म बिछाते है। उसके पश्चात् भगवती उमा आकर प्रश्न करती हैं .

तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुन्दर सब काला॥
त्रिबिध समीर सुसीतल छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया॥
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ॥
निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहिं सम्भु कृपाला॥

काकभुशुण्डि जिस नील शिखर पर रहते है वहाँ पर भी यही वट वृक्ष विद्यमान है

बट तर कह हरि कथा प्रसंगा।

सुमेरु के नील शिखर पर चार शिखर है। उन चार शिखरो पर चार वृक्ष है। वटवृक्ष की शाखा मे काकभुशुण्डिजी कथा कहते है।

प्रयागराज मे तो प्रसिद्ध अक्षय वट है ही, जहाँ श्री याज्ञवल्क्य कथा कहते है। चित्रकूट मे भगवान् राम भी जहाँ निवास करते है, वहाँ पाँच वृक्ष है, किन्तु वहाँ भी मध्य मे वट है जिसकी छाया मे कथा होती है

नाथ देखिअहि बिटप बिसाला। पाकरि जम्बु रसाल तमाला।
तिन्ह तरु बरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा॥

उन वृक्षो के मध्य वटवृक्ष है ·

बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥
जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सिय राम सुजान।
सुनहि कथा इतिहास प्रभु, आगम निगम पुरान॥

आध्यात्मिक अर्थो मे वट को विश्वास के प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया गया है

बट बिस्वास अचल निज धरमा।

'अचल विश्वास' ही वटवृक्ष है। विश्वास की छाया मे बैठे बिना न तो वक्ता बोल सकता है और न ही श्रोता सुन सकता है। यदि वक्ता और श्रोता, दोनो के मन मे सन्देह है, तव न तो कथा कही जा सकती है, और न सुनी ही जा सकती है। वटवृक्ष की अपरिहार्यता का सिद्धान्त इसी धारणा पर आधारित है।

ईश्वर वाणी का विषय नही है, फिर भी जव कोई ब्रह्म-तत्त्व का प्रतिपादन करता है तव उसे वाणी का आश्रय लेना पडता है। शब्द भावनाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसकी तुलना हम एक ऐसे चपक (पात्र) से कर सकते है जिसके माध्यम से रस ग्रहण किया जाता है। चषक का अपना महत्त्व तो है ही, किन्तु मुख्य वस्तु तो चपक के माध्यम से दिया गया रस है। जहाँ व्यक्ति रटे-रटाये शब्दो के माध्यम से ब्रह्म-तत्त्व को प्रतिपादित करने की चेष्टा कर रहा है, वहाँ उसका वह प्रतिपादन अधूरा होगा, क्योकि उसकी वाणी मे विश्वास का वह बल नही होगा, जो दूसरो को आस्था देता है। *विश्वास का यह बल व्यक्ति के जीवन में* तभी आता है, जब उसे स्वय सत्य की अनुभूति हो, अर्थात् वह जो कुछ कह रहा है, उसमे उसका प्रगाढ़ विश्वास हो।

इसीलिए मानस के उत्तरकाण्ड मे जहाँ पर भक्ति की दृढता का उल्लेख किया गया है, वहाँ ज्ञान और विश्वास दोनो के समन्वय की आवश्यकता वताई गई है ·

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

वक्ता अपनी अनुभूति को ही जव वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है तभी श्रोता उस अनुभूति से तदाकार हो पाता है। वक्ता के लिए तो विश्वास महत्त्व-पूर्ण है ही, श्रोता के लिए उसका और भी महत्त्व है। वक्ता तो ज्ञान मे भी स्थित हो सकता है, उसकी अनुभूति सत्य के सन्निकट हो सकती है, पर श्रोता को तो अन्त करण का विश्वास ही रस दे सकता है। यदि उसके अन्त करण मे वक्ता की बातो पर विश्वास न हो, तो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट ज्ञान भी उसे सन्तुष्ट नही कर सकता।

सती शिव की प्रिया थी। कैलास से दण्डकारण्य तक की कठिन यात्रा पूरी करके वे कथा-श्रवण के लिए महर्षि अगस्त्य के आश्रम मे जाती है। मुनि अगस्त्य ने राम-कथा के प्रारम्भ मे ही प्रभु के ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन किया। सती उसी समय तर्क-वितर्क मे डूव जाती है, क्योकि विष्णु के अवतरित होने के सिद्धान्त पर उन्हे विश्वास था, किन्तु "निर्गुण-निराकार अवतरित होता है," इस सिद्धान्त को वे स्वीकार नही करती

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

सशय के छिद्र से सारी कथा बह गई। वे उस छिद्र को मूँदने की चेष्टा नही करती। उन्हे तो यह प्रगट करने मे भी सकोच ही लग रहा था कि उनके हृदय मे

कोई सशय भी है।

महर्षि अगस्त्य का यह उपाख्यान उनके जीवन-दर्शन को प्रगट करता है। टिटिहरी पक्षी के अण्डो को समुद्र की लहरे वहा ले जाती है। टिट्टिभी की प्रार्थना पर समुद्र ने कोई ध्यान नहीं दिया। टिट्टिभ ने समुद्र को सुखाने का संकल्प किया और टिट्टिभ-दम्पती चोच से वालू लाकर समुद्र मे डालने लगे। उनके इस प्रयास पर समुद्र को हँसी आ गई। लहरो की गर्जना के अट्टहास से वह उनकी खिल्ली उडाने लगा। जो इस दृश्य को देखता वह टिट्टिभ-दम्पती को मूर्ख सिद्ध करने की चेष्टा करता और उनसे इस हठ को छोड देने का अनुरोध करता। किन्तु वे अपने निर्णय पर अडिग रहे। महर्षि अगस्त्य इस दृश्य को देखकर चकित रह गए। टिट्टिभ-दम्पती के इस अद्भुत विश्वास ने उन्हे स्नेह से अभिभूत कर लिया। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि टिट्टिभ-दम्पती चोच के द्वारा समुद्र को पाटने का जो प्रयास करते है उसके पीछे उनका ईश्वर पर सुदृढ विश्वास था। वे जानते थे कि समुद्र कितना भी वडा क्यो न हो, कोई उससे भी वडा है जो दीनो का सहायक है। उसकी कृपा से समुद्र भी सूख सकता है। सन्त के माध्यम से प्रभु ने वह सहायता प्रदान की। अगस्त्य ने समुद्र को अण्डे लौटाने का आदेश दिया। उनकी महिमा से परिचित समुद्र ने आदेश का पालन किया।

महर्षि अगस्त्य ने जहाँ कथा सुनाई, वहाँ वाह्य वटवृक्ष भले ही कभी न रहा हो, पर मुनि अगस्त्य और भगवान् शिव के अन्त करण मे विश्वास के रूप मे विद्यमान था। एकमात्र सती ही विश्वास-वट के अभाव मे कथा से वचित रही। सशय-ग्रस्त श्रोता उस व्यक्ति के समान है, जो फूटे हुए पात्र मे अमृत-रस लेकर तृप्त होना चाहता है। सशय एक ऐसा छिद्र है जिसके कारण प्राप्त अमृत भी रिसकर नष्ट हो जाता है!

सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा ।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई ।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे ।
जल हिम-उपल बिलग नहिं जैसे ।।

अर्थ—वेद, पुराण, मुनि और बुध, सवका एक ही मत है कि अगुण और सगुण ों कोई भेद नही है। जो ब्रह्म अगुण, अरूप, अदृश्य और अजन्मा है, वही भक्त के प्रेम के कारण सगुण स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जैसे जल, बर्फ और ओले की आकृति मे भेद दिखाई देने पर भी तीनों वास्तव मे एक ही है, उसी तरह अगुण और सगुण भी एक ही है।

पार्वती के अन्तर्मन मे कुछ प्रश्न थे। उन प्रश्नो का सम्वन्ध उनके पिछले जन्म से था। दक्ष-पुत्री के रूप मे उनकी जिज्ञासा थी, "क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्म का अवतार सम्भव है ?"

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।।

पार्वती के रूप मे जन्म लेने पर उनमे वहुत परिवर्तन आ गया। उनके हृदय मे संशय के स्थान पर श्रद्धा का उदय हुआ। राम-कथा सुनने की उनमे तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई। उन्होने भगवान् शिव से राम-कथा सुनाने की प्रार्थना की। किन्तु उन्होने लजाते हुए यह स्वीकार कर लिया कि "यद्यपि पूर्वजन्म-जैसा घोर मोह तो अब नही है, किन्तु अब भी कुछ सशय मेरे मन मे शेष है। मै चाहकर भी उससे मुक्त नही हो पा रही हूँ। यद्यपि अपने सशय का वहुत वडा दण्ड मुझे पूर्वजन्म मे प्राप्त हो चुका है, फिर भी मेरी प्रार्थना है कि इस अवशिष्ट अज्ञान को आप दूर करने की कृपा करे ! आपने पिछले जन्म मे भी मुझे समझाने की कृपा की थी, उसका स्मरण कर आप क्रोध न करे। आप तो सर्पो को आभूषण के रूप मे धारण करते है, 'भुजग राजभूषन सुरनाथा ।' सशय सर्प है। उससे मै भयभीत हूँ। इन्हे मै आपको अर्पित कर रही हूँ। आप इन प्रश्नो को धन्य बना सकते है।" सक्षेप मे प्रश्नो का स्वरूप यह था

प्रभु, जो मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ।।
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना ।।
तुम्ह पुनि राम राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग आराती ।।
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई ।।

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥
जौं अनीह व्यापक विभु कोऊ। कहऊ बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥
मै बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥
तदति मलिन मन बोध न आवा। सो फल भली भाँति हम पावा॥
अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥
प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा॥
तब कर अस विमोह अव नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं॥
लहहु पुनीत राम गुन गाथा। भुजग राज भूषन सुर नाथा॥
वंदउँ पद धरि धरनि सिर, बिनय करहुँ कर जोरि।
बरनहुँ रघुबर बिसद जस, श्रुति सिद्धान्त निचोरि॥

शैलकुमारी की कथा-पिपासा से शिव बडे प्रसन्न हुए। किन्तु उनके मूल प्रश्न की आलोचना मे उन्होने तीखे शब्दो का प्रयोग किया, "तुम्हारे अन्य सभी प्रश्न मुझे प्रिय लगे। किन्तु तुम्हारा प्रथम प्रश्न मुझे तनिक भी प्रिय नही लगा। तुम्हारा यह कहना कि 'वे राम क्या कोई और है जिनका श्रुतियो ने गायन किया है'—मुझे बड़ा कष्टकारक प्रतीत होता है। ऐसा कथन तो उन पाखण्डियो का है, जो मोह पिशाच से ग्रस्त है। भक्तिहीन व्यक्तियो को सत्य और झूठ का कोई ज्ञान नही है।" उसके बाद तो रुद्र ने इतनी कठोर भाषा का प्रयोग किया कि मानस में किसी अन्य प्रसग मे उतनी उग्रता का दर्शन ही नही होता

एक बात नहि मोहि सुहानी। जदपि मोहवस कहेहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना॥
कहहि सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखण्डी हरि पद बिमुख, जानहि झूठ न साँच॥
अग्य अकोबिद अध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लम्पट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु सन्त सभा नहि देखी॥
कहहि ते बेद असम्मत वानी। जिन्ह के सूझ लाभ नहि हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहि किमि दीना॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिवेका। जल्पहि कल्पित वचन अनेका॥
हरि माया वस जगत भ्रमाही। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूत बिवस मतवारे। ते नहि बोलहि वचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महामोद मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहि काना॥
अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु राम-पद।
सुनु गिरिराज-कुमारि, भ्रम तम रबि कर बचन मम॥

भगवान् शिव अगुण और सगुण मे रच-मात्र भेद नही स्वीकार करते—इसके लिए वे जल, वर्फ और ओले का दृष्टान्त देते है। जैसे आकृति मे पार्थक्य होते हुए

भी इन तीनो में कोई भेद नही है; इसी तरह अगुण और सगुण सर्वथा एक है। जल ही विशेष परिस्थितियो में परिवर्तित होकर हिम का रूप ग्रहण कर लेता है। व्यक्ति ग्रीष्मऋतु मे ताप से व्यथित होकर तृप्ति के लिए शीतल जल पीना चाहता है। उसे केवल जल से संतोष नही होता। वही जल हिम के रूप मे परिणत होकर शीतलता की अनुभूति कराने मे समर्थ होता है।

आकाश में उमड़ते हुए मेघ जल वर्षा तो बहुधा करते है; किन्तु कभी-कभी जल के स्थान पर ओलों की वर्षा होने लगती है। ओला जल को छोड़कर क्या है? इन दोनो मे रचमात्र भी पार्थक्य नही है। इस सत्य को समझने के लिए किसी विज्ञान की आवश्यकता नही है। भेद न होते हुए भी दोनो के द्वारा पड़ने वाले प्रभाव मे कितना अन्तर होता है? जल के द्वारा खेती को जीवन प्राप्त होता है तो ओला उसे विनष्ट कर देता है।

अगुण और सगुण को लेकर विचारको मे वड़ा मतभेद रहा है। कुछ विचारक ईश्वर को निराकार मानते है तो कुछ साकार। कुछ का आग्रह अगुणता पर है तो कुछ उन्हे सगुण स्वीकार करते है। शकर वेदान्त मे ब्रह्म को निर्गुण-निराकार के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। सगुण की स्वीकृति होते हुए भी उसे शुद्ध ब्रह्म के रूप मे स्वीकार न करते हुए 'मायोपहित' कहा जाता है। वैष्णव परम्परा ईश्वर को सगुण या साकार मानती है, उसके लोक-विशेष मे निवास का वर्णन करती है। रामचरितमानस मे दोनो को स्वीकृति दी गई है। दोहावली-रामायण में तुलसी अपनी मान्यता का वड़ा ही भावनात्मक शब्द-चित्र प्रस्तुत करते है.

हिय निर्गुन नैननि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥

हृदय मे निर्गुण-निराकार का निवास है और नेत्र में सगुण-साकार भगवान् विराजते है। इन दोनो के मध्य मे जिह्वा पर रहने वाला राम-नाम वैसे ही सुशोभित हो रहा है जैसे स्वर्ण-मजूषा के मध्य मे रत्न। अन्तर्यामी ब्रह्म को वे अस्वीकार नही करते है। किन्तु यदि वह केवल अन्तर्यामी होगा तो भक्तो के नेत्र कैसे सन्तुष्ट होगे? ब्रह्म की सगुण-साकारता इसी आकाक्षा का परिणाम है। मनु ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए कठिन साधना करते है; किन्तु यह साक्षात्कार उन्हें निर्गुण-निराकार के रूप में अभीष्ट नही है। जिसे योगी निर्विकल्प समाधि कहते है, वह भी उन्हे अभीष्ट नही है। द्रष्टा कूटस्थ ब्रह्म तो अन्त.करण मे है ही! वे तो उस ब्रह्म का दर्शन प्रत्यक्ष करना चाहते है। यह उनके नेत्रो की माँग है:

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन॥

भक्त की भावनाओ को तृप्त करने के लिए जल हिम में परिणत हो गया। विरह-सन्तप्त नेत्र जुड़ा गए। नेत्रो मे जल रहता ही है; यह जल प्रेम का चिह्न है। किन्तु इस जल के रहते हुए भी इनकी प्यास नही बुझती। इसी से किसी गोपी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "सखि! इन नेत्रो को तो कोई विचित्र रोग लग गया है; प्रतिक्षण जल भरे रहने पर भी इनकी प्यास नही बुझती":

सखि इन नैननि को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे प्रतिदिन रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥

इन प्यासे नेत्रो को तृप्ति मिले भी तो कैसे ? आँसू उष्ण हैं। गर्म जल से व्यक्ति की प्यास बुझ भी कैसे सकती है ? इस उष्ण जल को शीतल वनाने के लिए हिम (वर्फ) के मिश्रण की आवश्यकता है। निर्गुण ब्रह्म जल है, सगुण हिम है। यह हिम-रूप नेत्रों मे आते ही शीतलता आ जाती है।

देवता भी निर्गुण ब्रह्म से सगुण रूप-ग्रहण की प्रार्थना करते हैं। किन्तु उन्हे दर्शनो की व्याकुलता नही है। वे ईश्वर का हिम-रूप नही चाहते । वे तो उसे ओले के रूप में पाना चाहते है। लका मे समृद्धि के खेत लहरा रहे है। राक्षसो की यह उन्नति विश्व के लिए घातक है। इसे विनष्ट करने के लिए उपल (ओला) की आवश्यकता है। ईश्वर संहार-शक्ति के माध्यम से रावण को विनष्ट करे, यह उनकी माँग है। प्रभु अवतरित होकर राक्षसो का सहार करते है। ईश्वर का हिम रूप उसकी करुणा को प्रगट करता है, और उपल-रूप मे वह सहारक है। लोककल्याण के लिए ईश्वर अनुग्रह और सहारशक्ति को लेकर प्रगट हो, इसी दृष्टि से उसे 'हिम' और 'उपल' के ये दो प्रतीक दिए गए है।

ब्रह्म यदि निर्गुण-निराकार होगा तो वह सम होगा। पाप-पुण्य के प्रति भी वह उदासीन होगा। दुष्टो के प्रति न तो उसमे रोष होगा, और न वह सज्जनो के प्रति रागान्वित ही होगा :

जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू॥

विश्व को सरक्षण प्रदान करने के लिए यह ब्रह्म उपयोगी सिद्ध नही हो सकता है। भक्त प्रार्थना करता है और वह ब्रह्म निर्गुण से सगुण वन जाता है। यह ईश्वर सम नही हो सकता। सगुण राम भक्ताग्रगण्य हनुमान से स्पष्ट वता देते है, "मुझे सभी लोग सम कहते है, पर सत्य यह है कि मुझे सेवक प्रिय है। विशेष रूप से अनन्याश्रित सेवक तो मुझे सर्वाधिक प्रिय है"

समदरसी मोहि कह सव कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

श्रीमद्भागवत मे भी वे महर्षि दुर्वासा से स्पष्ट कर देते है, "मेरा भक्त मुझे छोड़कर कुछ नही जानता, और मै भी उसे छोड़कर किसी को नही जानता"

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।

जल, हिम और उपल-रूप मे, परिवर्तित होकर भी विकृत नही होता। हिम के रूप मे परिवर्तित जल पुन. पिघलकर जल ही हो जाता है। हिम और उपल भी उपयोगिता की दृष्टि से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है। किन्तु ओला भी पिघलकर जल के ही रूप मे परिवर्तित हो जाता है। अनुग्रह और संहार-शक्ति की भिन्नता भी केवल व्यवहार-भूमि मे ही है। इन सवसे ब्रह्म मे कोई विकृति नही आती है। इसलिए यह कहना उपयुक्त नही है कि निर्गुण और सगुण ब्रह्म मे कोई पार्थक्य है। भगवान् शकर की ओजस्वी वाणी ने उमा की भ्रान्ति का निराकरण कर दिया।

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना ॥

अर्थ—भगवान् के द्वारा वध किए जाने पर भी उनकी मुक्ति नही हुई। क्योकि ब्राह्मणों के द्वारा दिए गए शाप को प्रमाणित करना था।

वैकुण्ठ लोक के द्वारपाल, जय और विजय, सर्वथा भगवान् के तद्रूप प्रतीत होते थे, किन्तु उनके अन्त.करण मे कही कुण्ठा का उदय हो गया। उन्हे तद्रूपता मात्र से समग्र सन्तोष नही था। अवश्य ही जो वैकुण्ठ-लोक में आते थे, उनके अंतः-करण मे भगवान् के दर्शन की तीव्र उत्कठा होती थी। लालसा की तीव्रता मे द्वार-पाल अवरोध सिद्ध हो, यह स्वाभाविक था। जय और विजय को ऐसा प्रतीत होता था कि जो लोग वैकुण्ठ मे आते है वे उनकी उपेक्षा करते है। जबकि वे भगवान् के सदृश सौन्दर्य से युक्त है। कल्पित उपेक्षावृत्ति की धारणा ने उन्हे कुण्ठित कर दिया। परिणामस्वरूप वे अपने अधिकार का दुरुपयोग करने लगे। उन्होने द्वार-पाल का वह अर्थ लिया जो मृत्युलोक मे लिया जाता है। मृत्युलोक मे द्वारपाल सुरक्षा का साधन है। उसका कार्य अनधिकारी को भीतर जाने से रोकना है। किन्तु वैकुण्ठ लोक में कोई ऐसी समस्या नही है, वहाँ तो अनधिकारी पहुँच ही नही सकता। इसलिए वहाँ द्वारपाल का कार्य आगन्तुको का स्वागत-मात्र था, किन्तु जय-विजय की कुण्ठा ने इसे भिन्न रूप दे दिया। एक दिन विष्णु-प्रिया लक्ष्मी को भी उन्होने रोकने की चेष्टा की। यह उनके अन्तर्मन के मात्सर्य का ही परि-चायक था। उन्हे लगा होगा कि अन्यो के द्वारा तो उनकी उपेक्षा कभी-कभी होती है, किन्तु लक्ष्मी तो उनपर कभी दृष्टि भी नही डालती। आगे चलकर हिरण्याक्ष के द्वारा पृथ्वी का अपहरण, रावण के द्वारा श्रीसीताजी का चुराया जाना और शिशुपाल द्वारा रुक्मिणी से विवाह की चेष्टा—इसी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के परिणाम थे। मात्सर्य-ग्रस्त व्यक्ति सदा यह सोचता है कि प्रतिद्वन्द्वी से उसमे कौन-सी कमी है। द्वारपालो के अन्तर्मन मे भी यही प्रश्न उन्हे विक्षुब्ध बनाए रहता था कि नारायण की तुलना में उन्हें हीन क्यो माना जाता है? कहा जाता है कि एक दिन भगवान् नारायण अपनी भुजाओ की ओर देख रहे थे। कुण्ठाग्रस्त द्वार-पालो ने इस क्रिया मे गर्व की झलक देखी। उन्हे लगा कि नारायण को अपनी भुजाओ का गर्व है। स्वभावत· उन्हे लगा कि अभी इन भुजाओ के वल को तोला जाए। तभी इन्हे ज्ञात होगा कि वे अकेले वलशाली नही है। देवी लक्ष्मी और भगवान् नारायण इन कुण्ठाओ को देखकर भी मौन रहे। परन्तु इन कुण्ठाओ की प्रतिक्रिया विस्फोटक वन गई। भगवान् के दर्शनार्थ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नाम के चार महापुरुष एक साथ पधारे। ये चारो ब्रह्मा के मानस पुत्र है। ब्रह्मानन्द मे निरन्तर निमग्न रहने वाले इन महापुरुषों को देखकर

ऐसा प्रतीत होता था कि जसे वेद ही मूर्तिमान हो गये हो :

ब्रह्मानन्द सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥
रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥

दर्शन की उत्कंठा से प्रेरित इन महापुरुषों के प्रति भी द्वारपालो ने अपना व्यवहार दोहराया। क्षुब्ध होकर इन सन्तो ने उन्हे तीन जन्मो तक असुर होने का शाप दिया।

जय-विजय की इस कथा मे न केवल उनकी व्यक्तिगत गाथा है, अपितु जीव के ब्रह्म से पृथक् होने की गाथा का भी सकेत प्राप्त होता है। उपनिपदो की भाषा मे जीव ईश्वर का नित्य सखा है, किन्तु साम्य का सही अर्थ न समझ पाने के कारण ही, जीव हीनता की ग्रन्थि से प्रेरित होकर, अभिमान का प्रदर्शन करता है, और तब अपनी निर्विकार स्थिति से च्युत होकर अनेक जन्म ग्रहण करता है। दो के बाद तृतीय जन्म बहुत्व का ही प्रतीक है। अपने ही विकारो के द्वारा बद्ध यह जीव अंत मे भगवत्कृपा से मुक्त होता है। किन्तु इस मुक्ति की प्रक्रिया क्या है? जय और विजय के तीन जन्मो की गाथा मे इस प्रक्रिया का परिचय प्राप्त होता है।

जय और विजय सर्वप्रथम हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के रूप मे जन्म लेते है। हिरण्याक्ष लोभ का ही घनीभूत रूप जान पड़ता है। वह सारी पृथ्वी को चुरा लेता है। किसी भी व्यक्ति के भरण-पोषण के लिए पृथ्वी का एक छोटा भाग पर्याप्त है, किन्तु आवश्यकता के अनुरूप भूमि की तो बात ही क्या, समग्र पृथ्वी प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति की लोभ-वृत्ति शान्त नही होती। पौराणिक मान्यता की दृष्टि से लक्ष्मी की ही भाँति पृथ्वी भी भगवान् की पत्नी है। अत. समग्र जीव पृथ्वी के पुत्र है, किन्तु आसुरी वृत्ति वाले प्राणी पृथ्वी पर अधिकार औरस्वामित्व का दावा करते है। हिरण्याक्ष के जीवन मे यही वृत्ति अभिव्यक्त होती है। भगवान् वराह-रूप ग्रहण कर उसका वध करते है। समुद्र से पृथ्वी को निकालकर विश्व को आधार प्रदान करते है। कोटि-कोटि व्यक्ति पृथ्वी का प्रसाद पाकर धन्य होते है। इसीलिए शास्त्र आदेश देते है कि प्रात काल उठने के पश्चात् पृथ्वी पर पैर रखने से पहले व्यक्ति को निम्नलिखित श्लोक से उसे प्रणाम करना चाहिए ·

समुद्र-वसने देवि ! पर्वत-स्तन-मण्डले ।
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे ॥

किन्तु हिरण्याक्ष का वडा भाई हिरण्यकशिपु अभी जीवित था। वह मूर्तिमान् मद का प्रतीक है। अहकार लोभ का वड़ा भाई है। लोभी व्यक्ति भी जानता है कि शारीरिक तृप्ति के लिए अत्यधिक लोभ की आवश्यकता नही है। वस्तुत' लोभ के द्वारा व्यक्ति अह को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। हिरण्याक्ष के विनाश से हिरण्यकशिपु कोई शिक्षा ग्रहण नही करता। अत अहकार का 'मद' नाम सर्वथा सार्थक है। जैसे शराब पीकर व्यक्ति वास्तविकता को सर्वथा भुला देता है, इसी प्रकार अहकार-ग्रस्त व्यक्ति पुराने इतिहास से कोई पाठ ग्रहण नही

करता। हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष से भी आगे निकल जाता है। वह केवल भगवान् की वस्तु को चुराने अथवा अपहृत करने का प्रयास ही नही करता, अपितु उन्हें (भगवान् को) मिटाने का भी सकल्प कर लेता है। उसके अहंकार को उस समय बड़ा तीव्र आघात लगता है, जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसका पुत्र भी भगवान् नारायण का भक्त हो चुका है, क्योंकि वह अपनी तपस्या-साधना के द्वारा समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करने मे सफल हुआ था। वह तो स्वयं को ही भगवान् मानकर यज्ञ मे आहुति भी ग्रहण कर लेता था। श्रीमद्भागवत मे उसकी महिमा और ऐश्वर्य का बड़ा ही विलक्षण वर्णन प्राप्त होता है :

तमंगमत्तं मधुनोरुगन्धिना,
विवृत्तताम्राक्षम-शेष - घिष्ण्यपा।
उपासतो पावनपाणिभिर्विना,
त्रिभिस्तपो योग बलौजसां पदम्॥
जुगुर्म हेन्द्रासनमोजसा स्थितं,
विश्वावसुस्तुम्बुरु - रस्मदादय.॥
गन्धर्वसिद्धा ऋषयो स्तुवन्मुहु-
विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव॥
स एव वर्णाश्रमिभि ऋतुभिर्भूरिदक्षिणै.।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा॥
अकृष्टपच्या तस्यासीत्सप्तद्वीपवती मही।
तथा कामदुघाद्यौस्तु नामाश्चर्यपदं नभ॥
रत्नाकराश्च रत्नौवॉस्तत्पत्न्योश्चोहुरुर्मिभि.।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधि - क्षीरामृतोदका:॥
शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमा।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान्॥

"युधिष्ठिर! वह उत्कट गन्धवाली मदिरा पीकर मतवाला रहा करता था। उसकी आँखे लाल और चढी हुई रहती। उस समय तपस्या, योग, शारीरिक और मानसिक वल का वह भण्डार था। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के सिवा और सभी देवता अपने हाथो मे भेट ले-लेकर उसकी सेवा मे लगे रहते॥

"युधिष्ठिर! जब वह अपने पुरुपार्थ से इन्द्रासन पर वैठ गया, तव विश्वावसु, तुम्बुरु तथा हम (नारद) सभी लोग उसके सामने गान करते थे। तथा गधर्व, सिद्ध, ऋषिगण, विद्याधर और अप्सराएँ बार-बार उसकी स्तुति करती थी॥

"युधिष्ठिर! वह इतना तेजस्वी था कि वर्णाश्रम धर्म का पालन करनेवाले पुरुष, जो वडी दक्षिणावाले यज्ञ करते, उनके यज्ञो की आहुति वह स्वय छीन लेता॥

"पृथ्वी के सातो द्वीपो मे उसका अखण्ड राज्य था। सभी जगह बिना जोते-बोए ही धरती से अन्न पैदा होता था। वह जो कुछ चाहता, अतरिक्ष से उसे मिल जाता तथा आकाश उसे भाँति-भाँति की आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखा-दिखाकर

उसका मनोरजन किया करता था ॥

"इसी प्रकार खारे पानी, सुरा, घृत, इक्षुरस, दधि, दुग्ध और मीठे पानी के समुद्र भी अपनी पत्नी नदियो के साथ तरगो के द्वारा, उसके पास रत्न-राशि पहुँचाया करते थे ॥

"पर्वत अपनी घाटियो के रूप मे उसके खेलने का स्थान जुटाते और वृक्ष सव ऋतुओ में फूलते-फलते । वह अकेला ही लोकपालों के सव गुणो को धारण करता ॥"

सारे संसार को अपनी सामर्थ्य से पराभूत कर देने वाला हिरण्यकशिपु, अपने ही घर मे नन्हे वालक के समक्ष पराजित हो गया । प्रह्लाद सच्ची आस्तिकता और भगवद् विश्वास के मूर्तिमान प्रतीक थे । विविध प्रकार के व्यक्तियो के वीच भी वे अपनी निष्ठा मे अचल रहे । हिरण्यकशिपु के अहकार को इससे तीव्र आघात लगा और वह प्रह्लाद के वध के लिए प्रस्तुत हो गया । भगवान् ने नृसिंह-रूप मे पत्थर के स्तम्भ से अवतरित होकर दैत्य के दर्प का दलन किया । अहंकार के स्थान पर भगवद्-विश्वास के घनीभूत रूप प्रह्लाद का राज्य स्थापित हुआ । किंतु जय और विजय की मुक्ति अव भी नही होती है । लोभ और अह की वृत्तियो पर प्रहार होने पर भी अभी अन्य दुर्वृत्तियाँ शेप थी । त्रेता युग मे जव इनका पुनर्जन्म हुआ, तव इनका नाम रावण और कुम्भकर्ण हो जाता है ।

रावण काम के घनीभूत रूप मे समाज के समक्ष आता है । पुलस्त्य-कुलोद्भव रावण महान् पडित था । शास्त्र और शस्त्र, दोनो का ही वह महान् ज्ञाता था । वह स्वर्णमयी लंका पर अधिकार कर लेता है । अनगिनत सुन्दरियो से वह विवाह करता है

देव जच्छ गंधर्व नर, किंनर नाग कुमारि ।
जीति वरीं निज वाहुवल, बहु सुन्दर वर नारि ॥

किन्तु फिर भी उसके जीवन मे भोगो से तृप्ति नही हुई । उसके जीवन की विकृति तव पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, जव वह साधुवेश मे आद्याशक्ति श्रीसीता को चुरा ले आता है और उनके समक्ष अपना अपवित्र प्रस्ताव इन शब्दो मे रखता है ·

तेहि अवसर रावन तहँ आवा । संग नारि बहु किए बनावा ॥
वहु विधि खल सीतहि समुझावा । साम, दाम, भय, भेद दिखावा ॥
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी । मंदोदरी आदि सव रानी ॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा । एक वार विलोकु मम ओरा ॥

अत मे इस विकृति का दड उसे भोगना पडता है । कुम्भकर्ण रावण का छोटा भाई था । निरन्तर सोते रहनेवाला यह व्यक्ति अपने चरित्र मे मोह की दुर्वलताओ को अभिव्यक्त करता है

मोह निसा सब सोवनिहारा । देखहिं सपन अनेक प्रकारा ॥

वह देवर्पि नारद के द्वारा भगवान् राम का स्वरूप जान लेने पर भी, निद्रा-प्रमाद के कारण भगवान् की भक्ति नही कर पाता । रावण के कार्य के अनौचित्य

को जानता हुआ भी वह उसकी ओर से ही युद्ध करता है। "मोह न अध कीन्हि केहि केही" के सिद्धातानुसार वह स्वयं अपने अधत्व को स्वीकार करता है। विभीषण को भक्ति का उपदेश देते हुए अपनी इस स्थिति को वह स्वीकार कर लेता है :-

वचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ कालवस बीर॥

अन्त मे प्रभु के प्रहार से उसकी भी मृत्यु हो जाती है। फिर भी वे मुक्त नही होते। द्वापर युग मे उनका जन्म शिशुपाल और दन्तवक्त्र के रूप मे होता है।

शिशुपाल मात्सर्य से भरा हुआ था। रुक्मिणी को प्राप्त करने की तीव्र आकाक्षा उसके हृदय मे विद्यमान थी। इसके लिए वह रुक्मिणी के भाई से मैत्री जोडने मे समर्थ हो जाता है। किन्तु उसे तब तीव्र आघात लगता है जबकि श्रीकृष्ण के रूप मे अवतरित भगवान् रुक्मिणी का अपहरण कर ले जाते है। देवी रुक्मिणी ने इसके लिए श्रीकृष्ण से अनुरोध किया था। शिशुपाल का मात्सर्य प्रबल हो उठता है। उसकी चरम परिणति महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे होती है। वहाँ यह प्रश्न था कि राजसूय यज्ञ मे प्रथम पूजा का अधिकारी कौन है? अधिकाश लोगो की दृष्टि श्रीकृष्ण की ओर थी, किंतु जब युधिष्ठिर के द्वारा श्रीकृष्ण की प्रथम पूजा का समारम्भ किया गया, तब विक्षुब्ध शिशुपाल उसे नही सह पाया। उसने कठोर शब्दों मे श्रीकृष्ण की भर्त्सना की। अन्त मे भगवान् श्रीकृष्ण के चक्र द्वारा शिशुपाल का शिरच्छेद हुआ और उसका तेज निकलकर भगवान् मे समा गया। इस शिशुपाल का मित्र दन्तवक्त्र था, जो स्वभाव से अत्यन्त क्रूर और क्रोधी था। जहाँ मात्सर्य होगा, वहाँ क्रोध का होना अवश्यम्भावी है। शिशुपाल की मृत्यु से क्रुद्ध दन्तवक्त्र श्रीकृष्ण से उसका बदला लेने का प्रयास करता है, और अन्त मे वह भी विनष्ट होकर भगवान् से एकाकार हो जाता है।

जय-विजय के तीन जन्मों की यह यात्रा, षट्विकारो के उपशमन से समाप्त होती है। व्यक्ति अपने ही मन की अंतर्ग्रन्थियो में बदी बनकर बद्ध हो जाता है। अन्तर्ग्रन्थियो से छूट जाना ही सच्ची मुक्ति है। अन्तर्मन के षट्विकार ही जीवन को बद्ध बना देते है, उनसे मुक्त होते ही व्यक्ति ईश्वर से एकाकार हो जाता है।

॥ श्रीरामः शरण मम ॥

छल करि टारेउ तासु ब्रत, प्रभु सर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब, श्राप कोप कर दीन्ह ॥

अर्थ—सती वृन्दा का व्रत भगवान् विष्णु ने छलपूर्वक नष्ट कर दिया। जब उसने इस रहस्य को जाना, तब क्रुद्ध होकर शाप दे दिया।

पतिव्रता वृन्दा जालधर की पत्नी थी। जालधर एक अत्याचारी शक्तिशाली दैत्य था जिसने समस्त विश्व पर अधिकार कर लिया था और उसके पश्चात् वह अत्याचारी दुराचार करने लगा। उसे नष्ट करने के लिए देवताओ ने अनगिनत प्रयास किए पर वे सफल नही हुए। भगवान् शकर से अनुरोध करने पर उन्होने भी उसके विरुद्ध युद्ध किया किंतु उसकी मृत्यु नही हो रही थी। वस्तुत इसके पीछे वृन्दा की पातिव्रत निष्ठा थी। पातिव्रत या पति-निष्ठा का तात्पर्य क्या है? व्रत और निष्ठा, ये दोनो ही शब्द बडा महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते है।

व्रत का तात्पर्य है—दृढ निश्चय। जब भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रकार का नियम स्वीकार करता है तब उसे हम व्रत के रूप मे स्मरण करते है। निष्ठा का तात्पर्य है—दृढ निश्चय। किसी भी परिस्थिति मे परिवर्तित न हो सकने वाला निश्चय ही निष्ठा है, और इस प्रकार व्रत और निष्ठा एक-दूसरे के समीपी ही नही, अपितु दोनो का समन्वय ही किसी निश्चय को पूर्णता प्रदान करता है।

पत्नी के अन्त करण मे पति के प्रति राग होना स्वाभाविक ही है। जब तक वह राग व्यावहारिक सम्बन्धो पर आधारित है, तब तक उसे हम केवल काम-मूलक सम्बन्ध ही कह सकते है। जब एक स्त्री पति के प्रति धर्म-बुद्धि की प्रेरणा से स्नेह स्वीकार करती है, तब भी वह मध्यम कोटि की ही धारणा है। क्योकि यह भी सम्भव है कि ऐसी परिस्थिति मे उनके मन और बुद्धि मे अतर्द्वन्द्व हो। किसी स्त्री का मन जब किन्ही अन्य वस्तुओ या व्यक्तियो के प्रति भी आकृष्ट हो, किन्तु विवेकपूर्वक वह अपने मन को नियन्त्रित कर पति की सेवा मे सलग्न रहे, तब भी उस पत्नी और पति के सम्बन्धो को हम आदर्श रूप मे स्वीकार नही कर सकते। किन्तु जब स्त्री के हृदय मे अपने पति के प्रति इतनी प्रगाढ आसक्ति का उदय हो जाय कि वह उसे छोडकर समस्त अत करण मे किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति का स्मरण ही न कर सके, तब यह स्थिति व्रत और निष्ठा की कोटि मे आती है। पातिव्रत या पतिनिष्ठा मे महत्त्व पति के चरित्र अथवा योग्यता का उतना नही है, जितना पत्नी के अन्त करण मे पति के प्रति उसके अनन्यानुराग का तथा उसकी दृढ निष्ठा का है। प्राचीन काल से ही यह मान्यता रही है कि जब किसी भी व्यक्ति मे किसी निष्ठा और व्रत का उदय होता है, तब व्रत और निष्ठा के परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति के मन मे अद्भुत शक्तियो का प्राकट्य होता है।

यह निष्ठा किसी व्यक्ति अथवा मूर्ति मे आरोपित की जा सकती है। इसे हम यों कह सकते है कि व्यक्ति के मन मे अद्भुत शक्तियाँ है, किंतु मन की यह क्षमता विविध प्रकार के सकल्पो और विकल्पो के कारण खडित होती रहती है। ऐसी स्थिति मे जब किसी व्यक्ति का अत करण स्वय अपने ही संकल्पो का विध्वस नही करता, तव एकाग्रता के कारण उसकी मन.शक्ति इतनी दृढ हो जाती है कि वह अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा असंभव को भी सभव कर सकता है। पौराणिक उपाख्यानो मे अनेक ऐसी पत्नियो का पतिव्रताओ के रूप में दृष्टात है जिन्होने अपनी पति-निष्ठा के द्वारा इतनी शक्ति प्राप्त की कि वे महानतम कार्य कर सकी।

पतिव्रता अनसूया का नाम पुराणो मे ऐसी महिलाओ मे अग्रगण्य रूप में आता है। अनसूया अत्रि की अनुगामिनी है। अत्रि भोग-वासनाओ से मुक्त एक ऐसे पुरुप है जो निरन्तर लोकमगल के लिए तपस्या में संलग्न रहते है। ऐसी स्थिति के पतिव्रता अनसूया की शक्ति अत्रि की सेवा मे सलग्न रहकर उनके उस कार्य को बढ़ावा देती है। किंतु दूसरी ओर पातिव्रत्य की शक्ति जब किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठा से प्रेरित हो जिस व्यक्ति का जीवन समाज के लिए घातक हो, उस समय धर्म और अधर्म को लेकर सूक्ष्म विवाद का अवसर आता है। पति-व्रता यदि अपनी निष्ठा के द्वारा प्राप्त शक्ति को एक ऐसे व्यक्ति के लिए अर्पित कर देती है जो उस शक्ति का दुरुपयोग कर रहा हो, तब ऐसी स्थिति मे धर्म अधर्म का कवच वनकर, उसे अनिष्ट से बचाने की चेष्टा करता है। जब भी युद्ध मे कोई व्यक्ति किसी पर प्रहार करता है तो उस प्रहार का पहला आघात योद्धा के शरीर पर स्थित कवच को ही सहना पडता है, किंतु प्रहार करनेवाले का उद्देश्य कवच के स्थान पर योद्धा पर विजय प्राप्त करना है। इस प्रक्रिया मे उसे कवच को भी विनष्ट करना पडता है, क्योकि कवच व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान कर रहा है। ठीक इसी प्रकार जब धर्म अधर्म के लिए कवच का कार्य करे, उस समय धर्म पर प्रहार न करने से, धर्म की रक्षा होगी या नही ? विजय कवच की मानी जाती है या धारण करने वाले व्यक्ति की। विजय तो व्यक्ति की होती है। अत: अधर्म जव धर्म का कवच धारण करता है और यदि सामने वाला व्यक्ति धर्म पर प्रहार करने से इसलिए हिचकिचाता है कि यह शास्त्र अथवा परपरा के प्रतिकूल होगा, तव वस्तुत इस द्विविधा का लाभ अधर्म को ही प्राप्त होता है और अधर्म विजयी होता है। ऐसा धर्म, जो अधर्म की विजय मे सहायक हो, जो धर्म को ही नष्ट करने मे सहायता दे, क्या उसे धर्म के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए? यही वह प्रश्न है जिसे इतिहास अनेक रूपो मे दुहराता रहा है।

भगवान् नारायण ने वृंदा के पातिव्रत्य को नष्ट करने के लिए जालधर का का वेश वना लिया और उसका पातिव्रत्य नष्ट कर दिया—इतिहास का यह सत्य चौकाने वाला हो सकता है, किंतु इसमे धर्म की सूक्ष्म गति का ही ज्ञान प्राप्त होता है। भगवान् विष्णु ने न केवल वृन्दा को पातिव्रत्य से च्युत किया अपितु रामचरितमानस मे ही ब्रह्मचर्य-व्रत मे निष्ठ देवर्षि नारद को अपनी माया विश्व-

मोहिनी के द्वारा वासनाभिभूत कर दिया। नारद को ब्रह्मचर्य से च्युत करना अथवा वृन्दा के पातिव्रत्य को नष्ट करना वस्तुत. एक ही सत्य को प्रगट करता है। देवर्पि का ब्रह्मचर्य यदि उन्हे अहकारी वनाकर असुर वनने की प्रेरणा देता है तो ऐसे ब्रह्मचर्य को विनष्ट कर देना ही नारद के लिए और लोक के लिए परम-कल्याणकारी था। इसीलिए काम-विजय के पश्चात् देवर्पि अहकार मे उन्मत्त हो उठते है, वहाँ कामग्रस्त होने के पश्चात् वे भगवान् के चरणो मे नत होकर अपनी त्रुटि स्वीकार कर लेते है। पतिव्रता वृन्दा का व्रत नष्ट करना भी इसी सत्य को —इसी धर्म को—प्रगट करने के लिए था कि निष्ठा का तात्पर्य केवल इतना ही नही है कि व्यक्ति अपनी उस शक्ति के द्वारा अधर्म को अमर वनाने की चेष्टा करे। निष्ठा का केन्द्र भी केवल व्यक्ति नही, आदर्श को ही होना चाहिए।

जव तक इन दोनो का समन्वय नही होगा, तव तक ऐसा धर्म किसी व्यक्ति के अह को, उसके गौरव को, प्रतिष्ठापित तो कर सकता है, किंतु उस व्यक्ति का वह धर्म लोक-मगल के लिए घातक सिद्ध होता है। निष्ठा का वास्तविक तात्पर्य सर्व-व्यापक ब्रह्म को एक केन्द्र से अभिव्यक्त करना है। जव पतिव्रता पति के प्रति निष्ठावान् वनती है, तव इसका अभिप्राय पति मे ईश्वर का साक्षात्कार करना है। यदि पति के प्रति ऐसी पूर्णता की भावना पतिव्रता मे न हो, तव उसके लिए निष्ठा का निर्वाह करना असम्भव है। यदि व्यक्ति किसी आराध्य के चित्र को सामने रख-कर पूजन कर रहा हो, और उसी समय आराध्य आकर द्वार खटखटाने लगे, तव पुजारी का क्या कर्त्तव्य है? क्या वह चित्र की पूजा करता रहे अथवा उठकर आराध्य का स्वागत करे? निष्ठा की अन्तिम परिणति ईश्वर की उपलब्धि है। वृन्दा ने जिसे अपने पातिव्रत्य की च्युति मान लिया था, वस्तुत वह उसकी निष्ठा की सच्ची सार्थकता थी। इसीलिए वृन्दा ही तुलसी के रूप मे परिणत हो गई और भगवान् विष्णु शालिग्राम के रूप मे तुलसी को मस्तक पर धारण करते है। एक ओर विष्णु ने तुलसी को मस्तक पर धारण कर जहाँ पतिव्रता को अतुलनीय गौरव प्रदान किया, वही तुलसी के रूप मे अपनी सगिनी वनाकर वृन्दा को भी इस सत्य का साक्षात्कार कराया कि निष्ठा का चरम साध्य ईश्वर ही है। निष्ठा केवल साधन है, साध्य नही। जालधर के उपाख्यान मे धर्म और अधर्म के इन्ही सूक्ष्म तत्त्वो पर प्रकाश डाला गया है।

वृन्दा के व्रत-अपहरण का परिणाम होता है—जालधर का विनाश। जालधर की मृत्यु का तात्पर्य था: अगणित स्त्रियो की उनके पतियो मे निष्ठा का सरक्षण। जालधर ने स्वयं भगवान् शिव की प्रिया पार्वती को पत्नी रूप मे पाना चाहा था। और इसका तात्पर्य यही तो था कि एक पतिव्रता की निष्ठा-शक्ति के द्वारा वह व्यक्ति अनगिनत नारियो के पातिव्रत्य को विनष्ट करने पर तुला हुआ था। ऐसी स्थिति मे उस पातिव्रत्य को नष्ट करके भगवान् ने लोक मे धर्म की रक्षा के लिए एक व्यक्ति की निष्ठा को मिटा देना आवश्यक समझा। यही इस वृन्दा-प्रसंग का मुख्य सन्देश है।

बोले बिहँसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ।।

अर्थ—तब उन्मुक्त भाव से हँसते हुए भगवान् शंकर ने कहा—कोई भी व्यक्ति ज्ञानी अथवा मूर्ख नही है। रघुपति जब भी जिसे जैसा बना देते हैं, वह उस समय वैसा ही प्रतीत होने लगता है।

कैलास-शिखर पर शिव-शिवा का सम्वाद चल रहा था। पार्वती की जिज्ञासा थी—"ईश्वर का अवतार क्यो होता है ?" शिव ने उत्तर देते हुए अनेक कल्पों की कथा का सूत्रात्मक रूप मे परिचय दिया। उन्होने बताया कि प्रभु प्रत्येक कल्प मे अवतार लेते है और प्रत्येक कल्प मे अवतार के कारण भी भिन्न ही होते है। इस लिए दावे से यह कह पाना सम्भव नही है कि ईश्वर का अवतार ठीक इसी कारण से होता है। एक कल्प मे तो देवर्षि नारद के शाप के कारण ही प्रभु को अवतार लेना पड़ा था

नारद साप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा ।।

चकित पार्वती विश्वास ही नही कर पाती कि देवर्षि ने अपने आराध्य प्रभु को शाप दिया होगा। वे अपना सशय शिव के समक्ष प्रकट कर देती है·

गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी ।।
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमा-पति कीन्हा ।।
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी ।।

पार्वती का अन्त करण नारद के प्रति श्रद्धाभिभूत था। प्रश्न में निहित व्याकुलता को लक्ष्य मे रखकर ही भगवान् शिव खुलकर हँस पडे थे। उन्होने उन घटनाओं और परिस्थितियो का उल्लेख किया, जिनमे देवर्षि ने क्षीरशायी भगवान् नारायण को शाप दिया था। किन्तु सर्वप्रथम शिव ने पार्वती को आश्वस्त करते हुए वह सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका वर्णन शीर्षस्थ पक्ति मे किया गया है।

बडा ही विलक्षण है यह सिद्धान्त, जिसमे ज्ञानी और मूर्ख के भेद को ही अस्वीकार कर दिया गया है। यह मान्यता इस सदर्भ मे और भी आश्चर्यजनक जान पडती है कि इसका प्रतिपादन उन भगवान् शिव के द्वारा किया जाय जिन्होने सर्वप्रथम देवर्षि नारद को सावधान करने की चेष्टा की थी। काम-विजय के पश्चात् देवर्षि अभिमान-भरे अन्त.करण से महेश के पास गये। शिव को यह आशा थी कि वे उन्हे राम-कथा का रसास्वादन कराएँगे। किन्तु नारद ने उन्हे अपनी काम-विजय की गाथा को ही सुनाने मे उत्साह का प्रदर्शन किया। शिव ने देवर्षि के प्रति कल्याण कामना से प्रेरित होकर उन्हें समझाने की चेष्टा की; किन्तु देवर्षि ने उनके उपदेश की सर्वथा उपेक्षा कर दी। ऐसी स्थिति मे पार्वती के द्वारा किए जाने वाले प्रश्न के

उत्तर मे वे यह कह सकते थे कि मेरे उपदेश और चेतावनी को ध्यान मे न रखने का ही यह दुष्परिणाम था । किन्तु वे तो सारे घटनाक्रम को एक भिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है,जहाँ कोई व्यक्ति ज्ञानी और मूढ नही है—जहाँ सब कुछ ईश्वर की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। साधारणतया यह एक बडा विरोधाभासी-सा प्रतीत होता है कि एक ओर तो वे ज्ञानी और मूढ मे कोई भेद ही नहीं स्वीकार करते, और दूसरी ओर वे देवर्षि के अभिमान को दूर करने का प्रयास करते है। किंतु यही जीवन-दर्शन साधक को सन्तुलन प्रदान कर सकता है ।

प्रत्येक दुर्गुण भिन्न मार्ग से जीवन मे प्रविष्ट होता है। मानस के अरण्य-काड मे काम, क्रोध और लोभ के जीवन मे प्रवेश की पद्धति का उल्लेख किया गया है। 'लोभ' इच्छा के माध्यम से जीवन मे प्रविष्ट होता हे। 'काम' नारी के आश्रय से मन पर अधिकार कर लेता है। 'क्रोध' कठोर वाणी का माध्यम लेकर व्यक्ति को असन्तुलित बना देता है·

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि॥

इन दुर्गुणो के मार्ग को अवरुद्धकरके ही व्यक्ति उन्हे जीवन मे प्रविष्ट होने से रोक सकता है। किन्तु अहकार ही एक ऐसा दुर्गुण है जिसके जीवन मे प्रविष्ट होने के अनगिनत मार्ग है। इसलिए जीवन मे अहकार का प्रवेश रोक पाना असभव नही तो कठिन अवश्य है। देवर्षि ने काम, क्रोध और लोभ के मार्ग को अवरुद्ध करने मे सफलता प्राप्त कर ली, किन्तु वे अहकार को जीवन मे प्रविष्ट होने से नही रोक पाए। भगवान् शकर ने देवर्षि के अन्त करण मे प्रविष्ट अहंकार को निकालने की चेष्टा की। किन्तु वे उस समस्या से परिचित थे जो प्रत्येक योग्य चिकित्सक के समक्ष आती है। जब चिकित्सक के समक्ष कोई ऐसा रोगी आता है, जिसका रोग ससर्ग-जन्य हो, तब उसे न केवल रोगी की चिकित्सा करनी पडती है अपितु यह भी ध्यान रखना पडता है कि रोग के कीटाणु स्वय उसमे (चिकित्सक मे) ही प्रविष्ट न हो जायँ।

देवर्षि जिस अभिमान से ग्रस्त थे, वह उनके अन्त करण से निकलकर शिव के हृदय मे प्रविष्ट हो सकता था। यदि वे यह मान लेते कि नारद अहकार ग्रस्त है, किन्तु उनमे 'अह' का अभाव है, अथवा यदि वे पार्वती से यह कहते कि मेरे उपदेशो को न मानने का ही दुष्परिणाम था, तो यह भी अहकार का ही भिन्न रूप होता। किन्तु शिव ने अहकार का मार्ग अवरुद्धकरने मे सफलता पाई।

नाट्यमच पर अभिनय करते हुए अभिनेता परस्पर-विरोधी रूप मे प्रस्तुत होते है। उनमे एक सत और विद्वान् का अभिनय करता है, तो दूसरा दुष्ट अथवा मूर्ख का। अपनी भूमिका के अनुकूल वे दर्शको की सहानुभूति,श्रद्धा,द्वेष अथवा उपहास के पात्र बनते है। नाटक के दर्शक की दृष्टि तो रगमच पर ही होती है। किंतु पर्दे के पीछे का सत्य कुछ भिन्न ही है। [वहाँ तो न कोई चोर है, न कोई सन्त। वहाँ तो सबके सब अभिनेता मात्र है, जिनका कार्य सूत्रधार की इच्छा के अनु-

कूल रंगमच पर अभिनय प्रस्तुत कर देना है। भगवान् शिव इसी नाट्य-दर्शन का प्रतिपादन पार्वती के समक्ष करते हैं। उनकी दृष्टि में यह विश्व रगमंच है और इसका सूत्रधार ईश्वर है। जीव अभिनेता के रूप मे नाट्य-मच पर अपना अभिनय प्रस्तुत करता है। यह आवश्यक नही है कि अभिनेता हर क्षण एक जैसी भूमिका मे प्रस्तुत किया जाए। देवर्षि की भूमिकाएँ बहुरगी है। ज्ञानी, भक्त, तत्त्वज्ञ और मुनि के रूप मे वे बार-बार विश्व-रगमच पर आते रहे। लोग श्रद्धाभिभूत होकर उनके चरणो मे नमन करते थे। किन्तु सूत्रधार ने जब एक बार भिन्न रूप मे उन्हे रगमच पर प्रस्तुत किया तो विशेष प्रकार की भूमिका मे देखने के अभ्यस्त दर्शक चकित हो उठे। आज यह सब क्या हो रहा है ! किन्तु यवनिका के पीछे सूत्रधार पर जिनकी दृष्टि है, उनके लिए इसमे कोई आश्चर्य नही था। यह तो कौतुकी प्रभु की एक क्रीड़ा थी, जिसमे अभिनेताओ की भूमिकाएँ परिवर्तित होती रहती है।

किन्तु इस पक्ति का उद्देश्य ज्ञानी और मूढ़ को समान श्रेणी मे ला देना नही है और न ही इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति इस पक्ति के आधार पर निज की दुर्बलताओ को भगवान् के माथे पर मढकर स्वय को निर्दोष सिद्ध करे। देवर्षि नारद के क्रिया कलाप मे शिव का दृष्टिकोण उपर्युक्त पंक्तियों मे प्राप्त होता है। किन्तु इसे स्वय नारद ने भिन्न रूप मे देखा। स्वयवर-सभा से निराश नारद क्रुद्ध होकर भगवान् को शाप देने के लिए चल पड़े। मार्ग मे ही प्रभु उनके समक्ष प्रकट हो गए। क्रुद्ध नारद ने न केवल दुर्वचनो का प्रयोग किया, अपितु प्रभु को अनेक शाप भी दे डाले। उदार भगवान् उन शापों को सहर्ष स्वीकार कर लेते है :

श्राप सीस धरि हरषि हियँ, प्रभु बहु बिनती कीन्ह।
निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्हि॥

माया-मुक्त होते ही नारद व्याकुल हो उठे। प्रभु के चरणो मे गिरकर क्षमा-याचना करने लगे—"प्रभु, मैने आपके प्रति अनेक दुर्वचनो का प्रयोग किया है, इस पाप का प्रायश्चित क्या होगा? मैने आपको जो शाप दिया है यह झूठा हो जाय"

जब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा, न राजकुमारी॥
तब मुनि अति सभीत हरि-चरना। गहे पाहि प्रनतारति-हरना॥
मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥
मै दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटहि किमि मेरे॥

देवर्षि को नाट्य-दर्शन का ज्ञान था। वे यह भी कह सकते थे कि मैने जो कुछ किया है, उसमे आप ही प्रेरक है। प्रभु देवर्षि की ग्लानि को दूर करने के लिए 'मम इच्छा कह दीनदयाला' जैसी शब्दावली का प्रयोग करते है; किंतु नारद इसे नही स्वीकार करते है। उन्होने स्वय को अपराधी के रूप मे देखा। रुद्रगणों ने इसे नारद के पतन के रूप मे देखा। वे उनकी दुर्बलता की हँसी उडाते रहे। विषयी व्यक्ति इसी दृष्टि से देखने का अभ्यस्त होता है। अपनी दुर्बलताओ को न देखकर दूसरो

की दुर्बलता पर व्यंग करता है और रुद्रगणो की ही भाँति स्वय को आसुरी योनि का अधिकारी बना लेता है। नारद की दृष्टि 'साधक' की दृष्टि है, जो अपनी दुर्बलताओ के लिए स्वय को ही उत्तरदायी मानता है तथा उसके लिए प्रायश्चित करना चाहता है। भगवान् शिव की दृष्टि 'सिद्ध दृष्टि' है, जहाँ सब कुछ ईश्वर की इच्छा से ही होता है। विश्व-रगमच पर प्रत्येक अभिनेता सूत्रधार के आदेश का पालन कर रहा है। इसलिए किसी से राग-द्वेष व्यर्थ है—'ग्यानी मूढ न कोइ !'

॥ श्री राम शरणं मम ॥

करुनानिधि मन दीख बिचारी।
उर अंकुरेउ गरब-तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी॥

अर्थ—करुणानिधि भगवान् ने मन मे विचार कर देखा कि नारद के हृदय मे गर्व का विशाल वृक्ष अंकुरित हो गया है। मै उसे शीघ्र ही उखाड फेकूँगा, क्योकि सेवको का हित करने की मै प्रतिज्ञा ले चुका हूँ।

काम-विजय से गर्वित नारद क्षीरसागर मे भगवान् विष्णु के निकट जाते है। सुहृद शिव के द्वारा दी गई चेतावनी की उपेक्षा करते हुए वे नारायण के समक्ष अपनी काम-विजय की कथा का वर्णन करते है ·

काम-चरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे॥

विष्णु ने व्यंग्यात्मक भाषा मे नारद की प्रशसा की—"आप तो ब्रह्मचर्य व्रत मे स्थित हैं। आपकी बुद्धि स्थिर है। क्या कामदेव आपको कभी पीड़ित कर सकता है? मुझे तो यह लगता है कि आपके स्मरण मात्र से विकार नष्ट हो जाते है"

रूख वदन करि वचन मृदु, बोले श्री भगवान्।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान।
सुनि मुनि मोह होइ मन ताके। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके॥
ब्रह्मचरज-ब्रत-रत मति धीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥

देवर्षि प्रशसा से सन्तुष्ट हुए, किन्तु शाब्दिक विनम्रता का प्रदर्शन करते हुए देवर्षि ने प्रभु की कृपा को ही इसका श्रेय दिया .

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥

शाब्दिक विनम्रता की आड़ मे छिपे हुए अहंकार को प्रभु ने तत्काल पहचान लिया और तब उन्होने इस अहकार को विनष्ट करने का सकल्प कर लिया। मानस मे गर्व के लिए अनेक प्रतीक चुने गए है। किन्तु इस प्रसग में गर्व की तुलना विशाल वृक्ष से की गई है। इस प्रतीक को दो भिन्न रूपो मे देखा जा सकता है। कुछ वृक्ष ऐसे होते है जो अत्यन्त पवित्र माने जाते है, जिन्हे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जा सकता है, किन्तु कभी-कभी वे ही वृक्ष समस्या भी वन जाते है। इस प्रकार के वृक्षो मे वट और पीपल मुख्य है। हिन्दू जाति इन दोनो की पूजा करती है। किन्तु इनके बीज कभी-कभी मकान की नीव और दीवाल में भी अंकुरित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे श्रद्धालु व्यक्ति के समक्ष वड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। क्या जिन वृक्षों की वह पूजा करता है, उनको विनष्ट

करना उसके लिए उचित है ? धर्म-भीरु अनेक व्यक्ति इस संकोच के कारण उन्हें नही उखाड़ पाते और परिणामस्वरूप अच्छे भवन भी नष्ट हो जाते है। धर्म के सच्चे स्वरूप को न जान पाने के कारण ही ऐसी किंकर्त्तव्यविमूढता उत्पन्न होती है। देवर्षि के प्रसग मे यह समस्या उनके अन्त.करण को लेकर उत्पन्न होती है।

काम-विजय, ब्रह्मचर्य आदि भी ऐसे ही सद्‌गुण है जिन्हे सारे समाज मे समादर की दृष्टि से देखा जाता है। पूजनीय वृक्षो की भाँति ऐसे सद्‌गुण-सम्पन्न व्यक्ति का पूजन करना व्यक्ति और समाज का कर्त्तव्य है। देवर्षि नारद की स्थिति भी उस समय ठीक इसी प्रकार की थी। काम-जैसे दुर्दमनीय शत्रु पर विजय उनकी एक ऐसी महान् सफलता थी, जिसकी सराहना स्वय शत्रु भी देव-सभा मे करता है :

मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति-सभा जाइ सब बरनी॥
सुनि सबके मन अचरज आवा। मुनिहिं प्रसंसि हरिहिं सिर नावा॥

काम की सराहना के द्वारा वर्धित यह वृक्ष बाहर ही रहना चाहिए था, किन्तु नारद ने इस प्रशसा को यथार्थ मानकर उसे हृदय मे भी अकुरित होने का अवसर दिया। काम-विजय के पश्चात् वे जब भगवान् शंकर के यहाँ गए, तब शिव यह सोचकर पुलकित हो उठे कि आज सत-तरु के नीचे राम-कथा-रूपी विश्राम की उपलब्धि होगी। किन्तु वहाँ तो राम-कथा का स्थान काम-कथा ने ले लिया था। नारद की दशा उस समय उस मूढ गृहपति की भाँति हो गई जो बडे गर्व से घर की दीवाल मे अकुरित पीपल को दिखलाकर प्रशंसा पाना चाह रहा हो। परम हितैषी महादेव ने उन्हे शिष्ट भाषा मे चेतावनी दे दी :

बार-बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेउँ प्रसंग दुराएहुँ तबहूँ॥

किन्तु देवर्षि की दशा उस धर्म-विमूढ गृहपति की भाँति हो गई, जिसे मित्र के द्वारा वृक्ष उखाडने की सम्मति प्राप्त होने पर ऐसा प्रतीत हो कि मित्र उसे पाप की दिशा मे प्रेरित करना चाहता है। उन्होने सोचा कि शकर यह कहकर कि "विष्णु भगवान् को यह कथा न सुनाना," मुझे कपट की दिशा मे प्रेरित करने का प्रयास कर रहे है। इसीलिए वे बडे अभिमान से भगवान् के समक्ष गर्व से वृक्ष का प्रदर्शन करते है। प्रभु ने यह निर्णय कर लिया कि यदि इस वृक्ष के उखाड़ने का कार्य देवर्षि ने स्वय नही किया तो इस कार्य को पूर्ण करने का भार मै स्वय लूँगा, भले ही इसके बदले मे मुझे कष्ट ही क्यो न उठाना पडे।

"गर्व-तरु भारी" एक दूसरे रूप मे भी ग्रहण किया जा सकता है। गर्व-तरु की तुलना ताड के वृक्ष से की जा सकती है—वह वृक्ष, जो लम्बाई मे सम्भवत: सभी वृक्षो से लम्बा प्रतीत होता है और जिसकी छाया मे किसी पथिक को विश्राम प्राप्त नही होता, वरन् यदि इस वृक्ष का आश्रय लेकर कोई पथिक बैठे तो उसे यह भय हो सकता है कि इसके कठोर फल का तीव्र आघात कही मेरे सिर को ही

घायल न कर दे।

इस वृक्ष से जो रस टपकता है वह ताड़ी के रूप मे परिवर्तित होकर सुरा बन जाता है जिसे पीकर व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। गर्व भी दो ही परिणामों की सृष्टि करता है—या तो वह दूसरो को आघात पहुँचाता है या उन्मत्त बनाता है। ऐसी स्थिति मे गर्व-तरु को विनष्ट कर देना ही औचित्य का मार्ग था।

देवर्षि के अन्त.करण मे अकुरित इस गर्व को प्रभु अपनी वाणी के द्वारा भी विनष्ट कर सकते थे, किन्तु वृक्ष को ऊपर से काटने मे यह भय बना ही रहता है कि मूल के माध्यम से वह पुन. अकुरित न हो जाए। भविष्य की आशका के निवारण का सर्वोत्कृष्ट उपाय यही है कि उसे जड़ से उखाड़ फेका जाए। यदि भगवान् ने देवर्षि नारद से यह कहा होता कि नारद, तुम्हे काम-विजय पर गर्व नही करना चाहिए, तो सम्भव है उपदेश से प्रभावित होकर वे अपनी भूल स्वीकार कर लेते, निरहंकारी-जैसे प्रतीत होने लगते। किन्तु अन्तर्मन मे यह धारणा तो बनी ही रहती कि मै काम विजेता तो हूँ ही, भगवान् के आदेश से 'मैने गर्व का भी परित्याग कर दिया है' और तब यह निरहकारिता का अहकार और भी घातक बन बैठता। नारद के जीवन मे भी ऐसी ही परिस्थिति न आ जाए, इसके लिए भगवान् नारायण को एक विशेष प्रकार की योजना बनानी पडी। उन्हे यह दिखला देने की आवश्यकता थी कि उनके जीवन मे काम-विजय एक क्षणिक सयोग-मात्र था। काम के ऊपर क्रोध न करने का कारण यही नही था कि उनका अन्त.करण क्रोध:-शून्य हो चुका था। इस अक्रोध का तात्पर्य भी अपने औदार्य का प्रदर्शन करना था। प्रदर्शन करते समय व्यक्ति अभिनेता बन जाता है। रग-मच पर सतत्व का प्रदर्शन करना कठिन नही है, किन्तु जीवन मे उसे उतार पाना किसी विरले व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। अभिनेता को दर्शक अभिनय का प्रमाण-पत्र देता है, चरित्र का नही। देवर्षि की देवताओ के द्वारा की गई प्रशसा भी इसी कोटि की थी।

अभिनय द्वारा उत्पन्न इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए प्रभु ने विश्व-मोहिनी-प्रसग की सृष्टि की। उस प्रसग मे देवर्षि न केवल काम के समक्ष अपितु प्रत्येक दुर्गुण के समक्ष पराजित होते है। इसका उद्देश्य दूरगामी था। केवल काम के समक्ष पराजित होने पर यह भ्रान्ति बनी रह सकती थी कि "यद्यपि एक अवगुण के समक्ष मै परास्त हो गया, किन्तु अन्य अवगुण मेरे जीवन मे नही है" ऐसी स्थिति मे उनके अहकार का समूलोच्छेदन न होता। इसलिए षड्विकारो मे से प्रत्येक के समक्ष पराजय का अनुभव करा देना परमावश्यक माना गया। इस प्रक्रिया मे नारद को अत्यन्त कष्ट हुआ। यद्यपि यह प्रहार देवर्षि के ऊपर न होकर उनके अहं पर था, किन्तु जीव स्वय को अह से इतना एकाकार कर लेता है कि उसकी पराजय मे वह स्वयं को ही पराजित मान बैठता है। सत्य तो यह है कि अहंकार की पराजय में ही जीव की सच्ची विजय है। जीव की स्थिति तो उस पराजित व्यक्ति की भाँति हो गई है जो कारागार मे रहते-रहते परतन्त्रता का

अभ्यस्त हो जाए। वस्तुतः जीव को ही जीवन का संचालक होना चाहिए। अहं यदि सच्चे सेवक की भाँति जीव की आज्ञा का पालन करे, तो उसके द्वारा अनेक सत्कर्म हो सकते है। किन्तु अहकार षड्यन्त्रकारी सेवक की भाँति जीव को सत्ताच्युत कर स्वयं उस सिंहासन पर आसीन हो जाता है। अहकार की पराजय से जीव पुन अपने सिंहासन पर आरूढ हो जाता है और तव भगवत्प्रेरणा के प्रकाश से वह धन्य हो उठता है :

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

गर्व-तरु को विनष्ट करने की योजना प्रारम्भ हो जाती है। विश्वमोहिनी का सौन्दर्य देखकर ही यदि नारद मुग्ध हो गए होते, तो यह केवल कामविकार-मात्र माना जाता। किन्तु काम से भी अधिक लोभ ने उन्हे विश्वमोहिनी की ओर आकृष्ट किया। विश्वमोहिनी की हस्त-रेखा देखते ही वे लोभ-ग्रस्त हो गए। क्योंकि उस हस्त-रेखा के अध्ययन से उन्हे ज्ञात हुआ कि इस कन्या से विवाह करने वाला अमर हो जाएगा। उसे युद्ध-क्षेत्र मे कोई परास्त नही कर सकेगा। समस्त जड़-चेतन उस व्यक्ति की सेवा करेंगे .

जो एहि वरइ अमर सो होई। समर भूमि तेहि जीत न कोई॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। वरइ सीलनिधि कन्या जाही॥

भगवान् शकर के द्वारा "चलेउ प्रसग दुराएहु तवहूँ" का अनुरोध किए जाने पर देवर्षि ने उसमे कपट की गध का अनुभव किया था। उस दुराव को उन्होंने धर्म के विरुद्ध माना था। किन्तु आज स्वय वे कपट करने मे सकोच का अनुभव नही करते है। शीलनिधि राजा को हस्तरेखा का समग्र फल वे नहीं वताते हैं। क्योकि उन्हे आशका थी कि फल जानने के पश्चात् राजा शीलनिधि अपनी कन्या किसी अन्य व्यक्ति को दे देंगे .

लच्छन सब विचारि उर राखे। कछुक वनाइ भप सन भाखे॥
सुता-सुलच्छन कहि नृपि पाहीं। नारद चले सोच मन माही॥

जिन भगवान् विष्णु के पास देवर्षि वड़े गर्व से अपने काम-विजय का समाचार सुनाने गए थे, उन्ही के समक्ष अपनी वासना-पूर्ति के लिए व्यग्र होकर सौन्दर्य की याचना करने के लिए जाते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रशसा से गर्वित नारद दीनता-भरे स्वर मे प्रभु से उनके ही रूप की याचना करते है :

वहु विधि विनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला॥
प्रभु विलोक मुनि नयन जुड़ाने। होइहि काज हिए हरषाने॥
अति आरति कहि कथा सुहाई। करहु कृपा करि होहु सहाई॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहि पावौं ओही॥
जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो वेगि दास मैं तोरा॥

उनके वुद्धि-विभ्रम की पराकाष्ठा इस सीमा तक पहुँच गई कि वे भगवान् के स्पष्ट व्यग-वाक्यों को भी नही समझ पाए। उन्होने वडी सरलता से यह मान

लिया कि विष्णु अपना सौन्दर्य उन्हे प्रदान कर रहे है। यद्यपि प्रभु ने स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की थी कि "यदि रोगी कुपथ्य की याचना करे तो वैद्य उसे नही देता है" :

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी। बैंद न देई सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मै ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥

स्वयंवर-सभा मे उपस्थित राजाओ ने देवर्षि का स्वागत नारद के रूप मे ही किया। किन्तु फिर भी उनका ध्यान इस विरोधाभास की ओर नही गया कि यदि उनकी आकृति मे परिवर्तन हो गया होता तो राजाओं ने उन्हे नारद के रूप मे कैसे प्रणाम किया होता ? तब वे स्वयं को दर्पण मे देखने की चेष्टा करते, किन्तु देवर्षि तो पूरी तरह कामान्ध हो चुके थे। एक दिन उन्हे इन्द्र की धारणा उपहासास्पद प्रतीत हुई थी कि वे स्वर्ग पर अधिकार पाना चाहते है। उस समय उन्होंने स्वय को सिंह और इन्द्र को ऐसे श्वान के रूप मे देखा, जिसे यह भय लग रहा हो कि कही सिंह उसके सूखी हड्डी के टुकडे को छीन न ले। किन्तु आज स्वयवर-सभा मे विश्वमोहिनी को प्राप्त करने की सर्वाधिक व्याकुलता देवर्षि के अन्तःकरण मे ही थी .

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हर-गन मुसुकाहीं॥

विश्वमोहिनी के द्वारा भगवान् का वरण किया गया और तब देवर्षि मिथ्या हानि की कल्पना से व्याकुल हो उठे ·

मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥

इस पंक्ति में मोह शब्द का प्रयोग बड़ा सार्थक है। मोह की तुलना रात्रि से की गई है। जैसे निद्रा मे सुषुप्त व्यक्ति स्वप्न को ही यथार्थ समझता है ठीक उसी प्रकार मोह-ग्रस्त व्यक्ति भी माया (जो नही है) को पाने की चेष्टा करता है। उस समय उनकी मन स्थिति उस प्रकार की थी, जैसे कोई दरिद्र व्यक्ति स्वयं को स्वप्न मे सिहासनासीन देखकर प्रसन्न हो रहा हो और हठात् कोई व्यक्ति उसे निद्रा से जगा दे और तब वह जगाने वाले व्यक्ति पर ही क्रुद्ध हो उठे कि उसने उसका सिंहासन छीन लिया। रुद्रगणों ने भी नारद को इस स्वप्न से जगा दिया। "अपना मुख दर्पण मे देखिए" कहने वाले रुद्र-गणों ने नारद को इसी भ्रान्ति से मुक्त करने का प्रयास किया था

तब हर-गन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥

किन्तु देवर्षि क्रुद्ध होकर उन्हे ही शाप देकर दंडित कर देते हैं :

जाइ निशाचर होउ तुम्ह, कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहि सो लेउ फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥

किन्तु इतने से ही वे सन्तुष्ट नही हो पाते। उनका अत.करण क्रोध से अभिभूत हो उठा। काम-विजय के प्रसग मे नारद स्वय को क्रोध का विजेता भी मान बठे थे। पर आज तो उनके क्रोध के केन्द्र स्वय भगवान् ही हो गए। काम ने तो उन्हे श्रीराम से दूर करना चाहा था—यदि वे उस पर क्रोध करते तो यह स्वा-

भाविक और उचित दोनों होता—किन्तु उनके क्रोध के केन्द्र प्रभु उस समय स्वयं बन गए जब वे उन्हे (नारद को) माया से दूर करने के प्रयास में सफल हो गए। उनका क्रोध उस सीमा तक पहुँच चुका था, जब आत्महत्या-जैसे घोर पाप के लिए भी वे प्रस्तुत हो गए थे :

फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥
देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥

किन्तु प्रभु तो अपने महानाट्य को चरम सीमा तक पहुँचाना चाहते थे। इसलिए वे देवर्षि के वैकुण्ठ पहुँचने से पहले ही स्वय मार्ग मे उनके समक्ष प्रगट हो गए ·

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥

बडे ही मधुर स्वर मे प्रभु ने उनसे व्याकुलता का कारण पूछा ·

बोले मधुर बचन सुर-साईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं॥

यही ईश्वर का समत्व था। प्रथम बार वे नारद के समक्ष उस समय प्रगट हुए थे जब प्रभु मे उन्हे गुण-ही-गुण दिखाई देते थे और आज उन्हे उनमे दोष-ही-दोष दिखाई दे रहे है। आज नारद का सन्तुलन सर्वथा समाप्त हो चुका था। एक दिन जिसकी प्रशसा मे वे मुखर थे, आज क्रुद्ध होकर उसके लिए कठोरतम शब्दों का प्रयोग करने लगे ·

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। माया बस न रहा मन बोधा॥
पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी॥
मथत सिंधु रुद्रहिं बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु॥
असुर सुरा बिष संकरहि, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह, सदा कपट ब्यवहारु॥

वस्तुत: नारद द्वारा प्रयुक्त आरोप स्वय उनके अन्त.करण को ही प्रतिबिम्बित कर रहे थे। उनका सर्वप्रथम आरोप था—"पर सम्पदा सकहु नहिं देखी"। पर सत्य यह था कि यह स्थिति स्वय उनकी अपनी ही थी। विश्वमोहिनी भगवान् की माया थी। उन्हे पाने की आकाक्षा 'पर-सम्पदा' के प्रति आकर्षण ही तो था। और इस समय भी विश्वमोहिनी को प्रभु के पास खडे देखकर उनका क्रुद्ध हो जाना उनकी ईर्ष्या-वृत्ति को ही प्रकट कर रहा था, जबकि वे ईर्ष्या का आरोप भगवान् पर लगा रहे थे। प्रभु का सौन्दर्य लेकर अपने विवाह की आकाक्षा मे कपट की पराकाष्ठा थी, किन्तु वे प्रभु को ही कपटी कहकर पुकारते है। एक दिन उन्हे भगवान् शकर का उपदेश सुनकर उनमे मात्सर्य की वृत्ति का अनुभव हुआ था। उन्हे प्रतीत हुआ कि शिव उनकी कीर्ति को प्रसारित नहीं होने देना चाहते। किन्तु आज उन्हे प्रतीत हुआ कि शिव उदार और विशाल हृदय वाले है। विष्णु स्वार्थ और कपट से ओतप्रोत है। यद्यपि सत्य यह था कि समुद्र-मन्थन की कथा मे शिव के दृष्टिकोण पर उन्होने ध्यान दिया होता, तो उन्हें प्रभु पर आरोप लगाने का साहस ही न होता। यदि सचमुच ही विष्णु ने भगवान् शिव को विष पीने के लिए

कहा और उन्होंने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया, तब तो नारद को यह सोचकर ही लज्जित हो जाना चाहिए कि "एक ओर शिव है जो अमृत के स्थान पर विष पीकर भी भगवान् के प्रति कृतज्ञ थे। दूसरी ओर कामना की पूर्ति मे बाधा पड़ते ही क्रुद्ध होकर शाप देने के लिए प्रस्तुत मै (नारद) हूँ।" नारद निन्दा-मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाए—उन्होंने प्रभु को अनेक शाप दिए .

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥
कपि-आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि-विरह तुम्ह होव दुखारी॥

इस तरह जब नारद के अन्तर्मन का आक्रोश पूरी तरह प्रकट हो चुका, तब प्रभु ने वास्तविकता को प्रकट कर दिया—वहाँ न विश्वमोहिनी थी, न लक्ष्मी .

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥

नारद ने उसी क्षण अपनी दुर्बलताओ को पहचान लिया। वे षड्विकारों के द्वारा पराजित हो चुके थे

काम— **जप तप कछु न होइ तेहि काला।**
हे विधि मिलइ कवन विधि बाला॥
क्रोध— फरकत अधर कोप मन माही।
सपदि चले कमलापति पाहीं॥
लोभ— लच्छन सब बिचारि उर राखे।
कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥
मद— **मुनि मन हरष** रूप अति मोरे।
मोह— **मुनि अति बिकल** मोह मति नाठी॥
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी।
मात्सर्य— मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे॥

इतना ही नही—ज्ञान, भक्ति और कर्म—सभी से भी वे वंचित हो चुके थे। अखण्ड ज्ञानमय ईश्वर मे उन्होने माया के प्रति आकर्षण आरोपित कर लिया। भक्ति-परम्परा के विपरीत उन्होने प्रभु की कृपा मे दोष-दर्शन किया। 'जो जस करइ सो तस फल चाखा' के कर्म-सिद्धान्त के विपरीत उन्होने अपराधी होते हुए भी निरपराध भगवान् को शाप देकर दण्डित करने का प्रयास किया। नारद को लगा कि मै न तो ज्ञानी हूँ, न ही भक्ति मे आस्था है और न मेरा व्यवहार ही कर्म-सिद्धान्त के अनुरूप है। व्याकुल होकर वे प्रभु के चरणो को पकड लेते है .

तब मुनि अति सभीत हरि चरना। गहे पाहि प्रनतारति-हरना॥

गर्व-तरु पूरी तरह विनष्ट हो चुका था। प्रभु को प्रसन्नता थी कि भक्त-हित का उनका व्रत पूर्ण हुआ!

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

होइ न विषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि-भगति बिनु ॥

अर्थ—घर मे रहते हुए वृद्धावस्था आ जाने पर भी अत.करण मे विपयो के प्रति वैराग्य नही हुआ। तब महाराज श्रीमनु के मन मे यह महान् दु ख हुआ कि मेरा सारा जन्म हरि-भक्ति के विना व्यतीत हो गया।

मनु भारतीय सस्कृति मे सर्वोच्च व्यक्ति है। क्योकि मनुष्य जाति के आदि-पुरुष के रूप मे पुराणो मे उनकी प्रतिष्ठा की गई है। मनुष्य शव्द ही मनु से सम्वद्ध होने के कारण रखा गया है। मनु मनुष्य जाति के आदिपुरुप ही नही, अपितु भारतीय सविधान के प्रथम निर्माता भी थे। उन्होने समाज के सुव्यवस्थित सचालन के लिए जिस सविधान का निर्माण किया वह मनुस्मृति के रूप मे आज भी उपलव्ध है। यद्यपि स्मृतियो की सख्या अठारह मानी जाती है फिर भी समग्र स्मृतियो मे मनु की स्मृति को ही सर्वाधिक प्रामाणिक स्वीकार किया जाता रहा है। मनु ने स्वनिर्मित सविधान के द्वारा समाज को सचालित करने की चेष्टा की और एक आदर्श राज्य का निर्माण करने मे वे सफल भी हुए। एक व्यक्ति और राजा के रूप मे उनका स्थान अप्रतिम है। किन्तु उपर्युक्त दोहे मे मनु की जिस मन.स्थिति का उल्लेख किया गया है वह रामचरितमानस की व्यक्ति और समाज-सम्वन्धी मान्यताओ को अभिव्यक्त करती है।

राजा के रूप मे मनु का जीवन एक उद्देश्य के प्रति समर्पित होते हुए भी उन्हे आत्मसतोष नही दे पाता। व्यक्ति और समाज का सम्वन्ध अनोखा है। एक ओर व्यक्ति समाज का अग है और इस नाते उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप समाज-हित से सम्बद्ध होना चाहिए—समाज के स्वार्थ की तुलना मे व्यक्ति का स्वार्थ न्यून होना चाहिए। रामचरितमानस की मान्यता भी यही है .

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

इसमे भी इसी मान्यता की पुष्टि की गई है। किन्तु समाज और समष्टि का समर्थन करते हुए भी यह अस्वीकार नही किया जा सकता है कि व्यक्ति का अपना एक पृथक् व्यक्तित्व भी है। समाज के लिए कार्य करते हुए व्यक्ति जिन कार्यों का सम्पादन करता है, यह आवश्यक नही है कि वे कार्य उस व्यक्ति के आत्म-सतोष के हेतु भी वन सके। यही व्यक्ति के जीवन का विरोधाभास है। एक ओर तो व्यक्ति समाज मे रहना चाहता है, क्योकि समाज के अभाव मे उसे कष्टकारक अकेलेपन की अनुभूति होती है। इसीलिए वह गृहस्थजीवन की आवश्यकता का अनुभव करता है। परिवार, प्रान्त एव देश के रूप मे सामाजिक व्यवस्थाओं का सगठन इसी आकाक्षा का परिणाम है। किन्तु क्या व्यक्ति सर्वदा समाज मे ही रहना चाहता

है ? क्या उसे एकात कभी प्रिय नही है ? इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति को रात्रि में प्राप्त हो सकता है। दिन-भर के कर्म से श्रमित व्यक्ति अन्त मे वाहर से भीतर की ओर सिमटता है। दिन-भर का परिश्रम अन्त मे उसे श्रमित कर एक कक्ष में जाने की प्रेरणा देता है। उस समय वह एकान्त मुद्रा मे होता है। उस समय उसे अकेलेपन की आवश्यकता का वोध होता है। तव वह समाज तो क्या, अपने प्रिय परिजनों से भी दूर एकान्त कक्ष मे प्रगाढ निद्रा मे निमग्न हो जाना चाहता है। निद्रा मे निकट-से-निकट व्यक्ति की उपस्थिति का भान भी शेष नही रह जाता।

कर्म व्यक्ति के जीवन मे जहाँ अनेक सफलताओं की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर निराशा और श्रम की अनुभूति भी उसका पीछा नही छोड़ती। और तव वह इन सवको भुलाकर प्रगाढ निद्रा मे स्वय को सुखी कर पाने के लिए सो जाता है। समग्र सामाजिक जीवन का निर्माण और उपयोग करने के बाद भी मनु की मनः-स्थिति इसी सत्य को उजागर करती है। मनु को सामाजिक उपलब्धियो से ही सतोष नही हो सका। उनका आन्तरिक अभाव पूर्ण नही हो पाया। धर्म व्यक्ति को सामाजिकता की ओर उन्मुख करता है। धर्म शब्द का अर्थ भी यही है ·

धारणाद् धर्ममित्याहु.।

किन्तु धर्म के द्वारा जिस सामाजिकता की अनुभूति होती है उसके पश्चात् व्यक्ति के अन्त·करण की परितृप्ति का कार्य एकमात्र भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। धर्म जहाँ सामूहिकता पर वल देता है, वहाँ भक्ति व्यक्ति के अन्त.करण की माँग है। इसीलिए जहाँ धर्म मे व्यक्ति क्रियाकलापो की सीमा मे आवद्ध है, वहाँ भक्ति का मूल केन्द्र क्रिया से नही, अपितु भावनाओं से सम्वन्धित है। अत व्यक्ति के अन्त करण की सन्तुष्टि के लिए, व्यक्ति की व्यक्तिगत भावनाओ की परितृप्ति के लिए धर्म की नही, भक्ति की आवश्यकता है। मनु को जीवन मे भक्ति की आवश्यकता का अनुभव वृद्धावस्था मे हुआ, किन्तु जीवन का एक दूसरा सत्य भी उनके समक्ष था और उपर्युक्त दोहे मे 'होइ न विषय विराग भवन वसत भा चौथपन' कहकर उसका वर्णन किया गया है।

व्यक्ति निर्विवाद रूप से सुख की उपलब्धि करना चाहता है। और इस सुख की उपलब्धि का सवसे स्थूल और निकट साधन विषय ही है। व्यक्ति इन्द्रियो के माध्यम से विषयो का रस प्राप्त कर स्वय को सुखी करना चाहता है। विषयो का महत्त्व इसलिए भी वढ जाता है क्योकि व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिए भी विषयों की आवश्यकता है। शरीर की रक्षा के लिए व्यक्ति को भोजन चाहिए। नासिका, कान ये सभी शरीर के अग है और इन सवकी परितृप्ति के लिए विषयो की अपेक्षा है। विषयो के द्वारा इन्द्रियो को क्षणिक तृप्ति का बोध तो होता है, किन्तु विषय-सेवन का एक दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि वह व्यक्ति की पिपासा को अधिकाधिक वढाता जाता है। विनयपत्रिका मे गोस्वामीजी काम की तुलना अग्नि से करते हुए विषय को घी की उपमा देते है

वुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग वहु घी ते।

व्यक्ति को विषय मे क्षणिक सुखानुभूति तो होती है, किन्तु अन्तःकरण की पिपासा बढती जाती है और उसके साथ-साथ एक दूसरी समस्या भी उत्पन्न होती है और वह यह है कि व्यक्ति की अवस्था के साथ-साथ जहाँ विषय की पिपासा बढ़ती जाती है, वहाँ विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ वृद्धावस्था मे अधिकाधिक असमर्थ भी होती जाती है। जब हम किसी वस्तु को भोगना चाहे और हममे भोग की सामर्थ्य विद्यमान न हो, तो ऐसी परिस्थिति मे व्यक्ति के अन्तर्मन का अशान्त हो जाना स्वाभाविक है। मन विषयो को छोडने मे भयभीत होता है, क्यों कि उसे अनेक जन्मो से विषयो मे सुखानुभूति का अभ्यास बन चुका होता है। विषय के आश्रय से अभ्यस्त रहने वाला व्यक्ति विषय से पृथक् मन मे सुख की अनुभूति की कल्पना ही नही कर पाता। इसीलिए 'विनयपत्रिका' मे गोस्वामीजी मन को एक ऐसी मछली के समान बताते है जो निरन्तर विषय-जल मे रह करके ही स्वयं को जीवित रख पाने पर विश्वास करती है :

विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक।
तेहि ते सहउँ बिपति करुनानिधि, जनमत जोनि अनेक॥

ऐसी स्थिति मे विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ परस्पर-विरोधी दिशा मे व्यक्ति को खीचती है और तब अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति की अशान्ति मे भी वृद्धि होती जाती है।

मनु ऐसा अनुभव करते हैं कि उनका मन भी विषयो का अभ्यस्त हो चुका है। और वह यह कल्पना भी नही कर पाता कि विषय के अभाव मे हम कैसे जीवित रह सकते है। मनु का विवेक प्रवुद्ध था। मनु ने जीवन के वास्तविक सत्य को पहचान लिया था। किन्तु बुद्धि और मन के इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त होना उन्हे कठिन जान पडता था। जब व्यक्ति को किसी वस्तु का अभ्यास हो जाय, तब केवल उपदेश-मात्र से ही उस व्यक्ति को उससे विरक्त नही बनाया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन विषयो को व्यक्ति से दूर करने का प्रयास किया जाए जो समीप रहकर उसके अन्त करण मे आकर्षण उत्पन्न करते है। मनु भी इस सत्य को समझ लेते हैं, और उन्हे लगता है कि सत्ता मे रहते हुए वे विषयो पर पूरी तरह विजय प्राप्त नही कर सकते। विषयो पर विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि राजसिक जीवन के स्थान पर तपस्या का जीवन स्वीकार किया जाए। और तब वे अपनी उस ग्लानि को केवल ग्लानि के ही रूप मे रहने नही देते। हम मे से अनगिनत ऐसे व्यक्ति है जिनके अन्त.करण मे अपनी दुर्बलताओं के प्रति असन्तोष होता है। किन्तु वे उस असन्तोष से मुक्त होने के लिए किसी साहसपूर्ण पग को उठाने मे जिस सामर्थ्य की, जिस आत्मविश्वास की अपेक्षा है, उसका स्वय मे अभाव पाते है। ऐसी परिस्थिति मे वे अपने जीवन को पीडा और अन्तर्द्वंद्व से संत्रस्त रखने के लिए बाध्य हो जाते है। किन्तु मनु मे यह साहस था कि वे इस सत्य का अनुभव कर सके और उसका अनुभव ही नही, उसे क्रियान्वित करने के लिए वे आत्मविश्वास बटोर सके। आत्म-ग्लानि के बाद

उन्होंने अपने अन्त.करण के आत्म-विश्वास को समेटा और तब वे जीवन की चरम सार्थकता—ईश्वर—को प्राप्त करने के लिए वन की ओर चल पडते हैं।

दूसरी ओर कुम्भकर्ण रावण की आलोचना करता है। उसे 'शठ' कहकर अपमानित करता है, भक्ति का उपदेश देता है। इतना ही नही, वह भाषण देते-देते ध्यान-मुद्रा मे बैठ जाता है :

सुनि दसकन्धर बचन तब, कुम्भकरन बिलखान।
जगदम्बा हरि आनि अब, सठ चाहत कल्यान॥
भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥
हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहि मोहि न सुनाएहि आई॥
कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा॥
अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मै जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥
राम रूप गुन सुमिरत, मगन भयउ छन एक।
रावन मागेउ कोटि घट, मद अरु महिष अनेक॥

किन्तु रावण इन बातो का न तो कोई उत्तर देता है, न प्रभावित ही होता है। उसे क्रोध भी नही आता। इसकी तुलना मे विभीषण के द्वारा दिया गया उपदेश सौम्य था। किन्तु रावण ने पाद-प्रहार कर उन्हें सभा से बाहर निकाल दिया। कुम्भकर्ण के उपदेश की एक ही प्रतिक्रिया होती है। कुम्भकर्ण को ध्यान-मुद्रा मे बैठा देखकर वह सुरा और मास लाने का आदेश देता है। इसका कारण यही था कि रावण को यह भली प्रकार ज्ञात था कि कुम्भकर्ण वाणी से चाहे जो भी कहे, क्षण-भर के भावावेश मे आँसू बहा ले, पर वह अपनी दुर्बलताओ को नही छोड़ सकता। हुआ भी यही। नेत्र खुलते ही सामने महिष-मदिरा का दर्शन हुआ। कुम्भकर्ण तत्काल पुराने जीवन मे लौट जाता है :

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥

मनु-जैसे व्यक्ति विरले होते हैं जो सत्य की उपलब्धि के लिए पुराने जीवन को क्षण-भर मे छोड सके।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

पंथ जात सोहहिं मतिधीरा।
ग्यान भगति जनु धरे सरीरा॥

अर्थ—मार्ग मे चलते हुए दोनों (मनु-शतरूपा) ऐसे सुशोभित हो रहे है मानो ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण कर जा रहे हों।

ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता और कनिष्ठता को लेकर विचारकों मे बहुत मतभेद रहा है। कुछ विचारको की दृष्टि मे जीव के परम निःश्रेयस् के लिए एकमात्र ज्ञान ही साधन है, तो दूसरा पक्ष यह गौरव भक्ति को प्रदान करना चाहता है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ मे ही एक कथा आती है—"भारत का भ्रमण करते हुए देवर्षि नारद ने वृन्दावन की दिव्य भूमि में एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा। एक सुन्दरी युवती आँसू बहाती हुई विलाप कर रही है और उसके समक्ष दो वृद्ध मुमूर्षु दशा मे पड़े है। देवर्षि नारद द्वारा परिचय और विलाप का कारण पूछे जाने पर उस युवती ने कहा कि मैं भक्ति हूँ और ये दोनो मेरे वृद्ध पुत्र ज्ञान और वैराग्य है। मेरा जन्म द्रविड़ देश मे हुआ, कर्नाटक मे मैं युवती हुई और गुजरात मे जाकर वृद्धा हो गई। साथ ही मेरे पुत्र ज्ञान और वैराग्य भी बूढे हो गए। मैं तीर्थो का भ्रमण करती हुई वृन्दावन धाम मे आई और यहाँ आते ही मैं तो युवती हो गई, किन्तु मेरे ये दोनो पुत्र ज्ञान और वैराग्य अब भी वृद्ध बने हुए है।" देवर्षि नारद ने श्रीमद्भागवत की कथा सुनाकर ज्ञान और वैराग्य को पुन यौवन प्रदान किया।

वृन्दावन मे भक्ति के युवती हो जाने पर भी ज्ञान और वैराग्य के वृद्ध रह जाने का कारण यही था कि वृन्दावन की भाव-परपरा मे जहाँ भक्ति को असाधारण गौरव प्राप्त है, वहाँ ज्ञान और वैराग्य की सर्वथा उपेक्षा की गई है। दूसरी ओर अद्वैत-परम्परा, ज्ञान-वैराग्य को असाधारण महत्त्व प्रदान करते हुए भी भक्ति के प्रति सर्वदा उदासीन है। श्रीमद्भागवतकार तीनों के समन्वय का दर्शन प्रस्तुत करते है। गोस्वामीजी भी इसी मत से सहमत है। वे भक्ति की व्याख्या करते हुए भक्ति के साथ ज्ञान और वैराग्य की उपस्थिति को भी अनिवार्य मानते है ·

श्रुति सम्मत हरि भगति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पहि पंथ अनेक॥

किन्तु श्रीमद्भागवत में भक्ति और ज्ञान को जहाँ माता और पुत्र के रूप मे प्रस्तुत किया है, वहाँ मानस मे उन्हे पति और पत्नी के रूप मे चित्रित किया गया है। श्रीमद्भागवतकार की साधना-प्रणाली मे भक्ति के माध्यम से, साधक के अन्त करण मे ज्ञान और वैराग्य के उदय की प्रणाली स्वीकार की गई है। अत वहाँ भक्ति को जहाँ माता के उच्च पद पर सम्मानित किया गया है, वही ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के प्राप्य फल मानकर उसे ही सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्रदान की गई है।

रामचरितमानस में ज्ञान और भक्ति को पति-पत्नी के रूप में चित्रित करने का तात्पर्य दोनों की समान स्थिति को स्वीकार करना ही है। पति और पत्नी दोनो ही एक-दूसरे के बिना अधूरे है। ज्ञान की पूर्णता के लिए भक्ति की आवश्यकता है और भक्ति भी अपनी समग्रता के लिए ज्ञान पर आश्रित है। दोनो के सम्मिलन से ही ईश्वर की उपलब्धि होती है। ज्ञान बुद्धि का धर्म है और भक्ति हृदय का। यदि कोई व्यक्ति बुद्धि के द्वारा ईश्वर के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर ले, फिर भी हृदय मे उसको पाने की तीव्र आकाक्षा न हो, तब ईश्वर को पाना सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार हृदय मे उसे पाने की तीव्र आकांक्षा होते हुए भी यदि उसकी उपलब्धि के उपाय का ज्ञान न हो, तब भी उसे नही पाया जा सकता। परमार्थ और व्यवहार दोनो ही क्षेत्रो का यह महान् सत्य है। व्यावहारिक जगत् मे भी वहुधा वे ही व्यक्ति असफल देखे जाते है, जिनमे बुद्धि और हृदय का अन्तर्द्वन्द्व विद्यमान होता है। पारमार्थिक क्षेत्र मे भी यही सिद्धान्त पूरी तरह चरितार्थ होता है। इसीलिए विनयपत्रिका मे गोस्वामीजी अन्त.करण के इसी द्वन्द्व को पागलपन के रूप मे प्रस्तुत करते है :

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध जुर करत फिरत बौराई ।।
कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ।।
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित विडम्ब-रत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी ।।
कबहुँ देव ! जग धनमय, रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति सन्निपात नाना दुख, बिनु हरिकृपा न नासै ।।
संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग राम-पद-प्रेम-हीन नहिं जाई ।।

वस्तुतः केवल मन के द्वारा संचालित व्यक्ति पागल ही हो सकता है। और ठीक इसी प्रकार हृदय के अभाव मे बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित व्यक्ति मात्र जड़यन्त्र की भाँति ही होगा। विवेकहीन भावना और भावनाहीन विवेक, दोनो की चरम परिणति यही है।

वन-पथ मे चलते हुए दो दम्पतियो का चित्र मानस मे प्रस्तुत किया गया है। सती और भगवान् शंकर तथा मनु और शतरूपा। प्रथम की यात्रा की परिसमाप्ति दु.ख और वियोग मे हुई। दूसरे दम्पती की यात्रा परम कल्याणकारी सिद्ध हुई। यद्यपि दोनो ही यात्राओ की परिणति मे प्रभु का साक्षात्कार हुआ, किंतु जहाँ शिव और सती को वियोगी राम का दर्शन हुआ, वहाँ मनु के समक्ष श्रीसीता और राम सयुक्त रूप से आए। इन दोनो प्रसगो के माध्यम से साधना के गम्भीर तत्त्व को हृदयंगम किया जा सकता है।

वन-पथ के समान ही साधना का पथ भी कठिनाइयो से भरा हुआ है। साथ

ही उसकी दूरी भी कम नही है। नीतिकार कहते है कि अकेले यात्रा नही करनी चाहिए। इसके पीछे छिपे हुए व्यावहारिक तथ्य कोई भी यात्री समझ सकता है। अकेले यात्रा मे विघ्न, भय और अधिक थकान की अनुभूति होती है। एक से अधिक यात्रियो की उपस्थिति यात्रा को सुगम और सुखद बना देती है। साधना के पथ का भी यही सत्य है। साधक जब अपने को अकेला अनुभव करता है, तब उसे अधिक थकान की अनुभूति होती है। अपने ही समान उद्देश्य वाले साधक की उपस्थिति से उत्साह और प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु यह साथ मनु और शतरूपा जैसा होना चाहिए, न कि भगवान् शकर और सती-जैसा। भौतिक दृष्टि से यद्यपि शिव और सती एक ही पथ पर चल रहे थे, किन्तु मानसिक दृष्टि से दोनों एक दूसरे से भिन्न दिशा मे चल रहे थे। इस तरह साथ-साथ चलते हुए भी वे वस्तुत. अकेले ही थे। सती दक्ष-पुत्री के रूप मे मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व कर रही थी। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनका व्यक्तित्व भी दो भागो मे बँटकर अलग-अलग दिशाओ मे चल रहा था। उनकी मस्तिष्क यदि दक्ष से प्रभावित था तो हृदय मे भगवान् शकर के प्रति समादर विद्यमान था। किन्तु समस्या तो यह थी कि दक्ष और शंकर का सम्बन्ध मधुरता के स्थान पर कटुता से भरा हुआ था। यही स्थिति सती के अन्त'करण की भी थी। यदि वे हृदय की प्रेरणा से भगवान् शिव के साथ कथा-श्रवण के लिए दण्डकारण्य जाती है, तो बुद्धिमत्ता के अहकार के कारण कथा मे पहुँचकर भी वे श्रवण से वचित रह जाती है। मार्ग मे लौटते हुए उन्हे अप्रत्याशित रूप मे श्रीराम का दर्शन हो जाता है। भगवान् शकर उन्हे देखकर प्रणाम करते है। सती भी शिव के प्रति आदर-भावना के नाते श्रीराम को भगवान् मानना चाहती है। किन्तु वहाँ भी दक्ष-पुत्री की बुद्धि का अहंकार आड़े आ जाता है। उनकी बुद्धि राम को ईश्वर मानने के लिए प्रस्तुत नही होती है। इस अतर्द्वन्द्व का चित्रण मानस की इन पंक्तियो मे किया गया है।

संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृप-सुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥
भए मगन छवि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहित न रोकी॥
ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥
बिष्नु जो सुर-हित नरतनु-धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अन्य इव नारी। ज्ञान-धाम श्रीपति असुरारी॥
सम्भु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सब कोई॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥

यह अन्तर्द्वन्द्व उन्हे विनाश के कगार तक पहुँचाकर दु.ख के गर्त मे धकेल देता है। भगवान् शंकर मे पूर्ण सन्तुलन है। अत. भगवान् के दर्शन से उन्हे विलक्षण सुख की अनुभूति होती है। किन्तु सती का सग उनके लिए दुःखदायी भी सिद्ध होता है—उन्हे सती के त्याग का सकल्प करना पड़ता है :

एहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥

किन्तु यहाँ सती के एक ही जन्म का परित्याग भी विशेष अर्थ रखता है। सती बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है। बुद्धि यदि कभी मार्ग से भटक जाए तो उसका तात्पर्य यह नही कि उसे सर्वथा त्याज्य ही मान लिया जाए। सती शैलपुत्री के रूप मे पार्वती बनकर पुन भगवान् शकर की प्रिया बन जाती हैं।

मनु और शतरूपा की यात्रा मे पूर्ण सामंजस्य विद्यमान है। दोनो के अन्तः-करण की रचना सर्वथा एक-जैसी न होते हुए भी वे परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं; इसीलिए साधना के कठिन पथ पर वे सरलता से आगे बढते जाते हैं। दोनों साथ-ही-साथ तीर्थयात्रा करते हैं, कथा श्रवण करते है और साधना की चरम परिणति मे भगवान् राम और श्रीसीता सयुक्त रूप से उनके समक्ष आते हैं। मनु और शत-रूपा मे समन्वय था, इसीलिए उन्हे समन्वित रूप मे दर्शन प्राप्त हुआ। भगवान् शंकर को अकेले दर्शन देने मे श्रीराम का निहित व्यग्य यही था कि भगवान् शिव भी आन्तरिक दृष्टि से अकेले ही है।

इन दृष्टान्तो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानस की दृष्टि में ज्ञान और भक्ति का समन्वय हुए बिना व्यक्ति को समग्रता प्राप्त नही होती।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहि, ताहि तहाँ लै जाइ॥

अर्थ—जैसी होनी होती है, वैसी ही सहायता प्राप्त होती है। वह व्यक्ति के पास या तो स्वय चलकर आ जाती है या व्यक्ति को ही अपने निकट ले जाती है।

भवितव्यता, नियति, दैव—ये वे शब्द है जिनका स्मरण व्यक्ति उन क्षणो मे करता है जब वह किसी घटना से आश्चर्य-चकित होकर, उसके अतराल मे वैठने की चेष्टा तो करता है, किन्तु बुद्धि सही समाधान देने मे असमर्थ हो जाती है। असमर्थता के इन क्षणो मे ही उसे प्रारब्ध और उसकी प्रवलता की स्मृति आती है। जब व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके द्वारा सोची गयी सारी योजनाएँ अस्त-व्यस्त हो गईं, तव उसके अन्त करण मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इनके पीछे कोई दूसरा नियामक विद्यमान है? और तव वह यह मानने के लिए बाध्य हो जाता है कि इन घटनाओ के पीछे कोई दूसरा नियन्त्रक है, जो हमे अपनी इच्छा के अनुकूल चलाता है।

भवितव्यता का वास्तविक स्वरूप वता पाना अत्यन्त कठिन है—और शायद यही ठीक भी है। वह एक ऐसा रहस्य है जिसे व्यक्ति पूरी तरह कभी भी नही सुलझा पाया—सुलझा लेता तो उसे नियति कहने की आवश्यकता न रह जाती। नियति का तात्पर्य है, "जो पहले से निश्चित है।" व्यक्ति भी पहले से भविष्य के लिए कुछ निश्चय करने का प्रयास करता है। किन्तु जव उसका सोचा हुआ पूरा नही हो पाता एव उसके स्थान पर कुछ और ही क्रियान्वित होता हुआ दिखाई देता है, तव उसे यह प्रतीत होता है कि निश्चय का पूरा अधिकार केवल उसे (व्यक्ति को) ही नही है। किन्तु यह दूसरा कौन है? उसे हमसे क्या लेना-देना है? यह प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के अन्तर्मन को मथते चले आए है। इनकी व्याख्या अनेक रूपो मे की जाती रही है।

इस विराट् ब्रह्माण्ड मे अपने को असाधारण महत्त्व देने वाला व्यक्ति सचमुच ही उतना वडा नही है। वह अनगिनत पदार्थो से सम्बद्ध है; उनसे वह किसी-न किसी रूप मे प्रतिक्षण प्रभावित होता रहता है। कभी वह प्रभाव ऐच्छिक होता है; कभी इच्छा के विरुद्ध। प्रभावित करने वाले तत्त्व भी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते है। अत एक ही समय मे प्रभावित करने वाले इन तत्त्वो मे किसकी विजय होगी, यह गणित असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। इसे ज्योतिप के दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। अनादिकाल से व्यक्ति भविष्य जानने के लिए उत्सुक रहा है। जिन माध्यमो के द्वारा उसने इस रहस्य के भेदन का प्रयास

किया है, उनमे ज्योतिषशास्त्र भी एक है। किन्तु ज्योतिषशास्त्र के ताथाकथित भक्त जिस तरह उसे पूर्ण विद्या समझ बैठे है वह स्वयं ज्योतिषशास्त्र की मान्यता के ही विपरीत है। ज्योतिषशास्त्र की मान्यता तो यह है कि सही भविष्य का दावा तो ब्रह्मा भी नही कर सकते। वस्तुत. ज्योतिषशास्त्र जीवन पर पड़ने वाले अनगिनत प्रभावो मे से केवल नवग्रहो द्वारा पड़ने वाले प्रभाव का ही विश्लेषण करने का प्रयास करता है। उसकी मान्यता को इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है— जिस पृथ्वी पर अनगिनत मनुष्य निवास करते है, वह स्वय स्वतन्त्र न होकर आकाशीय सौर मण्डल का एक भाग है। व्यक्ति जहाँ पृथ्वी के वातावरण से प्रभावित होता है, वहाँ पृथ्वी स्वय सौरमण्डल के अन्य ग्रह-नक्षत्रो से प्रभावित होती रहती है। स्वभावत पृथ्वी पर रहने वाला व्यक्ति उन प्रभावों से अछूता नही रह सकता। दृष्टान्त के रूप मे हम एक ऐसे कमरे की तुलना करे जिसमे कई व्यक्ति रहते है। ज्येष्ठ की दुपहरी मे धूप से बचने के लिए वे अपने कक्ष को बन्द कर लेते है। किन्तु सूर्य की तीव्र किरणो का प्रभाव कक्ष पर पड़ना स्वाभाविक है। अतः चाहकर भी कक्ष मे रहने वाले व्यक्ति उसके प्रभाव से पूरी तरह अछूते नही रह सकते। ऊष्मा सूचक यन्त्र के माध्यम से उस कक्ष के ताप का विश्लेषण किया जा सकता है। उस ताप से पड़ने वाले कक्ष मे स्थित व्यक्तियो के शरीर पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका एक भौतिक विवेचन भी सम्भव है, किन्तु यह विवेचन पूर्ण नही हो सकता। क्योकि इस विवेचन के लिए हमे एक ही कक्ष मे स्थित व्यक्तियों की शरीर-रचना के पार्थक्य पर भी ध्यान देना होगा। एक ही तापमान में पृथक्-पृथक् शरीरो पर उसका एक-जैसा प्रभाव नही पड सकता। फिर यदि ऐसे दो व्यक्तियों की हम कल्पना करे जिनके शरीर की रचना एक-जैसी हो, तब भी यह नही कहा जा सकता कि एक परिस्थिति मे दोनों को समान अनूभूति होगी। क्योकि अनुभूति को ग्रहण करने वाला मन क्या साधारण महत्त्व का है? एक व्यक्ति उसी उत्ताप मे मुस्कराता हुआ उसे झेल लेता है तो दूसरा व्यक्ति रुआँसा होकर अपना दु ख दुगुना कर लेता है। ऐसी स्थिति मे जीवन का समग्र विश्लेषण एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। ज्योतिषशास्त्र की भी अपनी सीमाएँ है। वह नियति के एक भाग को गणित और फलित के माध्यम से प्रकट करने की चेष्टा करता है, फिर भी रहस्ययुक्त भाग ही अधिक महद् सिद्ध होता है। तब व्यक्ति को बाध्य होकर कहना पड़ता है, "···पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्य !" एक ही व्यक्ति पर प्रभाव डालने वाले नवग्रह स्वयं विभिन्न क्षमताओं से युक्त है। जब वे अपनी-अपनी विलक्षणताओ से पृथ्वी और व्यक्ति को प्रभावित करने लगते है, तब यह कहना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि सर्वाधिक प्रभाव किस ग्रह का पडेगा—फिर नियति का अधिकाश रहस्य तो ज्यो-का-त्यो रह ही जाता है।

इस नियति के निर्धारण मे भी व्यक्ति के अपने कर्म ही कारण है, ऐसी कर्मशास्त्र की मान्यता है। अनादिकाल से व्यक्ति अनगिनत रूपो मे जन्म लेता रहता

है। उसके द्वारा असख्य कर्म होते है, जिनका लेखा-जोखा रख पाना किसी वडे-से-वड़े वुद्धिमान् व्यक्ति के लिए भी असम्भव है। इस कर्म के लेखे-जोखे का महान् गणित केवल ब्रह्मा ही कर सकते है—ऐसी पौराणिक मान्यता है। मानस की इन पक्तियो मे भी इसी जटिलता की ओर सकेत किया गया है .

कठिन करम फल जान विधाता।
जो सुभ असुभ करम फल दाता॥

अत नियति व्यक्ति की दृष्टि में अज्ञात है। किन्तु कर्मफल-दाता के लिए वह अज्ञात न होकर निश्चित है। व्यक्ति का अपना गणित जव ब्रह्मा के गणित से टकराता है, तव व्यक्ति के गणित का आकलन सही न हो पाना स्वाभाविक है। यही नियति की विजय है। व्यक्ति की दृष्टि जीवन के एक नन्हे-से भाग में ही सीमित है। उसी के आधार पर उसकी योजनाएँ वनती हैं और परिणाम भी वह उन्ही के आधार पर चाहता है। वह एक ऐसी ऋणी के समान है जिसे पाने मे तो आसक्ति है किन्तु जो चुकाने वाले खाते को भूल चुका है। किन्तु वह पुराना वही-खाता जिसके पास है, वह ऋणदाता उसे कैसे भुला सकता है? भूतकाल का ऋण जव वर्तमान मे चुकाना पडे तव व्यति का क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। ऋणदाता शक्तिशाली है, और ऋणी यदि उसके सामने जाने से कतराए तो भी वह ऋणी को पकड वुलाता है। उसे भुगतान देना ही होगा। यही नियति की प्रवलता है! यदि व्यक्ति को नियति का ज्ञान पहले हो जाय, तो सम्भव है कि व्यक्ति उससे वचने की चेष्टा करे, किन्तु अज्ञात नियति के लिए व्यक्ति कर भी क्या सकता है?

प्रतापभानु के जीवन मे भी नियति का वही दुर्दमनीय रूप सामने आता है। प्रतापभानु के जीवन का जो पक्ष समाज के समक्ष था वह इतना महान् था कि उसमे कही अनिष्ट या अमगल की कल्पना भी नही की जा सकती थी। न केवल अपने लिए अपितु सारे समाज के लिए उसका व्यक्तित्व वरदान था। उसने सारे विश्व पर अधिकार कर लिया। धर्मपूर्वक वह सारे समाज को संरक्षण प्रदान करता है। पृथ्वी कामधेनु वन गई थी। ऐसा लगता था कि प्रतापभानु के राज्य मे दु ख का सर्वथा अभाव हो गया है .

भूप प्रताप भानु वल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई॥
सव दुख वरजित प्रजा सुखारी। धरम सील सुन्दर नर नारी॥
सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती। नृप हित हेतु सिखव नित नीती॥
गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सवकै सेवा॥
भूप धरम जे वेद वखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥
दिन प्रति देइ विविधविधि दाना। सुनइ सास्त्र वर वेद पुराना॥
नाना वापीं कूप तड़ागा। सुमन वाटिका सुंदर वागा॥
विप्र भवन सुर भवन सुहाए। सव तीरथन्ह विचित्र वनाए॥

जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किए सहित अनुराग॥

किन्तु आगे चलकर जो कुछ हुआ उसकी कल्पना भी की जा सकती थी। जब वह वन मे मृगया के लिए गया तब उसके साथ एक विशाल सेना थी, सेनापति और मन्त्री थे; किन्तु नियति की प्रबलता ने उसे अकेला कर किया। वराह को पाने की मृग-मरीचिका ने उसे ऐसे मरुस्थल मे पहुँचा दिया, जहाँ दु:ख और विनाश को छोड़कर और कुछ था ही नही। एक धर्मपरायण राजा निशाचर बनने के लिए बाध्य किया गया। वह अकेला ही नही, अपितु सारा परिवार उसके साथ दण्ड का भागी बना :

बोले बिप्र सकोप तब, नहि कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होउ नृप, मूढ़ सहित परिवार॥
छत्र बंधु तै बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई॥
ईस्वर राखा धरम हमारा। जैहसि तै समेत परिवारा॥
सम्बत मध्य नास तब होऊ। जलदाता न रहहि कुल कोऊ॥

ऐसी परिस्थिति मे जब उसके जीवन मे इतने कठोर दण्ड का कोई कारण न दिखाई दे रहा हो, तब नियति के पुराने खाते पर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। याज्ञवल्क्य और तुलसीदास ने ब्रह्मा और भवितव्यता का स्मरण करते हुए स्वयं को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया ·

याज्ञवल्क्य : **भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम।**
धूरि मेरु सम, जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥

× ×

तुलसीदास **तुलसी जस भवितब्यता, तैसी मिलइ सहाइ।**
आपुनु आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ॥

प्रतापभानु के एक जीवन का इतिहास पढकर ईश्वर को उलाहना देने को मन होता है। उसके प्रति सहानुभूति उमड पडती है। ब्राह्मणों के द्वारा शाप दिये जाने का समाचार सुनकर सारी प्रजा भी व्याकुल होकर ब्रह्मा की आलोचना करके लग जाती है :

सोचहि दूषन दैवहि देहीं। बिरचत हंस काग किय जेहीं॥

किन्तु ब्रह्मा के समक्ष प्रतापभानु के अनगिनत जन्मो का इतिहास रहा होगा। वह न्याय के सिंहासन पर बैठकर कोरी भावुकता मे नही बहता। वह इतिहास से परिचित है, भविष्य का ज्ञाता है। प्रतापभानु ने इस जीवन में जो पाया, वह इसी जन्म का कर्मफल नही था। उसने मीठे फल तो चखे, पर जो विष-वृक्ष उसने लगाए थे, उनके कटु फल कौन चखेगा ? :

फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥

और इस जीवन मे उसने जो सत्कर्म किए है वह शाप से व्यर्थ नही हो

जाएँगे। उसके खाते में वह राशि जमा रहेगी; फिर उसे मिलेगी। रावण के रूप मे जन्म लेकर विश्व ही नही, ब्रह्माण्ड को अपनी इच्छा के अनुकूल वह किस सामर्थ्य से नचाता है? .

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नर-नारी॥

यह प्रतापभानु के रूप में किए गए उसके सत्कर्मो की परिणति थी। इस अनवरत चलते रहने वाले चक्र को मनुष्य पूरी तरह कभी नही समझ पायेगा। उसके लिए यह रहस्यमयी नियति का खेल है!

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा।
मानहिं मातु पिता नहीं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी।।

अर्थ—दुष्ट, चोर और जुआरी बहुत बढ गए है। जो दूसरों की सम्पत्ति और स्त्रियों पर बुरी दृष्टि रखते है, माता, पिता और देवता को जो समादर नही देते तथा जो साधुओ से सेवा लेते है। हे पार्वती! जिनके ऐसे आचरण है, वे सबके-सब व्यक्ति निशाचर ही है।

उपर्युक्त पक्तियो मे भगवान् शकर ने रामचरितमानस की 'निशाचर' संवंधी धारणा पर प्रकाश डाला है। विश्व का इतिहास जातीय संघर्ष की गाथाओ से भरा हुआ है। साधारण दृष्टि से देखने पर रामचतिमानस मे भी जातीय युद्ध का ही स्वरूप दिखाई देता है। मानस के अनुसार रावण के अत्याचार से संत्रस्त देवता भगवान् से प्रार्थना करते है। अपनी प्रार्थना मे उन्होने उनके लिए 'सुरनायक' तथा 'असुरारी' शब्दो का प्रयोग भी किया है

जयजय सुरनायक **जन-सुखदायक प्रनतपाल भगवन्ता।**
गोद्विज-हितकारी जय असुरारी **सिंधु सुता प्रिय कंता।।**

प्रार्थना के पश्चात् ब्रह्मा उनसे रावण के वध का अनुरोध करते है। रावण का जन्म निशाचर जाति मे हुआ है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि यह सघर्ष, देवो और दैत्यों, मनुष्यों और राक्षसो का है। इस दृष्टि से देखने पर, इतिहास के अनगिनत युद्धो के ही सदृश राम-रावण युद्ध भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु उपर्युक्त पंक्तियो के प्रकाश मे गम्भीर विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मानस में निशाचर-सवधी धारणा जातीय सकीर्णता की भावना से प्रेरित नही है।

भगवान् श्रीराम ने दण्डकारण्य मे प्रतिज्ञा करते हुए घोपणा की

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।।

भ्राति के मूल मे भगवान् राम की यही घोषणा है कि यह संकल्प निशाचर जाति के विरुद्ध किया गया सकल्प है। किन्तु लका के युद्ध के पूर्व भगवान् राम का वालि के ऊपर किया जाने वाला प्रहार तथा लंका के युद्ध मे विभीषण सहित अनगिनत राक्षसो का वध न किया जाना उनकी निशाचर-सम्वन्धी मान्यता को स्पष्ट करता है। वालि का जन्म वानर जाति मे हुआ है। वानर रामचरितमानस की मूल मान्यता के अनुसार देवता है। देवताओ ने ब्रह्मा के आदेशानुसार रावण के विरुद्ध सघर्ष-हेतु अवतरित ईश्वर के सहायतार्थ वदर जाति मे जन्म लिया एवं विभिन्न देवता अपने-अपने अशो के माध्यम से बंदरो के रूप मे जन्म लेते है।

यथा सूर्यांश से समुद्भूत सुग्रीव, ब्रह्मा स्वय जाम्ववान् तथा वालि देवराज इन्द्र के ही अश थे। रावण-वध से भी पहले भगवान् राम देवराज इन्द्र के अश से उत्पन्न वालि पर बाण का प्रहार करके अपनी घोपणा मे व्यवहृत निशाचर शब्द की इस परिभाषा को स्पष्ट कर देना आवश्यक मानते है कि आचरण भ्रष्ट देवता भी निशाचर है तथा मेरी दृष्टि मे वह दण्ड का भी पात्र है। एव निशाचर-जात्युत्पन्न व्यक्ति के भी आचरण मे यदि देवत्व है, तो वह देवताओ की अपेक्षा भी मुझे प्रिय है। यही कारण है कि जव भूलुण्ठित वालि ने यह प्रश्न किया कि

मै वैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।।

तो उसके प्रश्न के मूल मे यही धारणा कार्य कर रही थी कि आपका अवतार तो निशाचरो के वध के लिए हुआ है। ऐसी स्थिति मे सुग्रीव के प्रति आपका राग और मेरे प्रति आपका विरोध न तो आपके अवतार के उद्देश्य से सगत है और न यह व्यावहारिक दृष्टि से ही उपयोगी है। किन्तु भगवान् श्रीराम ने वालि को फटकारते हुए उत्तर दिया .

अनुज-वधू भगिनी सुत नारी। सुन सठ, कन्या-सम ए चारी।।
इन्हहि कुदृष्टि विलोकइ जोई। ताहि वधें कछु पाप न होई।।
मूढ़, तोहि अतिसय अभिमाना। नारि-सिखावन करसि न काना।।
मम भुज वल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी।।

स्पष्ट रूप से भगवान् श्रीराम ने जो आरोप लगाया, उसमे प्रस्तुत प्रसग के प्रारम्भ मे निशाचर-सम्वन्धी की गई परिभाषा वालि मे पूरी तरह घटित होती है .

वाढ़े खल वहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा।।

पर-स्त्री पर वासना की दृष्टि डालनेवाला व्यक्ति निशाचर है। लंका-संघर्ष के प्रारम्भ का यह उदाहरण उन लोगो की भ्रान्ति दूर करने के लिए था, जो ईश्वर को किसी जाति विशेष का पक्षपाती या विरोधी स्वीकार करते है। वस्तुत न्याय का आधार जव जाति की मान्यता होगी, तो पक्षपात अवश्यम्भावी होगा और तव सच्चे न्याय की आशा नही की जा सकती है।

ठीक इसी प्रकार शरणागत विभीषण, जो अपना परिचय देते हुए कहते है ·

नाथ, दसानन कर मै भ्राता। निसिचर वंस जनम सुर-त्राता।।

"हे नाथ! निशाचर जाति मे उत्पन्न मै राक्षस रावण का छोटा भाई हूं।" तो केवल जाति के आधार पर विभीषण को वहिष्कृत न करने के लिए प्रस्तुत भगवान् श्रीराम उन्हे हृदय से लगा लेते है। इतना ही नही, प्रभु की शरण मे आये विभीषण की सूचना वानरो के द्वारा प्राप्त होने पर सुग्रीव ने भगवान् राम से निवेदन किया।

आवा मिलन दसानन भाई।।

मानो सुग्रीव का सकेत था कि जिस निशाचर जाति के विनाश का सकल्प

आप कर चुके है, उसका एक व्यक्ति प्राण भय से या किसी असद्प्रवृत्ति से प्रेरित होकर आपके निकट आया हुआ है। निशाचर तो वह है ही, उसके साथ-साथ ही वह रावण का सगा भाई भी है। क्या ऐसे व्यक्ति को शरण मे लेना उपयुक्त होगा? उस समय भगवान् श्री राम ने यही कहा—"मित्र, राजनीति की दृष्टि से यद्यपि तुमने उचित ही कहा है, किन्तु मेरा व्रत तो इससे सर्वथा भिन्न है" .

सखा, नीति तुम्ह नीक बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी ॥

और उसके साथ-साथ प्रभु घोषणा करते है .

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥

× ×

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजऊँ नहिं ताहू ॥

यह पक्ति मानो रावण की ओर इगित करने के लिए ही थी। वाल्मीकि-रामायण मे भगवान् राम सुग्रीव से स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि हे मित्र, विभीषण की तो बात ही क्या, यदि स्वयं रावण भी (यदि वा रावण स्वय) आया हुआ है तो उसे मेरे पास ले आओ। ये पंक्तिया स्पष्ट करती है कि श्रीराम केवल निशाचर जाति मे जन्म लेने के कारण ही किसी व्यक्ति को दण्डित करने के लिए प्रस्तुत नही है। विभीपण तो साधुता के स्वरूप है, उनकी धार्मिकता ससार मे प्रसिद्ध ही थी, किन्तु जिस रावण ने अनेक अत्याचार किये थे, यदि वह अपनी निशाचरी वृत्ति का परित्याग कर अपने आचरण के सदुपयोग का अवसर प्राप्त करना चाहता है, तो श्रीराम उसे भी अपनाने के लिए प्रस्तुत है। इस प्रकार निशाचरत्व की परिभापा रामचरितमानस मे जाति-विशेप मे केवल जन्म लेना नही, अपितु उसके आचरण को स्वीकार करना है।

निशाचर शब्द का अर्थ क्या है? 'निशा' रात्रि का वाचक है और 'चर' गतिशीलता का। व्यक्ति रात्रि मे विश्राम करता है, सूर्य के प्रकाश मे कर्म करता है। इस प्रकार कर्म और विश्राम का समन्वय रखने वाला व्यक्ति स्वस्थ और सुखी रहता है। रात्रि व्यक्ति के विश्राम के लिए है। पर रात्रि का दुरुपयोग जो दूसरो को उत्पीड़ित करने के लिए करना चाहते है, वे मानो ईश्वरीय विधान का उल्लघन करते है।

जुआरी और चोर की मनोवृत्ति क्या है? चोर और जुआरी धन के अभिलाषी है। धन की अभिलाषा पाप नही है। शास्त्रों मे जिन पुरुषार्थो का उल्लेख किया गया है, उनमे धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ और काम भी स्वीकार किए गए है। उन्हें भी वही गौरव प्रदान किया गया है, जो धर्म और मोक्ष को। किन्तु जब कोई व्यक्ति काम और अर्थ की उपलब्धि के लिए सही मार्ग का अवलम्बन लेता है, तव वह व्यक्ति देवत्व की ओर वढता है, और जव इन वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए कोई व्यक्ति असद्मार्ग की ओर वढ़ता है, तव उसे हम 'निशाचर' कहते है। जुआरी और चोर, दोनो ही, अर्थ की उपलब्धि के लिए सरलतम मार्ग पाना चाहते है। जुआरी परिश्रम के स्थान पर केवल पासों के माध्यम से धन एकत्र कर लेना

चाहता है। चोर पुरुपार्थ को छोड़कर रात्रि के समय व्यक्ति की निद्रा का लाभ लेकर दूसरो की परिश्रम से सचित हुई कमाई को चुरा लेना चाहता है। ये दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ जिन व्यक्तियो मे पाई जाती है, रामचरितमानस की दृष्टि मे वे निशाचर है।

रावण के चरित्र के मूल मे जुआरी और चोर की यही मनोवृत्ति है। एक ऐसा व्यक्ति जो चार सौ कोस की सोने की लका का स्वामी है, जिसके पास वैभव का अपार पुज है, जव वह व्यक्ति दण्डकारण्य मे साधु का वेश वनाकर श्रीसीता-जी को चुराने का प्रयास करता है, तव यह स्पण्ट हो जाता है कि असद्मार्ग से श्री, समृद्धि और शक्ति को पाने की अभिलापा व्यक्ति को कितना नीचे की ओर गिरा देती है। उस समय गोस्वामीजी ने रावण की स्थिति को देखकर लिखा :

जाके डर सुर असुर डराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दस-सीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि वल लेसा॥

भरी सभा मे अगद ने यह प्रतिज्ञा की थी कि "यदि तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति मेरा पैर हटा सके तो मैं प्रतिज्ञा करता हू कि श्रीराम लौट जायेगे। मैं श्रीसीताजी को हार जाऊँगा।" उस समय रावण की जुआरी मनोवृत्ति प्रगट हो जाती है। वह उसे एक दाँव के रूप मे लेता है और सोचता है कि यदि इस सरल माध्यम से सीता को प्राप्त किया जा सकता है, तो क्यो न प्राप्त कर लिया जाय। इस प्रयास मे रावण असफल रहता है। किन्तु अंगद भरी सभा मे रावण की दाँव लगाने की इस मनोवृत्ति को प्रगट करने में सफल हो जाते है।

द्रव्य और स्त्री अर्थ और काम के प्रतीक है। व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन मे और व्यावहारिक जीवन मे अर्थ और काम की उपयोगिता पग-पग पर परिलक्षित होती है, किन्तु इस उपयोगिता को सन्तुलित रखने के लिए ही व्यक्ति के जीवन में विवाह और व्यापार का विधान है। जव व्यक्ति धन उपार्जित करना चाहता है, तव उसके लिए व्यापार, कृपि अथवा सेवा का विधान है। और इसी प्रकार जव व्यक्ति काम-सुख की उपलब्धि चाहता है तव उसके जीवन मे पत्नी की आव-श्यकता का वोध होता है। ऐसी स्थिति मे स्त्री और द्रव्य के निपेध से सामाजिक जीवन की समस्या का समाधान नही हो सकता है। किन्तु निशाचर वह है जो अपनी काम सुख की आकाक्षा की पूर्ति के लिए न केवल अपनी पत्नी के प्रति, अपितु दूसरो की पत्नी के प्रति भी कुदृष्टि रखने मे सकोच नही करता है। इसी प्रकार जव कोई व्यक्ति दूसरो का द्रव्य अपहृत कर स्वयं को सुखी वनाना चाहता है, तव भी उसका तात्पर्य उस वृत्ति से है, जो व्यक्ति को दूसरो का धन प्राप्त करने के लिए असद्मार्ग की दिशा मे प्रेरित करती है। इन दोनो मनोवृत्तियो का दुरुपयोग ही राक्षसत्व है। रावण ने अपनी एक मनोवृत्ति का परिचय जीवन के प्रारम्भिक भाग मे दिया और जीवन के उपसहार मे उसकी दूसरी मनोवृत्ति सामने आती है।

प्रारम्भ मे विश्व-भ्रमण करता हुआ रावण जव लका नगरी के समक्ष पहुचता

है, तब वहाँ के वैभव पर उसकी दृष्टि जाती है। स्वर्णमयी लका उस समय यक्षों के अधिकार मे थी। यक्षो के अधिपति कुवेर रावण के वैमात्र वधु है। किन्तु अपने भाई कुवेर की लका पर रावण अधिकार कर लेना चाहता है। एक विशाल सेना लेकर लका पर आक्रमण करता है। कुवेर के सैनिक स्वयं को सघर्ष मे असमर्थ अनुभव करते है और तव वे अपने प्राण लेकर वहा से भाग खड़े होते है। गोस्वामी-जी ने रामचरितमानस मे इस घटना का इन शब्दो मे वर्णन किया है .

देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई॥

रावण स्वर्णमयी लका पर अधिकार कर लेता है। अर्थ की पूर्ति के लिए जो वडे भाई को अनादृत करने मे भी सकोच नही करता है, जिसने अपने वड़े भाई के वाहन को छीनकर स्वय अपने लिए वाहन की व्यवस्था की थी, वह रावण वस्तुत. आसुरी वृत्ति का घनीभूत रूप था। इसीलिए जव भगवान श्रीराम रावण के विरुद्ध सघर्ष करते है, तव वह सघर्ष व्यक्तिगत द्वेष पर आधारित नही था। भगवान् राम यदि निशाचर जाति का वध करते है तो वस्तुतः उनका उद्देश्य उस मनोवृत्ति को विनष्ट करना है, जो दूसरों के उत्पीडन मे सुख का अनुभव करती है। एक ओर रावण है जो अपने वड़े भाई का विमान छीनने मे सकोच नही करता, अपने छोटे भाई विभीषण की छाती पर पाद-प्रहार करता है, तो दूसरी ओर भगवान् श्रीराम है जो अयोध्या का वैभव अपने छोटे भाई श्रीभरत के लिए परित्याग करने मे आनन्द का अनुभव करते है। निष्कर्ष यह है कि रामचरितमानस मे सघर्ष की जिस गाथा का वर्णन किया गया है, उसका आधार जाति न होकर आदर्श है।

आगे चलकर राक्षसत्व की परिभापा करते हुए तृतीय पक्ति मे गोस्वामीजी कुछ और लक्षण भी वताते है—"जो माता और पिता का आदर नही करते, जिन्हे साधुओ से सेवा लेने मे कोई संकोच नही, वे भी निशाचर है।"

समाज मे कृतज्ञता की भावना ही व्यक्ति को एक-दूसरे के लिए त्याग, वलि-दान और सेवा की प्रेरणा देती है। व्यक्ति के शरीर का निर्माण माता-पिता के द्वारा होता है। माता वालक को गर्भ मे धारण करते हुए महान् कष्टो को स्वीकार करती है, वालक की वाल्यावस्था से लेकर उसकी किशोरावस्था तक माता-पिता को वालक के निर्माण और उसकी सुख-सुविधा के लिए अथक प्रयास करना पडता है। ऐसे माता-पिता के प्रति कृतज्ञता ही व्यक्ति के अन्तर्मन मे यह प्रेरणा देती है कि वह उनके इस वात्सल्य के प्रतिदान को सेवा के रूप से चुकाने की चेष्टा करे। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है। जहाँ वाल्यावस्था मे वालक माता-पिता का आश्रित होता है, वही माता-पिता भी वृद्ध होकर वालक के आश्रित हो जाते है। ऐसी परिस्थिति मे कृतज्ञता की यह वृत्ति दूसरे के प्रति समादर की भावना को समाज में वलवती बनाती है। किन्तु निशा-चर माता और पिता के प्रति कृतज्ञता की इस भावना को अस्वीकार करता है। अतएव जो व्यक्ति माता-पिता के द्वारा किए गए व्यवहारों के प्रति कृतज्ञ नही है, उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह समाज मे किसी अन्य व्यक्ति के

द्वारा किए गए उपकार को स्वीकृति देगा ? अथवा वह उसके प्रतिदान का प्रयास करेगा ? दूसरे अर्थो मे यो कह सकते है कि जो व्यक्ति लेता है, किन्तु देने की भावना जिसके अन्त करण मे नही है, वह राक्षत्व की वृत्ति से प्रेरित है। ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण करते समय अपनी प्रजा को जो आदेश दिया, उसे गीता मे इन शब्दो मे कहा गया है

सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥

"यह सृष्टि-चक्र आदान और प्रदान की भावनाओ से निर्मित है। जब कोई व्यक्ति इस गतिशील चक्र को अवरुद्ध कर देता है, तब वस्तुत. न केवल वह अपने लिए, अपितु सारे ससार के लिए एक समस्या की सृष्टि करता है।"

ठीक इसी प्रकार माता और पिता के साथ देवताओ का उल्लेख भी साभिप्राय है। माता और पिता व्यक्ति के समक्ष होते है। किन्तु व्यक्ति का जीवन माता-पिता या केवल दिखाई देने वाले समाज पर ही आश्रित नही है। व्यक्ति को जीवित रहने के लिए प्रकृति की सहायता पर भी प्रतिक्षण निर्भर रहना पडता है। व्यक्ति सूर्य से प्रकाश पाता है। सूर्य के प्रकाश के अभाव मे व्यक्ति ही नही, अपितु समग्र ससार विनष्ट हो जाएगा। अत व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि जो प्रत्यक्ष नही है, किन्तु अप्रत्यक्ष होते हुए जिनकी सहायता हमे उपलब्ध है, उनके प्रति हमारे मन मे कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हो। किन्तु आसुरी वृत्ति से प्रेरित व्यक्ति इसे अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लेता है। वह तो प्रकृति मे निहित देवशक्ति की क्षमताओ को पहचानकर उन्हे भी अपनी इच्छानुकूल चलाने की चेष्टा करता है।

भौतिक विज्ञान जहाँ प्रकृति की जडता को स्वीकार करता है, वहाँ अध्यात्म-शास्त्र प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ मे किसी-न-किसी देवता-विशेप के निवास की बात कहता है। उसके लिए गगा एक नदी मात्र नही है, अपितु परम पुण्यमयी माँ है। उनका एक चित्र उनके अन्त करण मे है। वात्सल्यमयी गगा मकर पर आरूढ होकर चलती है। नदी मे स्नान करते हुए व्यक्ति को यदि उसमे केवल जडता का भान होगा, तब वह नदी का दुरुपयोग करने मे सकोच का अनुभव नही करेगा। किन्तु यदि उसमे उसको चेतना का दर्शन हो, तो उस व्यक्ति के क्रिया-कलाप मे निरन्तर यह सजगता वनी रहेगी कि वह एक चेतन व्यक्ति से व्यवहार कर रहा है। ऐसी मन स्थिति मे गगा के प्रति कृतज्ञता की भावना अभिव्यक्त होगी, देव-शक्तियो के प्रति यह भौतिकतावादी धारणा जहाँ प्रकृति को पराधीन वनाने की दिशा मे प्रेरित करती है, वहाँ पर अध्यात्मवाद प्रत्येक पदार्थ मे छिपे हुए चेतन-तत्त्व को देवता के रूप मे प्रतिपादित करता हुआ व्यक्ति को सावधान करना चाहता है कि वह इस देवता के प्रसाद का सदुपयोग करने की चेष्टा करे।

किन्तु, जैसाकि हम रावण के चरित्र मे पाते है, रावण ने पृथ्वी, जल, वायु आदि समस्त देवताओ पर अपना अधिकार कर लिया एव उन्हे अपनी इच्छा के

अनुकूल चलाने की चेष्टा की, और यह चेष्टा वहुधा दुरुपयोग की दिशा मे ही थी। इस प्रकार राक्षसत्व का तात्पर्य है, चेतना के स्थान पर जडता, कृतज्ञता के स्थान पर कृतघ्नता की भावना का वरण !

ठीक इसी प्रकार, राक्षस साधुओ से सेवा लेते है, इसका तात्पर्य क्या है ? साधु तो स्वभावत दूसरो की सेवा करता है :

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

वह दूसरों को सुख देने के लिए वड़े-से-वडा कष्ट उठाने के लिए भी प्रस्तुत रहता है :

संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥

किन्तु जब सत सेवा के लिए प्रस्तुत हो तो क्या व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह संत के द्वारा की गई सेवा को स्वीकार करे ? नही-नही, वस्तुत. सत के द्वारा की जाने वाली सेवा को देखकर यदि व्यक्ति के अन्त.करण मे दूसरो के प्रति सेवा की वृत्ति जाग्रत् हो, तो यह सत की साधुता का सदुपयोग है किन्तु सेवा के लिए प्रस्तुत सत को देख करके जो सेवा लेने मे आनन्द का अनुभव करता है, वह साधुवृत्ति का दुरुपयोग करता है—और साधुता का दुरुपयोग साधु के लिए भले ही असह्य न हो, किन्तु स्वय ईश्वर उस अनुचित कार्य के द्वारा अप्रसन्न होता है।

श्रीरामचरितमानस मे स्पष्ट रूप से यह सकेत प्राप्त होता है कि विभीषण रावण से अनुरोध करते है कि आप श्रीसीताजी को लौटा दे, किन्तु प्रत्युत्तर मे रावण उनकी छाती पर पाद-प्रहार करता है। विभीषण रावण का पैर पकड़कर उसे दवाने लगते है। प्रत्येक छोटा भाई वडे भाई के चरणो की सेवा करता है— वड़े के चरणो को हृदय से लगाता है। स्वय श्रीलक्ष्मण भगवान् श्रीराम के चरणो को हृदय पर धारण करते है .

पुनि-पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े उर धरि पद जल जाता॥

जब छोटा भाई वडे भाई के चरणों को हृदय पर धारण करता है, तब वह भक्ति होती है। किन्तु यदि बडा भाई अपने चरणो को छोटे भाई के हृदय पर बलात् रख देता है, तब वस्तुत क्रिया-साम्य होते हुए भी, वह असद्वृत्ति का ही परिचायक है। ऐसी स्थिति मे साधुता के द्वारा जो व्यक्ति अपने अन्तर्मन में साधुता की वृत्ति न लाकर उसका दुरुपयोग करता है, वह निशाचर ही है। विभीपण इसीलिए साधु है कि वह प्रहार सह करके भी रावण के हित-चिन्तन के लिए व्यग्र थे, एव रावण इसीलिए निशाचर है कि वह विभीषण-जैसे सत भ्राता का तिरस्कार करने मे रच-मात्र भी सकोच का अनुभव नही करता।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥
यह हबि बॉटि देहु नृप जाई। जथा जोग जेहि भाग बनाई ॥

अर्थ—शृगीऋषि ने भक्ति-सहित आहुति दी, तव अग्निदेव हाथ मे चरु-पात्र लेकर प्रगट हुए। राजन्। इस हवि को ले जाकर वितरित कर दो। योग्यता और आवश्यकता के अनुरूप भागो का वितरण किया जाना चाहिए।

अग्निदेव के हाथ मे स्वर्ण-पात्र और उसमे दिव्य चरु था। अग्निदेव महाराज श्री को चरु-पात्र देते समय हवि के वितरण का आदेश देते है। उसे किस आधार पर वितरित किया जाए, इसका भी सूत्र अग्निदेव प्रस्तुत करते है—"जथा जोग जेहि भाग बनाई" योग्यता के अनुरूप वितरण कीजिए।

वस्तुत यज्ञ तो वितरण की प्रक्रिया ही है। व्यक्ति जव केवल अपने स्वार्थ एव अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए कर्म करता है, तव स्वभावत. उसका कर्म दूसरे व्यक्तियो के स्वार्थ का विघातक वन जाता है। किन्तु जव वही कर्म केवल अपने लिए न होकर समग्र समाज के लिए होता है तव फल की उपलब्धि मे व्यक्ति को वितरण की प्रक्रिया का स्वत ध्यान रहता है। साधारणतया व्यक्ति सोचता है कि यदि मै अकेला कर्म करता हूँ तो उसका परिणाम भी मुझे प्राप्त होना चाहिए, किन्तु यह तो व्यक्ति की भ्रान्ति है। कोई भी व्यक्ति एक भी ऐसा कार्य नही वता सकता जिसे वह अकेले सम्पन्न कर सके। प्रकृति के प्रत्येक क्रिया-कलाप मे हमे इस सामूहिक साहाय्य का अनुभव होता है। प्रकृति का प्रत्येअ अग अपनी क्षमताओ के साथ हमारी सहायता करता है। यज्ञ मे अग्नि तथा देवताओ को आहुति देने का तात्पर्य यही है कि कर्म मे हमे प्रकृति का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो, उसके अभाव मे महान् व्यक्ति भी कर्म का सफलतापूर्वक निर्वाह नही कर सकता। अत अग्नि मे समग्र देवताओ को आहुति देने का तात्पर्य, समष्टि के प्रति व्यक्ति की कृतज्ञता के प्रकाशन के साथ-साथ, उसके इस ज्ञान को प्रगट करना है कि कर्म और प्रकृति का सातत्य सयोग अनवरत रूप से हो रहा है। प्रत्येक वस्तु जिसे हम देते है किसी-न-किसी परिवर्तित रूप मे वह हमे उपलब्ध होती है। यद्यपि वितरण की प्रक्रिया मे ऐसा प्रतीत होता है कि हमने कुछ खोया, और सचय की प्रक्रिया मे ऐसा लगता है कि जैसे हमने कुछ सगृहीत कर लिया है—किन्तु सत्य यह नही है। यदि एक किसान अन्न को केवल अपने प्रकोष्ठ मे भरकर रख दे, तव स्वभावत उसका यह अन्न भोजन के माध्यम से समाप्त हो जाएगा। किसान भोजन के लिए अन्न का प्रयोग करता हुआ भी अन्न का एक भाग जव पृथ्वी मे डालता है तब उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उस अन्न को व्यर्थ ही भूमि मे डाला जा रहा है। ठीक इसके विपरीत, अपने पेट मे अन्न को डालते हुए ऐसा

लगता हैं कि वह हमे पुन. प्राप्त हुआ। और पृथ्वी मे अन्न को डालते हुए ऐसा जान पड़ता है कि जैसे अन्न दिया गया। पर इस सत्य को कौन नही जानता है कि यह पृथ्वी अन्न को स्वयं अपने पास नही रख लेती। वह उसे न जाने कितना गुना वढाकर व्यक्ति को ही लौटा देती है। ठीक इसी प्रकार वितरण की प्रक्रिया मे भी ऐसा भ्रम होना सभावित है कि इस प्रक्रिया के द्वारा हम अपनी उपलब्ध वस्तु को व्यर्थ खो दे रहे है; किंतु वह तो लौटकर आने की प्रक्रिया है। और इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता मे यज्ञ के लिए यज्ञ-चक्र शब्द का प्रयोग किया :

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य । अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

वितरण की प्रक्रिया भी यज्ञ का साकेतिक स्वरूप है। वितरण की यही प्रक्रिया यहाँ भी दुहराई गई जब महाराज श्रीदशरथ ने पुत्रो की उपलब्धि के लिए पुत्रकामेष्टि यज्ञ किया और यज्ञ मे दी जाने वाली उनकी आहुति व्यर्थ नही हुई। सच्ची श्रद्धा और भक्ति से विधिपूर्वक सम्पन्न होने वाले इस यज्ञ के अन्त मे अग्निदेव भी प्राप्त आहुति के वदले मे प्रतिदान देने के लिए प्रस्तुत होते है, और वह प्रतिदान था—चरु के रूप मे।

यहाँ वडा ही साकेतिक प्रतीक प्रयुक्त किया गया है। अग्नि मे आहुति के रूप मे अन्न डाला जाता है। अग्निदेव को जिस रूप मे हम अन्न समर्पित करते है वह एक व्यक्ति के लिए ग्राह्य नही हो सकता। किन्तु वे जब उस प्राप्त आहुति को लौटाते है तो वह पायस के रूप मे था। अन्न तो उसमे विद्यमान था ही, यह दुग्ध से सिक्त भी था, उसमे मिठास थी। इस प्रकार मानो यह वितरण की प्रक्रिया परस्पर एक-दूसरे को तृप्त करने की भावना से सम्बद्ध है। अग्निदेव भी प्राप्त आहुति को पवित्र पायस के रूप मे परिवर्तित करके महाराजश्री को देते है, किंतु देने के साथ-साथ उन्हे यह लगा कि कही यह चरु किसी एक पात्र को ही न दे दिया जाय। लगता है अग्निदेव के अन्तर्मन मे इस धारणा के पीछे कुछ ऐतिहासिक तथ्य छिपे थे।

महाराज श्रीदशरथ का कैकेयी से जब परिणय हुआ था, उस समय कैकेयी के पिता ने उनसे यह वचन लिया था कि उसके द्वारा उत्पन्न पुत्र को ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में महाराजश्री के अन्तर्मन मे इस समस्या का होना अस्वाभाविक नही था कि यदि ज्येष्ठ महारानी कौसल्या को भी पुत्र उत्पन्न हुआ तो फिर राज्य के उत्तराधिकार को लेकर विवाद उठ खडा हो सकता है। क्योकि अयोध्या के राजकुल की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी होना चाहिए। दूसरी ओर महाराजश्री स्वयं कैकेयी के पुत्र को राज्य देने के लिए वचनवद्ध थे। ऐसी स्थिति मे इस उलझन का समाधान यह हो सकता था कि पायस केवल कैकेयी को ही दिया जाए, ताकि पुत्र केवल उनके ही गर्भ से उत्पन्न हो। इसी रूप मे उस समस्या से वचने का प्रयास किया जा सकता था जो अग्निदेव को अभीष्ट न था। इसलिए उन्होने स्पष्ट शब्दों मे आदेश दिया कि यह हवि ले जाकर आप वितरित कर दीजिए। इतना ही नही,

वितरण की प्रक्रिया के लिए उनका मापदण्ड था, "यह वितरण योग्यता के अनुरूप होना चाहिए।" आगे चलकर जब पायस का वितरण किया गया, तब यह स्पष्ट हो गया कि वितरण करते हुए महाराज श्रीदशरथ ने अग्निदेव की आज्ञा का सही अर्थो मे पालन किया। वितरण की प्रक्रिया मे न्याय-भावना को ही प्रधानता दी गई—महाराजश्री ने महारानी कौसल्या को खीर का आधा भाग दे दिया .

अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥

यहाँ मानस के प्रसगानुसार स्पष्ट है कि कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा क्रमश ज्ञान, क्रिया एव भावनाशक्ति की प्रतीक है

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृप.॥

वितरण की सीधी प्रक्रिया यह हो सकती थी कि तीनो रानियो को पायस समान रूप मे वितरित कर दिया जाता। वितरण की यह प्रक्रिया वहिरग दृष्टि से समता के दृष्टात के रूप मे देखी जाती, किंतु इसके स्थान पर वँटवारे की एक जटिल प्रक्रिया का आश्रय लिया गया। समता का सिद्धान्त न केवल तात्त्विक दृष्टि से अपितु व्यावहारिक अर्थो मे भी आकर्षक प्रतीत होता है। किन्तु सही अर्थो मे प्रयोग किए जाने पर ही विभक्तीकरण ससार के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

भोजन के लिए आमत्रित अतिथियो को व्यजन परोसते हुए यदि सवको समान मात्रा मे देने का नियम वना लिया जाए, तो यह अनेक लोगो मे अस्वस्थता और असतोष की सृष्टि करेगा। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता और भूख एक-जैसी नही होती। ऐसी स्थिति मे अनेक ऐसे लोग, जो अल्पाहारी हैं, उन्हे अधिक भोजन के कारण अजीर्ण होने की सम्भावना हो जाएगी। तो दूसरी ओर वहुत-से ऐसे लोग है जो आवश्यकता से कम की उपलव्धि के कारण भूखे रह जाएँगे—उनमे असंतोष उत्पन्न होगा। इसलिए समता सही अर्थो मे तभी कल्याणकारी सिद्ध होगी, जव इस सिद्धान्त का प्रयोग सतुष्टि और तृप्ति के लिए किया जाए।

कौसल्या अम्वा को चरु का आधा भाग देना दो दृष्टियो से आवश्यक था। क्रिया और उपासना की तुलना मे ज्ञान को अधिक गौरव दिया भी जाना चाहिए। सभी शास्त्र, मुनि, सत और पुराण ज्ञान की दुर्लभता का प्रतिपादन करते है :

कहहि संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ॥

× ×

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान के अभाव मे की जाने वाली उपासना और क्रिया, दोनो ही, अपूर्ण सिद्ध होगी। दोनो को ही अपनी समग्रता के लिए ज्ञान का आश्रय लेना होगा .

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई ॥

मै हरि, साधन करइ न जानी।
जल आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी ॥१॥
सपने नृप कहँ घटै विप्र-बध, विकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं, सुद्ध होइ बिनु जागे ॥२॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अविचारे।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि, हारहिं मरइ न मारे ॥३॥
निज भ्रम ते रबिकर-सम्भव सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित्त नौका चढ़ि, कबहूँ पार न पावै ॥४॥
तुलसिदास जग आप सहित जब लगि निरमूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय न भाई ॥५॥

ज्ञान के प्रति किया जाने वाला पक्षपात सघर्ष की सृष्टि भी नही कर सकता, क्योकि सघर्ष अभिमान और भेद के ही कारण होता है। ज्ञान मे अभिमान और भेद दोनो का ही अभाव है

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माही॥

कौसल्या अम्बा अर्ध चरु के माध्यम से पूर्ण ब्रह्म राम को पुत्र-रूप मे प्राप्त करती है। किंतु उन्होने राम पर मातृत्व के अपनत्व का अपना अधिष्ठित दावा कभी नही किया, अपितु वे तो श्रीराम के द्वारा माँ कहकर पुकारे जाने पर उन्हे यही बताती है कि "तुम्हारी मैया कैकेयी है"

सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्रा जू सों,
मै न लखी सौति, सखी! भगिनी ज्यों सेई है।
कहै मोहि मैया, कहौं मै न मैया, भरत की,
बलैया लेहौं भैया तेरी मैया कैकेयी है॥
तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी,
काय-मन-बानी हूँ न जानी कै मतेई है।
वाम विधि मेरो सुख सिरिस-सुमन-सम,
ताको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है॥

लोक-मंगल और कैकेयी की सन्तुष्टि के लिए वे अपने लाड़ले पुत्र को वन जाने देने मे भी संकोच नही करती। अत उनके प्रति किया जाने वाला पक्षपात केवल प्रतीकात्मक अर्थो में ज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ही है।

इसके पश्चात् बचे हुए पायस का आधा भाग कैकेयी को दिया जाता है। इससे यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि उपासना की अपेक्षा क्रिया का स्थान अधिक गौरवपूर्ण है। किन्तु यह यथार्थ नही है। इस व्यवहार के मूल मे क्रिया-शक्ति और उपासना-शक्ति की भिन्न मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। क्रिया मे स्वभावत: सम्मान की भूख होती है। उपासना मे सम्मान की भूख हो ही नही सकती। उपासना तो निरभिमानता और समर्पण का दर्शन है। अत· क्रिया-शक्ति के सात्त्विक अह की सन्तुष्टि के लिए यह आवश्यक था कि उन्हे सुमित्ता अम्वा की तुलना में

अधिक सम्मान दिया जाए। आगे चलकर कैकेयी (क्रिया) की मनोभूमि को समझ-कर भगवान् राम ने उन्हे अन्य माताओ की तुलना मे सर्वदा अधिक सम्मान दिया। महाराज श्रीदशरथ ने तो पट्टमहिषी कौसल्या को प्रथम स्थान देकर राजकुल की मर्यादा का पालन किया, किन्तु प्रभु तो सर्वदा कैकेयी को ही प्रथम स्थान देते रहे :

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई ॥

× ×

प्रभु जाना कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी ॥

यह और भी अधिक युक्तिसगत था। क्योकि ज्ञान की दृष्टि मे प्रथम और द्वितीय मे कोई भेद नही है। उपासना को सर्वदा पीछे रहना प्रिय है। "पीछे पवन-तनय सिर नावा" मे भक्त के इसी मनोभाव का दर्शन होता है। किन्तु क्रिया मे प्रथम स्थान पाने की तीव्र आकाक्षा होती है। इसलिए यह भूख जिसमे विद्यमान है, उसे देखकर क्रिया को क्यो न सन्तुष्ट किया जाए?

महाराज श्रीदशरथ प्रभु की तरह इस सीमा तक नही जा सकते थे। किन्तु उन्होने पट्टमहिषी कौसल्या के वाद कैकेयी को सर्वाधिक सम्मान देकर उनके अह को तुष्ट करने का ही प्रयास किया।

सुमित्रा अम्बा को भी महारानी कैकेयी के बराबर ही भाग दिया, किन्तु उन्हे देने की प्रक्रिया सर्वथा अनोखी थी। कैकेयी को देने के वाद जो चरु अवशिष्ट था उसके दो भाग किए गए। और इन दोनो भागो को कौसल्या और कैकेयी के हाथो मे रखकर उनसे महाराज ने अनुरोध किया कि ये दोनो भाग आप लोग सुमित्राजी को प्रदान करें। गुरु वशिष्ठ के द्वारा महाराजश्री को यह ज्ञात हो चुका था कि उन्हे चार पुत्रो की उपलब्धि होगी। सन्तति के अभाव से पीडित दशरथ जिस समय गुरु वशिष्ठ की सेवा मे पहुँचे उस समय ब्रह्मर्षि ने धैर्य वँधाते हुए उनसे यह कहा—"तुम निश्चित हो जाओ! तुम्हे भविष्य मे चार पुत्र प्राप्त होगे"

एक वार भूपति मन माहीं। भै गलानि मोरे सुत नाहीं ॥
गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला। चरन लागि करि विनय बिसाला ॥
निज दुख सुख सव गुरहि सुनायउ। कहि वसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ ॥
धरहु धीर होइहहि सुत चारी। त्रिभुवन विदित भगत भय हारी ॥

अस्तु, वितरण के समय महाराजश्री के समक्ष यह प्रश्न था कि दो पुत्रो के मातृत्व का अधिकार किसे प्रदान किया जाए? अनेक दृष्टियो से महारानी सुमित्रा ही इसके उपयुक्त जान पडी। इसे उनकी निरभिमानता और सेवावृत्ति का पुरस्कार भी कह सकते है। सुमित्रा शब्द का तात्पर्य है, "जो सबके प्रति श्रेष्ठ मित्रता की भावना से भरी हुई हो।" उपासना क्रिया और विचार दोनो की ही सहायिका है। बिना उपासना के क्रिया मे रसोत्पत्ति हो ही नही सकती। इसके अभाव मे की जाने वाली क्रिया निष्प्राण होगी। इसी प्रकार ज्ञान के लिए भी अन्त करण की शुद्धि चाहिए, बुद्धि मे यह निर्मलता उपासना के ही माध्यम से आती है। विनयपत्रिका मे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है :

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसी कह यों चिद बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥

तत्वत ज्ञान और क्रिया दोनो को ही अपने पुत्रो के सरक्षण के लिए दो सहचर चाहिए। सुमित्रा उपासनाशक्ति होने के नाते यह कार्य सम्पन्न करने में सफल हो सकती है। ज्ञानशक्ति के माध्यम से अखण्ड-ज्ञान-घन राम का जन्म होता है। क्रियाशक्ति के द्वारा धर्म-रूप भरत का जन्म होता है। ज्ञान और धर्म के सरक्षण के लिए वैराग्य और अकर्तृत्व की आवश्यकता है। वैराग्य के अभाव मे ज्ञान सुरक्षित नही रह सकता। इसीलिए वैराग्य को ढाल की उपमा दी गई है—"बिरति चर्म सतोप कृपाना।" इसी तरह कर्तृत्व का उदय होने पर धर्म मे अभिमान आ जाता है। अकर्तृत्व-युक्त धर्म ही पूर्ण धर्म है। श्रीलक्ष्मण मूर्तिमान् वैराग्य है और शत्रुघ्न अकर्तृत्व। अन्त करण मे वैराग्य और अकर्तृत्व का उदय उपासना के माध्यम से ही सम्भव है। उपासक के अन्त करण मे भगवान् के प्रति अनुराग होता है, इसलिए उसको विपयो से सहज ही वैराग्य हो जाता है·

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनि बृन्दा।
निसि-बासर ध्यावहिं गुन-गन गावहिं जयति सच्चिदानंदा ॥

एवं उपासक भगवान् को ही कर्त्ता के रूप मे स्वीकार करता है। इसलिए उस मे सहज ही अकर्तृत्व का उदय हो जाता है·

करन राम चाहहि सोइ होई। **करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥**

अस्तु, सुमित्रा अम्वा के माध्यम से दो पुत्रों की उपलब्धि आध्यात्मिक अर्थों मे भी सुसंगत है। कौसल्या और कैकेयी ने पहले चरु प्राप्त किया, फिर उन्ही के हाथ से वितरण किए जाने के मूल में यही भाव था कि आदान और प्रदान का यह चक्र निरन्तर चलते रहना चाहिए। केवल लेना ही व्यक्ति की आवश्यकता नही है, देना भी उसकी अपनी ही आवश्यकर्ता है। वैसे तो वाह्य दृष्टि से कौसल्या और कैकेयी उदार दाता के रूप मे दिखाई देती है; किन्तु उन्होने देकर भी पाया ही था। यथा, सुमित्रा अम्वा ने इन दोनो के द्वारा प्राप्त चरु से जो पुत्र पाये, उन्हे इन दोनो के ही पुत्रो की सेवा मे लौटा दिया। लक्ष्मण श्रीराघवेन्द्र के अनुगामी है तो शत्रुघ्न ने श्रीभरत का अनुगमन कर स्वय को आत्मसात्-सा कर लिया। इस प्रकार वितरण की यह अनोखी प्रक्रिया विषमता और सघर्ष के स्थान पर सन्तुलन और स्नेह की सृष्टि करती है।

॥ श्रीरामः शरण मम ॥

विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार ॥

अर्थ—विप्र, धेनु, देवता और सतो के हित के लिए ही भगवान् ने मनुष्य-रूप मे अवतार ग्रहण किया। उनका यह अवतार-शरीर अपनी इच्छा के द्वारा निर्मित था। वस्तुत ईश्वर तो माया, गुण और इन्द्रियो से परे है।

प्रस्तुत दोहे मे भगवान् राम के अवतार के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। अयोध्या के राजमहल मे कौसल्या अम्वा के समक्ष श्रीराम चतुर्भुज-रूप मे प्रगट हुए और माँ के अनुरोध पर नन्हे वालक के रूप मे स्वय को परिवर्तित करके रुदन करने लगते है। ठीक उन्ही क्षणो मे गोस्वामीजी स्मरण दिलाते है कि यह अवतार किनका है ? उनका वास्तविक स्वरूप क्या है ? एव उनके अवतार लेने का उद्देश्य क्या है ? कौसल्या अम्वा के समक्ष श्रीराम के प्राकट्य की वेला मे गोस्वामीजी ने एक वाक्य का प्रयोग किया और उस वाक्य मे श्रीराम को 'कौसल्या-हितकारी' कहकर स्मरण किया गया है

भए प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या-हितकारी।

इसके पश्चात् छन्द मे श्रीराम और कौसल्या अम्वा के वार्तालाप के वाद अत मे ईश्वर के अवतार के उद्देश्य मे 'विप्र, धेनु, सुर और सत' का हित बताया जाता है।

कौसल्या-हितकारी शब्द मे जहॉ पर वैयक्तिकता की धारणा है, वहाँ छन्द के पश्चात् उल्लिखित इस दोहे मे ईश्वर के अवतार के व्यापक उद्देश्य की चर्चा की गई है। इस पक्ति मे भी हित की ही वात दिखाई गई है। किन्तु कौसल्या-हितकारी के स्थान पर "विप्र धेनु सुर सत हित लीन्ह मनुज-अवतार" कहकर अवतार के उद्देश्य को व्यापकता प्रदान की गई है। इन दोनो मे परस्पर-विरोध प्रतीत होने पर भी वस्तुत व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध मे मानस के समन्वयी दर्शन पर इससे प्रकाश पडता है। ईश्वर की उपलब्धि वैयक्तिक आकाक्षा का परिणाम भी हो सकती है और लोकमगल के लिए यह समाज की माँग भी हो सकती है। व्यक्ति और समाज के हित का समन्वय ही मानस का उद्देश्य है। यदि यह कह दिया जाए कि "ईश्वर का अवतार तभी होता है जब समाज के सारे व्यक्ति मिलकर उससे अवतार लेने की प्रार्थना करे," तो सम्भवत यह एक वहुत ही वडा कष्टकारक वन्धन होगा। इसलिए ईश्वर की उपलब्धि न केवल सामाजिक कारणों से, अपितु वैयक्तिक आवश्यकता की अनुभूति की तीव्रता से भी, सम्भव होती है।

मनु और शतरूपा के रूप मे महाराज श्रीदशरथ और कौसल्या ने जो साधना की थी, वह व्यक्तिगत साधना थी। और व्यक्तिगत साधना के परिणामस्वरूप

ही उन्होने श्रीराम को पुत्र-रूप मे पाया। क्योंकि दशरथ और कौसल्या की सम्मिलित माँग यही थी :

दानि-सिरोमनिकृपानिधि, नाथ कहउँ सति भाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ॥

मनु और शतरूपा के द्वारा की गई वैयक्तिक साधना का उद्देश्य अपने अन्त.-करण को चरम तृप्ति की दिशा मे ले जाना था। मनु और शतरूपा को व्यक्तिगत जीवन मे समग्र सुख, सुविधा, वैभव व सत्ता और धर्म के सुख उपलब्ध होने पर भी जिस अभाव की अनुभूति हो रही थी, उसीकी पूर्ति के लिए तप किया गया था, और इस साधना के परिणामस्वरूप भगवान् ने मनुष्य बनना स्वीकार कर लिया। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ यह आश्वासन प्राप्त होता है कि यह आवश्यक नही है कि सारा समाज मिलकर जव ईश्वर की आकांक्षा करे, तभी ईश्वर उसे उपलब्ध हो, इसके स्थान पर व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए इतना ही यथेष्ट है कि ईश्वर की उपलब्धि एक व्यक्ति की व्यक्तिगत आकाक्षा और उसके अन्त.-करण की भावना की परितृप्ति के लिए सम्भव है। किन्तु एक व्यक्ति की आकांक्षा की पूर्ति के लिए लिया जाने वाला अवतार केवल उस व्यक्ति का ही हित सम्पन्न करता हो, ऐसी वात नही है।

रामचरितमानस के दर्शन मे व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक है। जहाँ पर व्यक्ति अपने मन की शान्ति के लिए प्रयास करता है, वही पर उसका यह भी कर्त्तव्य है कि उसका यह सुख लोक-हित का विरोधी न हो। इसीलिए रामचरित-मानस की रचना मे भी यही दोनो मूल सूल विद्यमान है कि वह परस्पर-विरोधी प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हो। गोस्वामीजी कहते है—"मै इस रामचरितमानस की रचना 'स्वान्त सुखाय' कर रहा हूँ" :

नाना-पुराण-निगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्ध - मतिमंजुलमातनोति॥

कविता की परिभापा करते हुए वे कहते है कि कविता को सर्वहित की भावना से प्रेरित होना चाहिए। यह भी उनका स्पष्ट आग्रह है :

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

और इस प्रकार कवि का 'स्व' 'सव' का पूरक है, न कि सबका विरोधी। ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत पक्तियो मे भी ईश्वर के अवतार के उस वैयक्तिक कारण का उल्लेख किया गया है। और केवल उल्लेख ही नही किया गया है, अपितु 'कौसल्या-हितकारी' शब्द को अधिक प्राथमिकता दी गई है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है, यदि कौसल्या अम्वा के अन्त करण मे श्रीराम को पाने की इतनी तीव्र आकाक्षा न होती तो सम्भव है कि श्रीराम-अवतार इतनी सरलता से न होता। इसलिए कौसल्या अम्वा की इस वैयक्तिक साधना को कवि नमन करता है, जिससे द्रवित होकर

श्रीराम मनुष्य के रूप मे अवतरित होते है :

व्यापक ब्रह्म निरजन, निर्गुन बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या की गोद ॥

किन्तु कौसल्या का हित सर्वहित का विरोधी नही है,क्योकि कौसल्या अम्वा-जैसे उदात्त चरित्र वाले व्यक्ति जब समाज को संकट मे देखते है, तब वे अपने व्यक्तिगत हित का त्याग करने मे संकोच नही करते। इसीलिए, यद्यपि महाराज श्रीदशरथ और कौसल्या ने अपनी तपस्या के द्वारा ब्रह्म को मनुष्य-रूप मे पाया, किन्तु महर्षि विश्वामित्र के आगमन पर अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उन्हे समर्पित कर दिया। इस प्रकार व्यक्तिगत साधना द्वारा उपलब्ध ईश्वर बिना किसी प्रयास के ही समाज को प्राप्त हो जाता है। कौसल्या का जीवन वस्तुत लोक-कल्याण के लिए समर्पित है, क्योकि उनके चरित्र मे समग्र सतत्व विद्यमान है—और सत का लक्षण यही है

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥

यद्यपि ईश्वर के अवतार के लिए यह कहना अधिक उपयुक्त होता कि वह समग्र विश्व के कल्याण के लिए ही अवतरित हुआ। किन्तु "विप्र, धेनु, सुर और सत का हित" भी वस्तुत समस्त लोक का प्रतिनिधित्व करता है। विप्र समाज का मूर्धन्य है, वह विचार-प्रधान है। जिस समाज मे विचार और विवेक की अवहेलना होती है, वह समाज पतन की दिशा मे उन्मुख होता है। किन्तु वह विचार और समाज, केवल अपने अहकार के लिए नही, अपितु लोक-मगल के लिए कार्य कर रहा हो, यह आवश्यक है।

महर्षि विश्वामित्र तपोवन मे रहकर जिस महान् यज्ञ-साधना को सम्पन्न करते हैं, वह उनकी वैयक्तिक अकाक्षा की पूर्ति के लिए न होकर लोक-मगल के लिए है। ब्राह्मण का सारा जीवन समाज की सुव्यवस्था लिए के समर्पित था। उसे आदेश दिया गया है

ब्राह्मणस्य शरीरोऽयम् क्षुद्रकामाय नेष्यते।

"ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाओ की पूर्ति के लिए नही है।" यद्यपि समाज मे ब्राह्मण को विशिष्ट सम्मान प्राप्त होता रहा है, उसके प्रति अनेक लोगो के अन्त करण मे तीव्र आक्रोश विद्यमान है। उन्हे ऐसा लगता है कि यह तो एक वर्ग और जाति-विशेष के प्रति पक्षपात है। और इसीके आधार पर बहुधा तुलसीदास जी को एक ब्राह्मणवादी सकीर्ण मनोवृत्ति का व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है। सत्य तो यह है कि जहाँ विप्र को यह सम्मान प्राप्त था, वहाँ उससे यह आशा भी की जाती थी कि उसका समग्र जीवन व्यक्तिगत सुख-सुविधा के स्थान पर धर्म-साधना के लिए समर्पित होगा। ईश्वर का अवतार किसी जाति विशेष के प्रति उनके पक्षपात का परिचायक नही है। अगर ईश्वर को यह पक्ष-पात अभीष्ट होता तो वह स्वय भी ब्राह्मण-वंश मे ही जन्म लेता। किन्तु जहाँ परशुराम के रूप मे एक अवतार ब्राह्मण जाति में जन्म लेता है, वहाँ पर श्रीराम

समस्त सद्‌गुणो तथा सामर्थ्य से सम्पन्न होते हुए भी क्षत्रिय-वंश मे जन्म लेते है। और 'तथाकथित ब्राह्मणवादी' तुलसी परशुराम की तुलना मे राम की श्रेष्ठता सिद्ध करते है ! परशुराम से राम की स्तुति कराते है ! बेचारे जातीय विद्वेष से पीडित आलोचक तुलसी के दर्शन को समझ ही नही सकते।

ब्राह्मण विश्व-हित का ही प्रतीक है। महर्षि विश्वामित्र के चरित्र के माध्यम से इसे प्रकट किया गया। विश्वामित्र ब्राह्मण के रूप मे श्रीराम की याचना करने जाते है। महर्षि की यह याचना लोक-मगल के लिए थी। विश्वामित्र के नाम का अर्थ है, 'विश्व का मित्र'। इस प्रकार एक विप्र के माध्यम से श्रीराम की उपलब्धि केवल ब्राह्मण जाति के लिए ही नही, अपितु समस्त विश्व के हित के लिए प्रयुक्त होती है। इसीलिए महर्षि विश्वामित्र राम की याचना के पश्चात् उन्हे यज्ञ-रक्षा के लिए ले आते है एव यज्ञ-सरक्षण के वाद जनकपुर ले जाने मे उन्हे रच-मात्र सकोच नही होता। क्योकि उनकी दृष्टि मे श्रीराम केवल महाराज श्रीदशरथ की ही व्यक्तिगत सपत्ति नही है।

विप्र-हित की ही भाँति धेनु-हित के लिए ईश्वर के अवतार मे भी यही सत्य निहित है। गाय अहिसा की प्रतीक है। वह तृण के वदले मे दुग्ध प्रदान करती है। दुग्ध के द्वारा अपने वछडे का ही नही, अपितु अनगिनत व्यक्तियों का पोषण करती है, किन्तु वह गाय किसी के भी प्रतिकूल नही है। नरहरिदासजी ने कभी अकवर के समक्ष गाय की सराहना मे जो वाक्य कहे थे वे गाय की लोक-मगलकारी भावना के ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है ·

हिन्दुहि मधुर न देइ कटुक तुरकहि न पिलावति।

भले ही उसके प्रति कोई व्यक्ति हिसक भाव रखे अथवा अहिंसक, गाय तो सबको समान रूप से अपने स्नेहमय वात्सल्य का दान देकर तृप्त करती है। इस-लिए 'धेनुहित' केवल एक समाज-विशेष के लिए नही, अपितु धेनु के माध्यम से यह समस्त विश्व को उपलब्ध होने वाली वात्सल्यमयी वृत्ति है।

मानस के प्रारम्भ मे रावण के अत्याचार से सत्रस्त पृथ्वी गाय के रूप मे ही मुनियो और देवताओं के पास जाती है

धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥
निज संताप सुनाइसि रोई। काहू तें कछु काज न होई॥

पृथ्वी व्यापक रूप मे गाय की ही प्रतीक है। वह समस्त संसार के प्राणियों को अन्न का दान देती है, सबको धारण करती है। उसे परद्रोही प्रिय नही है .

गिरि सरि सिंधु भार नहि मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥

देवता प्रकृति की वे शक्तियाँ है जो उसका सचालन करती हैं। वे नियमो में आबद्ध है। रावण और कुम्भकर्ण की तपस्या के पश्चात् वरदान देने के लिए आए हुए ब्रह्मा और शंकर को यह ज्ञात था कि राक्षसों को वरदान देने से विश्व के समक्ष समस्याएँ उठ खडी होती हैं। "किन्तु जहाँ भी साधना और तपस्या है वहाँ फल देना ही चाहिए"—इस संवैधानिक मान्यता और मर्यादा के कारण ही ब्रह्मा

और शंकर के द्वारा रावण को वरदान प्राप्त होता है। इसी प्रकार से देवताओं के द्वारा क्षमता प्राप्त करता हुआ व्यक्ति यदि उस क्षमता का सदुपयोग करता है, तो वस्तुत देव-शक्ति इसके लिए उस व्यक्ति की कृतज्ञ होती है। किन्तु जब कोई व्यक्ति देवता से ही प्राप्त शक्ति का उपयोग केवल अपने स्वार्थ और लोक-मगल के हनन के लिए करने लगता है, तब उस समय देवता भी संत्रस्त हो उठता है। देवता के हित के लिए अवतार लेने का तात्पर्य केवल उनके भोगों की रक्षा के लिए अवतरित होने से नही है। वस्तुत विश्व-चक्र मे समुचित रूप से प्रकृति का सचालन हो, इसके लिए आवश्यक है कि देवता और मनुष्य के सम्बन्ध परस्पर एक-दूसरे से श्रेष्ठ बने रहे। प्रकृति के इन नियमो मे जब कोई व्यक्ति व्यवधान उपस्थित करता है, तब ईश्वर देवताओ के हित के माध्यम से उन शक्तियो को दण्डित करता हुआ प्रकृति के सन्तुलन को विश्व मे स्थापित करता है।

तथा विप्र, धेनु, सुर के बाद सत के रूप मे जिस चतुर्थ नाम का उल्लेख किया गया है वह तो मानो पर-हित का घनीभूत रूप ही है। पर-हित ही उसका स्वभाव है। इसलिए सत का लक्षण ही श्रीरामचरितमानस मे यह बताया गया है :

संत सहहिं दुख पर-हित लागी। पर-दुख-हेतु असंत अभागी॥

ससार के समस्त प्राणियो की पीडा के अपहरण के लिए बडे-से-बडा कष्ट उठाना तो सतो का सहज स्वभाव ही है। किन्तु ऐसे भी व्यक्तियो का समाज में उद्भव होता है कि जो परहित-निरत सतो के प्रति भी हिंसक होकर उनके विनाश पर तुल जाते है। ऐसी स्थिति मे परहित-निरत सतो की रक्षा के लिए ईश्वर के अवतार की घोषणा मानो विश्व-हित की रक्षा से ही सम्बद्ध है।

विभीषण से श्रीराम ने अपने अवतार के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा :

तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥
सगुन उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

जब श्रीराम रावण के स्थान पर विभीषण को राज्य देते है, तब यह सघर्ष जातीय न होकर वस्तुत वैचारिक ही था। विभीषण भी निशाचर जाति मे जन्म लेते है किन्तु वे स्वभाव से ही सत है। उनका प्रयास यही था कि किसी प्रकार यदि रावण श्री सीताजी को श्रीराम के प्रति अर्पित कर अपने दुर्विचारो का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत होता है, तो इससे उसकी सत्ता सुस्थिर रहेगी। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर उन्होने रावण को उपदेश देने की चेष्टा की थी किंतु रावण ने उस पवित्र उपदेश के प्रतिदान मे उनके ऊपर पाद-प्रहार किया और इस प्रकार विभीषण के हित के लिए किया जाने वाला कार्य वस्तुतः उस सिद्धान्त के सरक्षण के लिए ही है। ऐसी स्थिति मे विप्र, धेनु, सुर और सत का हित केवल कुछ समूह अथवा वर्गो का ही कल्याण नही है। वह तो विश्व के समस्त प्राणियो का ही हित है। इस प्रकार विप्र, धेनु, सुर एव सत की रक्षा के लिए अवतरित होकर ईश्वर समग्र विश्व के हित का कार्य सम्पन्न करता है।

॥ श्रीराम: शरणं मम ॥

रूप सकहि नहि कहि श्रुति सेषा । सो जानइ सपनेहुँ जिन्ह देखा ।।

अर्थ—प्रभु के रूप का वर्णन वेद और शेष भी नही कर सकते । उसको वही जान सकता है, जिसने स्वप्न मे भी उसे देखा है ।

मानस मे गोस्वामीजी ने श्रीराम के सौदर्य के यत्र-तत्र अनेक चित्र अकित किए है, जिन्हे देखकर मनुष्यो की तो बात क्या, पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते है । इस प्रकार प्रकार वे हमारी पार्थिव रूपासक्ति की भावना को शुद्ध भावना के स्तर तक पहुँचा देना चाहते है । पार्थिव सौदर्य का आकर्पण क्रमश नीचे की ओर ले जाता है, जिससे हम अपना और सौदर्य दोनो का ही विनाश कर लेते है । एक सुरभित सुदर पुष्प वाटिका मे हमे अपनी ओर आकृष्ट करता है । तत्काल ही हमारे मन मे उसे समीप लाने की आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है । निष्ठुरता से उसे डाली से पृथक् करके हम अपने नेत्र और नासिका को क्षणिक तृप्ति देते है । थोडी देर मे पुष्प अपना सौदर्य और सौरभ खो बैठता है, तब उसे धूल मे फेककर, पैर से रौदते हुए हम चल पडते है । भौतिक सौदर्य की परिणति यही है ।

श्रीराम का सौदर्य इससे भिन्न है । ऊपर जिस सौदर्य की चर्चा की गई, वह अनग (काम) का रूप है । राम और काम दोनों मे अनेक सादृश्य है । दोनो के वर्ण समान है, सुन्दर है और दोनो ही धनुषबाण-धारी है, फिर भी वे एक साथ नही रह सकते

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ न रहि सकैं, रवि रजनी इक ठाम ॥

भगवान् शिव के हृदय मे राम का निवास है और वे काम-रिपु है—**बैठे सोह काम रिपु कैसे ।**

प्रलय एव सहार के देवता शिव ही नित्य तथा अनित्य सौदर्य के भेद की कसौटी है । श्रीराम और काम, दोंनों को उन्होने अपने तृतीय नेत्र से देखा । काम क्षण-भर मे राख की ढेरी बन गया । प्रत्येक काममूलक सौदर्य की अंतिम परिणति यही है ।

श्रीराम के विलक्षण सौदर्य को भी शकर ने विदेहनगर मे देखा । यह नगर तत्त्वज्ञो का है, जहाँ की मान्यता ही है कि रूप अनित्य है । पर यहाँ राम क्या आए कि वहाँ की सारी धारणा ही बदल गई । रूप चर्चा का विपय वन गया । इसलिए श्रीजानकीजी की एक सखी ने इसी आश्चर्य की ओर सकेत करते हुए उन्हे प्रभु के दर्शन के लिए प्रेरित किया .

बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू । अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥

जनकपुरी से ही भगवान् शिव नें श्रीराम के सौदर्य को देखा और वे प्रभु के

दिव्य रूप के अनुराग-रस मे डूबकर स्वयं कृतकृत्य हो गए।

वस्तुत काम के सौदर्य की अनुभूति अभाव के मनोविज्ञान का परिणाम है। भूखे व्यक्ति को भोजन मे जिस स्वाद का अनुभव होता है वह व्यजन की विशेपता का परिचायक नही है। वह तो उसकी भूख है जो साधारण व्यजन मे स्वाद की प्रतीति करा देती है। वासना की भूख के कारण जिस सौदर्य की अनुभूति होती है, वह भी इसी श्रेणी मे आती है। किंतु सर्वथा निष्काम अत.करण को भी राम का सौदर्य आकर्षक लगता है। यही उनके सौंदर्य की पूर्णता का प्रमाण है। इसीलिए मानस मे ऐसे अनेक पात्रो द्वारा श्रीराम के सौदर्य की महत्ता का दर्शन होता है। सहज-विरागी विदेह भी इसे देखकर अपनी निष्ठा का परित्याग कर देते है·

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेश धरि की सोइ आवा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥

महाराज श्रीजनक को लगता है यह किसी पार्थिव व्यक्ति का सौंदर्य नहीं है। ब्रह्म ही दो रूपो मे दर्शन दे रहा है। मानस मे उत्तरकाण्ड मे सनकादिको की भी इसी स्थिति का वर्णन किया गया है। वे चाहकर भी अपने मन को इस सौंदर्य से नही हटा पाते है

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
एक टक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं॥

इस प्रसग मे निहित भावना को समझने के लिए गोस्वामीजी के "मोह न नारि नारि के रूपा" को हृदयगम कर लेना चाहिए। ज्ञान और भक्ति का अंतर बताते हुए भुशुण्डिजी कहते है—"ज्ञान-वैराग्य आदिपुरुष है और भक्ति स्त्री। ससार मे बाँधने वाली अविद्या (माया) भी स्त्री ही है। स्त्री पुरुप के सौदर्य पर मोहित होती है, किंतु नारी नारी की सुदरता पर मुग्ध नही होती। अत. माया, ज्ञान-वैराग्य आदि पुरुषसज्ञक गुणो को अपने वश मे करने की चेष्टा करती है, भक्ति को नही

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्यागि सक नारिहिं, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी विषया बस, बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ग्याननिधान, मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरि जान, नारि बिष्नु माया प्रगट॥
इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान सन्तमत भाखउँ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानइ सब कोऊ॥

सनकादिक तत्त्वज्ञ है, ज्ञानी है। वे मन और नेत्र को विपयो के मिथ्यात्व का

निश्चय कराते हुए उनसे विरत रखते है। किंतु मन और नेत्र के लिए स्वयं यह स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक है, फिर आज तो उनके समक्ष प्रभु का दिव्य रूप है। वे (मन-नेत्र) विद्रोही होकर प्रभु के सौदर्य-रस का पान क्यो न करे ? इसीलिए सनकादिक मन को नही रोक पाते ·

भए मगन मन सके न रोकी।

वहुधा भगवद्-रूप के 'मायिक' होने का भी प्रश्न उठाया जाता है। यह प्रश्न जटिलताओ से भरा है। 'मायिक' कहने का क्या तात्पर्य है ? यो तो गोस्वामीजी भी उन्हे 'मायामनुष्यं हरिम्' कहते है। अन्यत्र भी उन्हे 'लीला-तनु' वताया गया है '

भगत हेतु लीला तनु गहई।

मायिक का तात्पर्य यदि मिथ्यात्व से है तो यह मत गोस्वामीजी को मान्य नही है। वे श्रीराम के सौदर्य को नित्य सच्चिदानद-मय मानते है

चिदानन्द-मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार ग्यान अधिकारी॥

माया उन्हे आवृत नही करती, अपितु वे स्वय आवरण स्वीकार करते है। स्वीकृति के दो उद्देश्य है : १. आवरण लीला-रस की वृद्धि करता है किंतु भक्त को ससीमता मे असीमता का भान बना रहता है। २. देही और देह का विभाजन व्रह्म मे नही है, वह स्वप्रकाश है। माया उसे प्रकाशित नही करती है। स्वय माया की प्रतीति व्रह्म की सत्ता के कारण है।

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भक्त की दृष्टि मे रूप नित्य-सत्य है जो भक्त के नेत्र की आकाक्षा का परिणाम है। उसके समक्ष एक रूप मे होने पर भी उसे (भक्त को) प्रभु की व्यापकता का ज्ञान है। लोक-दृष्टि से उनमे आवरण होने पर भी स्वयं भक्त के लिए आवरण का अभाव है। आवरण का कार्य वस्तु को ढँक लेना है, किंतु जहाँ वस्तु दिखाई दे रही है, उसे आवरण का नाम-भर ही दे सकते है। श्री काकभुशुण्डिजी श्रीराघवेन्द्र के वाल-रूप के विषय मे वडी मधुर कल्पना करते है। कौसल्या अम्वा ने एक वार श्रीराम का शृगार किया और उन्हे पीत-वर्ण की झगुली धारण करायी ·

पीत झीनि झँगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥

'पीत' शब्द के साथ-साथ 'झीनि' शब्द रस और मधुर सकेत से पूर्ण है। वस्त्र के झीने होने पर एक प्रकार की झिलमिलाहट मे नवीन रग की अनुभूति होती है। वस्त्र तो है पर सौदर्य को सर्वथा छिपा नही लेता है, वल्कि दर्शन और आव-रण का एक साथ आनद प्राप्त हो जाता है। भक्त की शैली यही है। व्रह्म का नील वर्ण उसकी निराकारता का भी सूचक है। आकाश को निराकारता के दृष्टात मे प्रयुक्त किया जाता है। वह (आकाश) भी हमे नीलवर्ण का दिखाई देता है। पीत रग का वस्त्र प्रभु की माया का प्रतीक है। नील और पीत मिलकर हरा रग हो जाता है। भक्त इस सौदर्य को देखकर हरा-भरा हो जाता है। श्रीकाकभुशुण्डि-जी के 'झीनि' शब्द से भक्ति-दर्शन का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

मानस मे रूप-वर्णन केवल आकृति की रूपरेखा वताने के लिए ही नही है। सगुण-साकार की लीला को गोस्वामीजी स्वच्छ जल के रूप मे प्रस्तुत करते है, जिसमे स्नान करके भक्त स्वच्छ हो जाता है। रूप-वर्णन का उद्देश्य अत.करण को स्वच्छ वनाना है। मानस के राम 'ध्येय' है। ध्यान की विशिष्ट पद्धति से हृदय-निर्माण की प्रक्रिया के लिए ही उनकी अनेक झाँकियो का चित्रण किया गया है।

साधारण व्यक्ति की दृष्टि मे ध्यान का तात्पर्य काल्पनिक चिंतन है। उसकी मान्यता है कि किसी काल्पनिक चिंतन से व्यक्ति को कोई लाभ नही हो सकता। मन मे मिष्टान्न का चिंतन करने से व्यक्ति की क्षुधा कैसे शांत हो सकती है? व्यावहारिक अर्थो मे मानस मे भी इस सूक्ति का प्रयोग किया गया है, "मन मोदकन कि भूख बुझाई।" कितु आध्यात्मिक अर्थो मे यह सत्य नही है। मन मे होने वाला काल्पनिक चिंतन तत्काल फलदायी न होने पर भी दीर्घकालीन प्रभाव डालता है। काल्पनिक मिष्टान्न का चिंतन भूख मे तृप्ति भले ही न देता हो, कितु क्षुधा में वृद्धि अवश्य करता है। इस चिंतन से व्यक्ति मे मिष्टान्न खाने की तीव्र लालसा जाग्रत् होती है। यह लालसा सक्रिय होकर उसे वास्तविक मिष्टान्न खाने की प्रेरणा प्रदान करती है। ध्यान चाहे विषय का हो अथवा ईश्वर का, दोनो मे समान रूप से यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसीलिए गीता मे दुर्गुणो के जीवन मे प्रविष्ट होने की जिस पद्धति का उल्लेख किया गया है, उसमे सर्वप्रथम विषय के ही ध्यान का वर्णन प्राप्त होता है· "विषयो का ध्यान करने पर उनके सग की आकाक्षा उत्पन्न होती है। सग से कामना और उससे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से सम्मोह तथा उससे स्मृति-विभ्रम हो जाता है स्मृति-भ्र श से बुद्धि-नाश और उससे सर्वनाश हो जाता है

ध्यायतो विषयान् पुस. संगस्तेषुपजायते।
संगात् संजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोह सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्रंशात् वुद्धिनाशो वुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

ईश्वर के सौंदर्य का कल्पित चितन भी अत करण मे दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। इस चिंतन से दर्शन की लालसा का उदय होता है। इसकी परिणति साक्षात्कार मे होती है, जैसा कि मनु के प्रसग मे दिखाई देता है। मत्र-जप और ध्यान करते-करते उनके हृदय मे दर्शन की लालसा वढती जाती है·

द्वादस अक्षर मन्त्र पर, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंकरुह, दम्पति मन अति लाग॥

× ×

उर अभिलास निरन्तर होई। देखिय नैन परम प्रभु सोई॥

इस लालसा की चरम परिणति ईश्वर के साक्षात्कार मे होती है। कितु यदि इतना न भी हो तो इस ध्यान से व्यक्ति का मन उतने समय के लिए विषय-चितन

से वच जाता है। और यह क्या कम है कि व्यक्ति के जीवन मे दुर्गुणो का चिंतन न होकर सद्भाव का उदय हो। राघवेंद्र की अलौकिक रूप-माधुरी के वर्णन के द्वारा गोस्वामीजी इन्ही उद्देश्यो की सिद्धि करना चाहते है। सौदर्य का वर्णन करते-करते वे अचानक अपनी असमर्थता प्रगट करने लगते है। इससे भी आगे वढ़कर वे यह कहते है कि इस सौदर्य का वर्णन तो श्रुति और शेप भी नही कर सकते। यह भी लालसा-वृद्धि का एक साधन है। क्योकि अगले ही वाक्य मे वे यह भी कह देते है कि इस सौदर्य का सच्चा रस तो वही प्राप्त कर सकता है, जिसने स्वप्न मे भी इनका दर्शन किया हो ·

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानहिं सपनेहुँ जिन्ह देखा॥

इस पक्ति के माध्यम से वे श्रोता और पाठक को उकसाते है कि वह केवल वर्णन और श्रवण मे ही न उलझकर इस रूप को प्रत्यक्ष देखने का प्रयास करे। यदि इतना सम्भव न हो तो कम-से-कम स्वप्न मे साक्षात्कार की चेष्टा करे। व्यक्ति दिन मे जिन वस्तुओ का प्रगाढ चिंतन करता है, स्वप्न मे उन्ही को साकार होते हुए देखता है। इस तरह वे व्यक्ति के जीवन को राममय वना देना चाहते है।

॥ श्रीराम. शरण मम ॥

गाधि-तनय मन चिता ब्यापी । हरि बिनु मरहि न निसिचर पापी ॥

अर्थ—गाधि राजा के पुत्र विश्वामित्र के हृदय मे चिता व्याप्त हो गई। उन्हे लगा कि बिना भगवान् के पापी निशाचरो का विनाश नही हो सकता।

महर्षि विश्वामित्र पुराणो के उन ऋषियो मे है, जिनके साथ चमत्कारो की अगणित गाथाएँ जुडी हुई है। पुरुपार्थ के द्वारा जिन्होने तत्कालीन समाज व्यवस्था के नियमो को वदलकर, जन्मना वर्ण-व्यवस्था के स्थान पर, अपने लिए कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। जिन्होने त्रिशकु के लिए नये स्वर्ग के निर्माण का सकल्प किया, और अपनी तपस्या की शक्ति के द्वारा उसके सृजन का श्रीगणेश भी कर दिया था। अतत मुनियो की प्रार्थना पर ही वे उससे विरत हुए। किंतु इतना शक्तिशाली ऋपि राक्षसो के भय से संत्रस्त हो उठा, इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न पर विचार करने पर इसके दो समाधान हमारे समक्ष आते है।

विश्वामित्र अस्त्रविद् थे, किंतु उन्होने अस्त्रो का परित्याग कर ब्राह्मणत्व की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ऐसी स्थिति मे शक्तिशाली होते हुए भी वे राक्षसो के विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग नही कर सकते थे। पर प्रश्न तो यह है कि क्या वे अपनी तपस्या की शक्ति के द्वारा राक्षसो के विनाश मे समर्थ नही थे ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि के समक्ष प्रतिद्वद्वी के रूप मे जो निशाचर खडे थे, वे साधारण क्षमता वाले नही थे। उनका रावण से सवध था और रावण के रूप मे जिस नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ था, वह ब्राह्मणों और क्षत्रियो, दोनो के ही लिए चुनौती के रूप मे थी।

एक ओर रावण ब्राह्मण के रूप मे समस्त शास्त्रों का ज्ञाता है। अपने जीवन मे साधना की कठिन-से-कठिन परीक्षाओ मे वह सफलता प्राप्त करता है। वह अपनी तपस्या के द्वारा ब्रह्मा और शकर को भी अभीप्सित वर देने के लिए बाध्य कर देता है। तो दूसरी ओर उसे समस्त अस्त्र-शस्त्रो का ज्ञान था, फलस्वरूप उसने अपने अनगिनत प्रतिद्वद्वियो को पराजित किया एव उन्हे समाप्त कर दिया। इस प्रकार न तो ब्राह्मण और न क्षत्रिय ही इस नवीन दुर्द्धर्ष शत्रु का सामना कर सकते थे। क्योकि रावण शस्त्र-विद्या मे उनकी अपेक्षा अधिक निपुण था। मुनि तो रावण के समक्ष आने का साहस ही नही कर पाते थे, क्योकि उनमे यदि साधना और तपस्या का वल था तो उसने भी अपनी तपस्या और साधना को इस सीमा तक पहुँचा दिया कि साक्षात् ब्रह्मा और शकर उसे वरदान देने के लिए विवश हो गए। इस प्रकार मुनि और राजा, दोनो ही, रावण के समक्ष पराजित हो चुके थे।

पर प्रश्न तो यह किया जा सकता है कि क्या अहिसक विश्वामित्र के सामने

हिंसक रावण की विजय यह प्रकट नही करती कि अहिंसा की अपेक्षा हिंसा की शक्तियाँ अधिक प्रबल है ? इस प्रश्न के उत्तर मे बडा ही मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है। वर्तमान युग-सदर्भ मे इसे हृदयगम कर लेने की और भी अधिक आवश्यकता है। अनेक बार ऐसे अवसर आते है कि जब किसी अहिसक पुरुष की मृत्यु हिसक व्यक्ति के हाथो होती है तब गभीरतापूर्वक चिंतन करने वाले के मन मे यह जिज्ञासा स्वभावत जाग्रत् होती है कि अहिसा की वृत्तियो की अपेक्षा हिसा की वृत्तियाँ अधिक शक्तिशाली और समर्थ है। पर तथ्य इसके विपरीत है। बात इतनी-सी ही है कि अहिसा को अपनी विजय के लिए पूर्णता की आवश्यकता है, किंतु हिसा को किसी पूर्णता की आवश्यकता नही है। पतजलि ने योग-दर्शन मे अहिसा की परिभाषा बताते हुए जो वाक्य कहे, वे बड़े ही चिंतन और मनन के योग्य है·

अहिसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग ।

"जिस व्यक्ति मे अहिसा की प्रतिष्ठा हो जाती है, उस व्यक्ति के निकट आकर अन्य लोग भी वैर का परित्याग कर देते है।" इस कसौटी पर कसने पर विश्व के इतिहास मे बिरले व्यक्ति ही अहिसा की पूर्ण प्रतिष्ठा तक पहुँचे हुए माने जाएँगे। यह स्वाभाविक ही है कि जहाँ तक अहिसा का अर्थ मन-वचन-कर्म से दूसरो के प्रति हिसा की वृत्ति न रखना हो, वहाँ तक वह साध्य-सी प्रतीत होती है। किंतु अहिसा को योग-दर्शन मे की गई परिभाषा असभव-सी जान पडती है। अहिसा की यह वृत्ति तभी पूर्णता तक पहुँच सकती है, जब स्वय से भिन्न किसी अन्य सत्ता की अनुभूति न हो। वस्तुत जब तक अत.करण मे द्वैत बना हुआ है, तब तक सच्ची अहिसा का उदय हो ही नही सकता। क्योकि व्यक्ति को जब तक यह भान होता रहेगा कि कुछ लोग हमसे भिन्न है, धन-वैभव, सत्ता, योग्यता मे पार्थक्य है, तब तक व्यक्ति के अत करण मे अहिसा वृत्ति का आना एक सीमा तक तो सम्भव है, परंतु समग्र अहिसा की प्रतिष्ठा असम्भव है। सच्चे अर्थो में अहिसा की वह वृत्ति, उस तत्त्वज्ञ के जीवन मे ही आ सकती है, जो न केवल विचार के द्वारा अद्वैत-तत्त्व का ज्ञाता है, अपितु उसके मन-प्राण मे भी अद्वैत-ज्ञान इतना एकाकार हो चुका हो कि व्यवहार-काल मे भी सृष्टि के समस्त प्राणियो मे, उसे एक ही आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता रहे। कितु जिन लोगो के अंत करण मे भेद की वृत्ति विद्यमान है, उनके लिए यह सर्वथा असम्भव है।

विश्वामित्र यद्यपि शस्त्रो का परित्याग कर चुके थे, फिर भी उनके अंतर्मन मे अहिसा-वृत्ति की ऐसी पूर्णता नही थी, जिसके समक्ष राक्षस अपनी हिंसा-वृत्ति का परित्याग कर दे।

दूसरी ओर एक बार शस्त्रों का परित्याग कर देने के बाद पुन राक्षसो से सशस्त्र सघर्ष भी उन्हे उचित प्रतीत नही हुआ। इस मन.स्थिति मे उन्होने किसी तृतीय मार्ग की आवश्यकता का अनुभव किया। उनकी अंतरात्मा मे एक स्वर गूँजा—"हरि बिनु मरिहिं न निसिचर पापी।" हरि का अर्थ हरण करने वाला है।

अत इस चिता का अपहरण भी हरि कर सकते हैं। विश्वामित्र महान् पुरुपार्थ-वादी थे। आज तक उनकी मान्यता यह थी कि पुरुपार्थ और साधना से सभी-कुछ प्राप्त किया जा सकता है। यह मान्यता आलस्य-प्रभाव पर विजय की दृष्टि से अपेक्षित हो सकती है, किंतु भक्ति और शरणागति के मार्ग मे वाधक है। अपनी असमर्थता का वोध ही साधक को ईश्वर का आश्रय लेने की प्रेरणा प्रदान करता है। विश्वामित्र का जीवन आज शरणागति की दिशा मे अग्रसर हुआ।

॥ श्रीराम: शरण मम ॥

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही विसेषी ॥

अर्थ—शिला को देखकर प्रभु ने उसके विषय मे जिज्ञासा की और महर्षि विश्वामित्र ने अहल्या का समस्त चरित्र उन्हे कह सुनाया।

अहल्या महर्षि गौतम की पत्नी थी। उसका सौदर्य अप्रतिम था। सुंदरी अहल्या सर्वतोभावेन गौतम के प्रति समर्पित थी। उसके सौदर्य को देखकर देवराज इंद्र मोहित हो जाता है। एक दिन महर्षि गौतम को रात्रि के समय यह भ्राति होती है कि ब्राह्ममुहूर्त की वेला आ गई है। यह भी इन्द्र की ही माया थी। इसी से भ्रमित होकर वे नदी मे स्नान करने के लिए चल पडते है। इसी बीच, महर्षि गौतम के वेश मे आये हुए देवराज इन्द्र के शृंगारिक प्रस्ताव को अहल्या स्वीकार कर लेती है। अकस्मात् नदी-तट पर पहुँचकर महर्षि को यह ज्ञात हुआ कि अभी प्रात काल नही हुआ है। वे लौटकर शीघ्रता से अपने आश्रम मे आते है। उस समय इन्द्र गौतम के वेश मे लौट रहा होता है। क्रुद्ध गौतम ने इन्द्र को तो शाप दिया ही, परतु अहल्या की भर्त्सना करते हुए उसे भी शाप दे दिया। जहाँ उन्होने इन्द्र के शरीर मे सहस्र छिद्र हो जाने का शाप दिया, वही उन्होंने अहल्या को पाषाणी हो जाने का शाप देते हुए उसे परित्यक्ता बना दिया। महर्षि गौतम के शाप से अहल्या पाषाणी के रूप मे परिणत हो जाती है। गौतम उस आश्रम का परित्याग कर देते है और समस्त आश्रम जन-शून्य हो जाता है। मनुष्यो की तो बात ही क्या, उस आश्रम में पशु और पक्षियो ने भी आना-जाना छोड दिया। यह थी वह कथा, जो महर्षि विश्वामित्र ने भगवान् राम के समक्ष रखी।

अहल्या और गौतम की यह गाथा बहुत ही अटपटी प्रतीत होती है। इसके द्वारा एक ओर जहाँ देवराज के अन्त करण की भोग-वृत्ति की असीम लालसा प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर महर्षि गौतम की न्याय और धर्म के प्रति जो धारणा है, उसका दर्शन भी हमे प्राप्त होता है।

एक ओर रावण का चरित्र है, जो आद्या शक्ति श्री सीता को प्राप्त करने के लिए, साधु का वेश बनाकर, उनके अपहरण का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर इन्द्र का चरित्र है, जो स्वर्ग का राजा और पुण्य का प्रतीक होते हुए भी, भोग-लालसा से प्रेरित होकर, ठीक रावण के समान आचरण करता हुआ देखा जाता है। इसका मनोवैज्ञानिक तात्पर्य यह है कि जब तक पाप और पुण्य दोनो की सुख-सम्बन्धी एक ही मान्यता होगी, तब तक यह कहना असगत होगा कि पुण्यात्मा व्यक्ति कभी पुण्य से विचलित नही होता है। रावण और इन्द्र भले ही पाप और पुण्य के प्रतीक हो, किन्तु दोनो के अन्त करण मे भोग के द्वारा सुखानुभूति की मान्यता अन्तर्हित है। भोगो के प्रति यह आसक्ति यदि रावण को पग-पग पर

पतन की ओर ले जाती है तो वह इन्द्र को भी कही-कही असद्मार्ग की ओर प्रेरित करती है। स्मरणीय है कि केवल पुण्य कर्म ही नही, अपितु व्यक्ति की सुख सम्वन्धी धारणा का भी धर्म की शाश्वतता से वडा सम्वन्ध है। जव तक व्यक्ति धर्म-सम्वन्धी अपनी मान्यताओ मे सशोधन नही करता और वह इन्ही साधारण मान्यताओ के द्वारा धर्म के परिणाम की उपलब्धि करना चाहता है, तव तक उसका धर्म उसको पतन की ओर जाने से नही रोक सकता—यह इन्द्र की कथा से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

इस कथा के आध्यात्मिक पक्ष पर विचार करने से हमारे समक्ष एक भिन्न तत्त्व आता है। गोस्वामीजी विनयपत्रिका और श्रीरामचरितमानस मे अहल्या को बुद्धि के प्रतीक के रूप मे स्वीकार करते है

सहस सिलाहू तें जड़मति भई है। (विनयपत्रिका)

× ×

राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥ (रामचरितमानस)

बुद्धि अहल्या है। उसके समक्ष एक ओर गौतम है, दूसरी ओर देवराज इन्द्र। गौतम तपस्वी है, इन्द्र भोगी। अर्थात् बुद्धि के समक्ष पुण्य के दो परिणाम आते है। एक धारणा यह है कि पुण्य करने से व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्त होता है और वहाँ विविध प्रकार के भोग उपलब्ध होते है, दूसरी यह कि पुण्य का परिणाम वैराग्य है, जैसा कि स्वय भगवान् श्रीराम ने अपने पुरवासियों को उपदेश देते हुए कहा

एहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

वस्तुत जीवन का उद्देश्य, इन्द्रिय-नियमन के द्वारा अन्त करण मे वैराग्य का उदय है। जिससे इसका उपयोग ज्ञान की उपलब्धि और सत्य के साक्षात्कार मे किया जा सके। अहल्या गौतम की प्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि जव पवित्र होती है, तब वह पुण्य का परिणाम, भोगो को न मानकर, तपस्या को ही स्वीकार करती है। किन्तु जीवन मे ऐसे भी क्षण आते है कि जव बुद्धि विचलित हो जाती है। तव वह भोगो के प्रति ही आकृष्ट होती है, एव इन्द्र को ही गौतम के रूप मे स्वीकार कर लेती है। यह सहज मनोविज्ञान है कि व्यक्ति भोगो के आकर्षण से सर्वदा वच नही पाता, भोग कभी-न-कभी उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है और जव भी व्यक्ति की बुद्धि, तप के स्थान पर भोग को जीवन का साध्य स्वीकार कर लेती है, तव बुद्धि मे भौतिकता का उदय होता है। इस जडता का समाधान धर्म के पास नही हे। गौतम का क्रुद्ध होकर शाप दे देना उनकी असमर्थता का ही परिचायक है। महर्षि गौतम तपस्या पथ के पथिक है। वहाँ पर वलात् इन्द्रिय-दमन है। तपस्या व्यक्ति के अन्त करण का नियमन करती हुई भी उसे पूरी तरह असन्मार्ग मे जाने से नही रोक सकती। इसलिए महर्षि गौतम अहल्या का परित्याग कर देते है।

किन्तु अहल्या की गाथा यही समाप्त नही हो जाती। उसके पश्चात् अहल्या

के प्रसग मे जो संकेत दिए गए है, वे वडे ही मार्मिक है। अहल्या को शाप देने के अनन्तर महर्षि गौतम ने कृपा करके, भविष्य मे उसे एक अवसर प्राप्त होने की वात बताई, "जब श्रीराम के चरणों से तुम्हारा स्पर्श होगा, तव तुम पुन चैतन्य होकर नारी वन जाओगी एव तव मै तुम्हे पुन. स्वीकार करूँगा।" इसका अभिप्राय है कि बुद्धि केवल धर्म के माध्यम से ही चैतन्य नही रखी जा सकती, अपितु उसकी चेतनता के लिए यह भी आवश्यक है कि धर्म के साथ-साथ बुद्धि मे भक्ति का अवतरण हो। और जब यह भक्ति अन्त करण मे अवतरित होती है, तव बुद्धि की वह जडता जो भोगो के प्रति आसक्ति के कारण उसमे आ जाती है, विनष्ट हो जाती है।

यह स्वाभाविक ही है कि तपस्या मे भोगों का नियमन तो है, किन्तु भोगो का विकल्प देने की सामर्थ्य नही है। भक्ति शास्त्र न केवल नियमन, अपितु भोगों का एक विकल्प भी प्रदान करता है। क्योकि भक्तो का ईश्वर सगुण है और उसमे अमित आकर्षण विद्यमान है। जब एक वार व्यक्ति के अन्त·करण मे भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है, तव उस व्यक्ति की बुद्धि को विषय-रस अपनी ओर आकृष्ट नही कर सकता।

अहल्या की चेतना लौट आई। उसने प्रभु से भक्ति का वरदान माँग लिया। वह अपने मन को मधुप बनाकर प्रभुपद-पद्म मकरन्द का पान कराना चाहती है:

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी, नाथ न मागउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना॥

इसके वाद महर्षि गौतम पुन. आदरपूर्वक अहल्या को ले जाते है। बुद्धि मे भक्ति का उदय होते ही वह सच्चे अर्थो मे धर्म की अनुगामिनी बन जाती है। अब इन्द्र के रूप मे भोग का दर्शन उसे अपनी ओर आकृष्ट नही कर सकता है।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाँड़ि कपट-जंजाल ॥

अर्थ—प्रभु ऐसे दीनवन्धु और कारण रहित दया करने वाले है। ओ मेरे दुष्ट मन ! कपट-जजाल छोड़कर उनका ही भजन कर !

अहल्या-उद्धार के प्रसग का समापन गोस्वामीजी उपर्युक्त पक्तियो से करते है। ये पंक्तियाँ ही वताती है कि उन्हे अहल्या उद्धार से कितनी वडी प्रेरणा प्राप्त हुई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वे श्रीराम के विविध गुणो का वर्णन करते है, पर राम के जिस गुण ने उन्हे अभिभूत कर लिया है वह है उनकी करुणा। करुणा के प्रति इस आकर्पण के पीछे उनके व्यक्तिगत सस्कार और जीवन का विशेष हाथ है। जिस बालक को वाल्यावस्था मे माता-पिता का वात्सल्य भी न प्राप्त हुआ हो, जिसे समाज से उपेक्षा और तिरस्कार ही प्राप्त हुआ हो, यदि वह जीवित रहा और कुछ वन पाया तो उसके पीछे उसे ईश्वर की करुणा को छोडकर और क्या प्रतीति हो सकती थी ? किन्तु व्यक्तिगत कारणो के साथ लोक-मगल के लिए भी उन्हे करुणा ही समीचीन जान पड़ती है। तत्कालीन राजाओ की कठोर दण्ड-नीति के प्रति उनकी आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे समाज की सुव्यवस्था के नाम पर निर्दय दण्ड-नीति के सर्वथा विरोधी थे .

गोंड गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड. कराल ॥

ऐसा नही है कि वे दण्ड-नीति के सर्वथा विरोधी ही रहे हो। उनके राम के हाथ का धनुष-वाण दण्ड-नीति का भी एक प्रतीक है। श्री राघवेन्द्र के द्वारा भी वे दण्ड दिए जाने का उल्लेख मानस के अनेक प्रसगो मे करते है। पर दण्ड-नीति का प्रेरक तत्त्व क्या है ? क्या दण्ड-नीति का प्रयोग अपनी सत्ता को सुस्थिर करने के लिए ही किया जाना चाहिए, अथवा उसका उद्देश्य अपराधी से अपराध का प्रतिशोध लेना है ? मानस मे इन दोनो प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक प्राप्त होता है। अयोध्या का राज्य, कैकेयी अम्बा द्वारा छीन लिए जाने पर भी वे (श्रीराम) शस्त्र का उपयोग नही करते। इसी तरह राक्षसो को विनष्ट करने के वाद भी उन्हे सद्गति प्रदान करना श्रीराम की दण्ड-नीति के प्रयोग के विषय मे उनकी धारणा को प्रकट करता है। इस प्रकार दण्ड-नीति के दो ही उद्देश्य मानस मे सिद्ध होते है पहला उद्देश्य है लोक-सरक्षण ! जब कोई व्यक्ति अपने क्रिया-कलाप से समाज को उत्पीडित कर रहा हो, तब उस व्यक्ति के विरुद्ध दण्ड-नीति का प्रयोग करना आवश्यक है। राक्षसो के द्वारा मुनियो को विनष्ट होते देखकर वे निशाचरों को दण्डित करने की प्रतिज्ञा करते है :

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

किन्तु ऐसी परिस्थिति मे भी दण्डित किए जाने वाले व्यक्ति के प्रति उनकी करुणा-भावना समाप्त नही होती। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि करुणा-भावना से प्रेरित होकर ही वे अपराधी पर शस्त्र का प्रयोग करते है। इसकी तुलना चिकित्सक द्वारा की जाने वाली शल्य-चिकित्सा से की जा सकती है। अहल्या उद्धार के पहले ताडका-वध मे प्रभु की यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा से भले ही वे एक बाण मे ताड़का को विनष्ट कर दे, पर अगले ही क्षण उनकी करुणा-शक्ति उन्हे ताडका को मुक्त करने की प्रेरणा देती है :

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥

वस्तुत उनके चरित्र मे दण्ड और दया एक ही सिक्के के दो पहलू है। तुलसीदास बडे ही भावनात्मक स्वर मे कहते है कि, श्रीराम की मूर्ति तो कृपा के द्वारा ही निर्मित है

है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है।

यहाँ 'मूर्ति' शब्द का प्रयोग सर्वथा चमत्कारिक है। प्राय इस शब्द का प्रयोग प्रतिमा के लिए किया जाता है। व्यक्ति का निर्माण अनेक पदार्थों के मिलन से होता है। उसमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सबका मिश्रण है। शरीर के भीतर भी हड्डी, मास, नसो आदि का मिश्रण है। किन्तु मूर्ति की विलक्षणता तो यह होती है कि उसमे अग-प्रत्यग, अस्त्र-शस्त्र, सब-कुछ अलग-अलग दिखाई देने पर भी, उसके पीछे केवल एक ही तत्त्व होता है, जिससे उस मूर्ति का निर्माण हुआ है। प्रभु की भी मूर्ति कृपा-तत्त्व के द्वारा ही निर्मित है, इसलिए उनमे पार्थक्य प्रतीत होने पर भी कृपा को छोडकर और कुछ है ही नही।

व्यावहारिक दृष्टि से भले ही यह कहा जाय कि उन्होने ताड़का को दण्ड दिया और अहल्या पर कृपा की, किन्तु भावनात्मक और तात्त्विक दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होने दो भिन्न प्रकार के रोगियों के लिए दो अलग-अलग प्रकार की चिकित्सा-व्यवस्था की। यदि किसी के शरीर मे व्रण (फोड़ा) हो जाय, तो उसके लिए शल्य-चिकित्सा की व्यवस्था करनी पड़ती है; किन्तु यदि भिन्न प्रकार का रोग हो तो मात्र औषधि के सेवन की आवश्यकता होती है। ताड़का व्रण-ग्रस्त थी, इसलिए वहाँ शस्त्र-प्रयोग से शल्य-चिकित्सा की गई। अहल्या ज्वर-ग्रस्त थी, अत उसे चरण-रज के प्रयोग-मात्र से स्वस्थ कर दिया गया। ताड़का अभिमानिनी थी। मानस मे अभिमान की तुलना फोड़े से की गई है। जब शरीर मे कही फोड़ा होता है, तब वह भाग फूल जाता है। अभिमानी भी गर्व मे फूला रहता है

बैठि जाइ सिंहासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली ॥

रूप-गर्वित नारद के प्रसग मे भी इसी शब्द का प्रयोग किया गया है ·

जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकेउ भूली ।।

ताडका भी अहंकार मे फूल गई थी । इसीलिए वह ईश्वर और सत दोनो पर ही अकेले आक्रमण के लिए प्रस्तुत हो जाती है । इस व्रण के विनाश के लिए प्रभु को अस्त्र का प्रयोग करना पडा । अभिमान का व्रण विनष्ट होते ही वह प्रभु-पद मे एकाकार हो जाती है

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा । दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।।

इस तरह भिन्न-भिन्न रूपो मे ताडका और अहल्या, दोनो को, प्रभु-पद की प्राप्ति होती है ।

दूसरी ओर अहल्या की समस्या वासना की समस्या है । सुन्दरी अहल्या महर्षि गौतम की पत्नी है, इन्द्र उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होता है । गौतम के वेश मे इन्द्र आकर छल करता है, और इस तरह अहल्या पतिव्रत धर्म से च्युत होती है । गौतम क्रुद्ध होकर दोनो को शाप देते है । इन्द्र का शरीर सहस्र छिद्रो से युक्त हो जाता है एव अहल्या पाषाणी हो जाती है ।

अहल्या यदि बुद्धि की प्रतीक है तो गौतम धर्म के

राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

मानस मे गौतम का परिचय तापस कहकर दिया गया है, वे वनवासी मुनि है । उनके जीवन मे त्याग और तप की प्रधानता है । वास्तविक धर्म भी सग्रह के स्थान पर त्याग को और भोग के स्थान पर तप को महत्त्व देता है । वहाँ जीवन पूरी तरह नियन्त्रित है । भोग की स्वीकृति भी वहाँ धर्म से अनुशासित है । दूसरी ओर धर्म का द्वितीय रूप इन्द्र है । इन्द्रत्व को भी धर्म और पुण्य का ही परिणाम माना जाता है । शास्त्रीय मान्यता के अनुसार सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला व्यक्ति ही इन्द्र-पद प्राप्त करता है । स्वर्ग, वैभव और भोग का प्रतीक है—वहाँ चिर-यौवन है, सुन्दरी अप्सराएँ है और सोमरस का पान है । नृत्य, सगीत, हास-विलास का यह नगर भोगों के अतिरेक से भरा हुआ है । इस तरह गौतम और इन्द्र के रूप मे, धर्म के दो परिणाम समाज के समक्ष आते है । एक पक्ष कहता है कि धर्म का उद्देश्य त्याग, तप और सयम है; तो दूसरा पक्ष धर्म का परिणाम सुख, वैभव और स्वर्ग मानता है ।

अहल्या परम सुन्दरी है । इसे हम सद्बुद्धि का प्रतीक स्वीकार करते है । सच्ची धर्मनिष्ठ बुद्धि पातिव्रत्य मे स्थित है । किन्तु दूसरी ओर भोगमूलक धर्म की दुर्बलता सामने आती है । स्वर्ग की अनगिनत अप्सराओं से भी इन्द्र को सतोष प्राप्त नही होता । अहल्या को पाने के लिए उसका व्यग्र हो उठना भोगवाद के दुष्परिणाम को खोलकर रख देता है । इसी को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी विनय-पत्रिका मे, काम की तुलना अग्नि से करते हुए भोगों को आहुति के रूप में प्रस्तुत करते है :

अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते ।।

किन्तु सुन्दरी अहल्या एक दिन इन्द्र को ही गौतम समझ लेती है। इसका तात्पर्य है कि जब बुद्धि, त्याग और सयम के स्थान पर भोग का समर्थन करती है, तभी उसमे जडता का उदय होता है। यह जड़ता ही भौतिकवाद है। भौतिकवादी सृष्टि के मूल मे जड़ तत्त्वो को देखता ह, और सृष्टि को उसीके विकास के रूप मे स्वीकार करता है। अध्यात्मवादी सृष्टि के मूल मे चैतन्य की सत्ता देखता है। भौतिकवादी के लिए भोगो को छोडकर जीवन का अन्य कोई उद्देश्य नही हो सकता। अध्यात्मवादी के जीवन का मुख्य लक्ष्य है चैतन्य-तत्त्व का अनुसधान। अत जो बुद्धि भोगवाद का समर्थन करती है, वह भले ही अपने-आपको अध्यात्म-वादी घोषित करती रहे, किन्तु वह भौतिकवाद की सीमाओ मे प्रविष्ट हो चुकी है। अहल्या की स्थिति इससे भिन्न नही है। किन्तु यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। भोगो का आकर्षण इतना गहरा है कि धर्म उसे तपस्या और नियन्त्रण से समाप्त नही कर सकता। गौतम के द्वारा अहल्या का त्याग अथवा इन्द्र को दिया गया शाप समस्या का वास्तविक समाधान नही है। भोगासक्त बुद्धि को जड़ कह-कर त्याग के योग्य ठहराया जा सकता है, किन्तु इससे क्या होने वाला है? इस समस्या का वास्तविक समाधान तो श्रीराम के चरणो मे ही है। भक्ति के द्वारा ही व्यक्ति बुद्धि को भोगो से विरत कर सकता है। क्योकि धर्म जहाँ निषेध पर बल देता है, वहाँ भक्ति-शास्त्र विधिमूलक विकल्प प्रस्तुत करता है। यदि किसी व्यक्ति को यह कहकर भोजन से विरत करने की चेष्टा की जाय कि वह जो भोजन कर रहा है वह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, तो इस विश्लेषण से उसे कुछ देर के लिए ही भोजन के त्याग की तो प्रेरणा दी जा सकती है, किन्तु इससे उसकी क्षुधा की समस्या का समाधान नहीं होता। इसके लिए तो उसके समक्ष हानिकारक भोजन के स्थान पर, स्वास्थ्य-वर्धक व्यंजन का विकल्प रखना होगा जिसके द्वारा वह स्वाद और तृप्ति का अनुभव भी कर सके। भक्ति भोगो के निषेध के स्थान पर, भगवान् का दिव्य भोग प्रस्तुत करती है। श्रीराम के चरणों के संस्पर्श से चैतन्य होकर अहल्या इसी अनुरागमयी भक्ति की याचना करती है:

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी, नाथ न माँगउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना॥

तुलसीदास भी अहल्या की कथा से प्रेरणा प्राप्त करते हुए, अपने मन को भगवान् राम के चरणों मे प्रेम करने की प्रेरणा देते है:

तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट-जंजाल।

॥ श्रीराम शरण मम ॥

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेह-बिदेह बिसेषी ॥

अर्थ—भगवान् श्रीराम की मधुर और मनोहर रूप-माधुरी को देखकर महाराज विदेह और भी विदेह हो उठे।

महाराज श्रीजनक ने श्रीराम के सौन्दर्य को देखा और देखकर उन्हे एक नवीन अनुभूति का साक्षात्कार हुआ। जनक सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञो मे माने जाते थे। अनेक महामुनि भी ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके सन्निकट आते थे :

जासु ग्यान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥

उपर्युक्त पंक्तियो मे जनक के इस गौरवपूर्ण स्वरूप की ओर इगित किया गया है। तत्त्वज्ञ जनक निर्गुण-निराकारवादी थे। उनकी दृष्टि मे ब्रह्म नाम-रूप-रहित था। गुण की सत्ता ब्रह्म मे सम्भव न थी। उनकी मान्यता के अनुकूल ब्रह्म तो वस्तुत. प्रत्यगात्मा था। वह द्रष्टा और प्रकाशक है—दृश्य नही। ऐसी स्थिति मे श्रीराम के जिस सगुण स्वरूप को देखकर उन्हे दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई, वह उनकी मान्यता के सर्वथा विपरीत था। उनकी दृष्टि मे यह नाम-रूपात्मक विश्व वस्तुत मिथ्या है और मिथ्या मे आसक्ति एव आनन्द की अनुभूति का प्रश्न ही कहाँ है? किन्तु श्रीराम के रूप मे उन्हे एक नवीन सत्य का बोध हुआ और वह सत्य था ब्रह्म के सगुण-साकार स्वरूप ग्रहण करने का। वस्तुत पूर्ण ब्रह्म का यह अवतार योगी की अपूर्णता को दूर करता है।

ब्रह्म यदि निर्गुण-निराकार है, तो सगुण-साकार क्या है? वस्तुत रूप और नाम को व्यक्ति सब-कुछ मानता है, उसमे व्यक्ति की अत्यधिक आसक्ति है और यदि इस आसक्ति के निराकरण के लिए मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया जाता हो तो वह उचित ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जितना नाम-रूपात्मक विश्व दिखाई देता है ब्रह्माण्ड केवल उतना ही नही है, अपितु ईश्वर की संकल्पशक्ति से उत्पन्न होने वाला यह ब्रह्माण्ड तो एक अपूर्ण प्रतिति-मात्र है। किन्तु नाम-रूपात्मक विश्व का यह मिथ्यात्व यदि केवल सिद्धातत प्रपच का निषेध कर व्यक्ति को वहिरग से अन्तरग की ओर ले जाने की चेष्टा करता है तो उसका एक ही परिणाम हो सकता है कि व्यक्ति वाह्य विश्व की उपेक्षा करता हुआ केवल अपने अन्तर्जगत् में प्रवेश करने की चेष्टा करे। किन्तु यह स्थिति लोक-मगल के लिए घातक है।

वस्तुत नाम-रूप के प्रति आसक्ति की पराकाष्ठा जहाँ व्यक्ति के जीवन मे उसे अन्त सत्य से वचित करती है, वहाँ अन्त सत्य के प्रति यह आसक्ति भी व्यक्ति को पलायनवादी वना लेती है। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति वाह्य और

आभ्यन्तर के इस भेद को मिटा दे। और इस भेद का मिटना तभी सम्भव है कि जब व्यक्ति आन्तर और वाह्य दोनो ही स्थितियो मे ब्रह्म का साक्षात्कार करे। इसे रात्रि और दिन का सत्य कह सकते है। रात्रि की प्रगाढ निद्रा में सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का निषेध हो जाता है और यह निपेध व्यक्ति को विश्राम की अनुभूति कराता है। इस निपेध के माध्यम से व्यक्ति यह समझ पाता है कि वस्तु के अभाव मे भी उसका आन्तर निरपेक्ष सुख नित्य है। उसे किसी वाह्य आलम्वन के विना भी पाया जा सकता है। किन्तु रात्रि के पश्चात् दिन अवश्यम्भावी है। रात्रि और निद्रा जहाँ हमारी अनुभूतियो को समाप्त करते है, वहाँ दिन हमे प्रतिक्षण पग-पग पर अन्य व्यक्तियो की ओर देखने के लिए वाध्य कर देता है। ऐसी स्थिति मे व्यवहार करते हुए अगर व्यक्ति केवल व्यवहार की उलझन से बचने के लिए निद्रा का आश्रय ले तो वह निद्रा विश्राम के स्थान पर तमोगुण और पलायन का ही प्रतीक बन जायेगी। निद्रा का सच्चा आनन्द तो तभी है जब व्यक्ति दिन-भर अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करता हुआ श्रमित होकर शय्या पर शयन करने के लिए जाता है, और निद्रा की सार्थकता तभी है कि जब निद्रा व्यक्ति को विश्राम देकर नवीन स्फूर्ति दे; तथा उस नवीन स्फूर्ति के द्वारा शक्ति प्राप्त करके व्यक्ति पुन कर्त्तव्य कर्म मे आरूढ हो जाए।

निर्गुण-निराकार निद्रा की वह स्थिति है कि जहाँ पर विश्व-प्रपंच का निपेध है, किन्तु सगुण-साकार दिन का वह वैभव विलास है कि जब व्यक्ति प्रतिक्षण अनेक रूपो और विविध प्रवृत्तियो का साक्षात्कार करता है। दिन का विश्व-प्रपंच हमे व्यवहार की दिशा मे प्रेरित करता है और वह निद्रा के विपरीत होते हुए भी वस्तुत. विपरीत न होकर एक-दूसरे का पूरक है। ठीक इसी प्रकार सगुण-साकार की स्वीकृति समस्त कर्त्तव्य कर्म की पवित्रता के लिए और उसके उचित सम्यक् पालन के लिए अपेक्षित है। तत्त्वज्ञ जनक ने अपने जीवन मे विचार के जगत् मे जो ख्याति प्राप्ति की थी, वह महान् थी।

किन्तु श्रीराम उस महान् ज्ञानी को भी समग्र ज्ञान प्रदान करने के लिए जनकपुर मे आते है। श्रीराम भी तो वस्तुत अखण्ड ज्ञान ही है

ग्यान अखण्ड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥

आज चरम ज्ञान, एक ज्ञानी को उस अपूर्ण सत्य से अलग कर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कराता है कि जहाँ पर ब्रह्म केवल निर्गुण-निराकार ही नही, अपितु सगुण-साकार भी है। वह निद्रा और जागृति, दोनो ही अवस्थाओ मे समान रूप से विद्यमान है। और इसी दृष्टि से गोस्वामीजी ने इन पक्तियो मे जनक की स्थिति को निष्ठा से च्युत होना नही माना।

यह कहा जा सकता था कि निर्गुण-निराकार-निष्ठ जनक अपनी ज्ञान-निष्ठा से च्युत हो गए। पर तुलसीदास इसे इस रूप में न कहकर यो कहते है कि वस्तुतः जनक का विदेह नाम सच्चे अर्थो मे तो आज ही सिद्ध हुआ। इसे यो कह सकते है कि अभी तक तो उनका विदेहत्व विचारगत सत्य था, वे विचार की दृष्टि से ऐसा

मानते थे कि नाम और रूप या विश्व मिथ्या है, किन्तु व्यवहार में तो देह को स्वीकृति दिए विना कार्य चल ही नही सकता था। अत विचारगत सत्य व्यवहार की कठिनाइयो के सामने केवल-मात्र चिन्तन की वस्तु रह जाता है। और इन दोनों के सम्यक् समन्वय के लिए अपेक्षित है कि ज्ञान के साथ भक्ति का साक्षात्कार हो। निर्गुण के साथ सगुण की स्वीकृति, ज्ञान के साथ भक्ति का समन्वय हो और उस समन्वय का तत्त्व यही है कि वस्तुत निर्गुण-निराकार ब्रह्म भक्त की आकाक्षाओ को पूर्ण करने के लिए सगुण-साकार रूप मे अवतरित होता है।

श्रीराम का सौन्दर्य देखकर श्रीजनक को अपनी देह की सुध-बुध जाती रही। मानो उनका ज्ञानगत विदेहत्व भक्ति की भावना के द्वारा साकार होकर व्यवहार मे भी परिणत हो गया।

।। श्रीराम शरण मम ।।

धर्म सेतु पालक तुम्ह ताता । प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ।।

अर्थ—हे तात ! तुम धर्म-सेतु के रक्षक हो, साथ ही प्रेम के वशीभूत होकर सेवको को सुख देने वाले हो।

जनकपुर मे भगवान् श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महर्षि विश्वामित्र के समीप बैठे हुए थे। तभी श्रीलक्ष्मणजी के हृदय मे जनकपुर को देखने की आकाक्षा का उदय हुआ। किन्तु प्रभु के भय और महर्षि विश्वामित्र के सकोच के कारण वे अपने हृदय की इच्छा को स्पष्ट नही कहते है। परन्तु राघवेन्द्र लक्ष्मण के अन्त -करण की आकाक्षा को पहचान लेते है और वे गुरुदेव के समक्ष मुस्कराकर अत्यन्त विनम्र भाव से नमन करते है

राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हिय हुलसानी।।
चरम विनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई।।

महर्षि विश्वामित्र का आदेश पाकर प्रभु ने उनसे अनुरोध करते हुए कहा—"गुरुदेव, लक्ष्मण नगर देखना चाहते है। किन्तु आपके सकोच और भय के कारण स्पष्ट नही कह पाते है। यदि आप आज्ञा दे तो मै इन्हे नगर दिखलाकर ले आऊँ "

नाथ लखन पुर देखन चहही। प्रभु सँकोच उर प्रगट न कहहीं ।।
जौं राउर आयसु मै पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं।।

श्रीराघवेन्द्र की नम्रता-भरी वाणी सुनकर महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराम के शील की सराहना करते हुए उन्हे 'धर्म-सेतु पालक' की उपाधि प्रदान की। सेतु के अभाव मे एक ही नदी के दो किनारो पर रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से नही मिल पाते है। धारा का छोटा-सा व्यवधान बडी दूरी बन जाता है। सारा समाज भी नदी के किनारो के समान विभक्त है। इनमे परस्पर दूरी है और यह दूरी प्रत्येक क्षेत्र मे विद्यमान है—चाहे वह वर्णगत हो या आर्थिक अथवा बौद्धिक। स्वभावत प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति सघर्ष करता है। प्रत्येक वर्ग का पक्षपात अपने ही वर्ग के प्रति होता है।

धर्म-सेतु का मुख्य उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति को एक-दूसरे के निकट लाना है। वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करनेवाला वैदिक मत्र विराट् ब्रह्म से ही सारे वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन करता है। शरीर मे अग पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक दूसरे के पूरक है। वस्तुत. न तो कोई छोटा है और न ही कोई बडा। अपने कार्य को सम्पन्न करनेवाला प्रत्येक अग श्रेष्ठ है। शरीर मे शीर्पस्थ नेत्र यदि प्रकाश शून्य होकर केवल शोभा की वस्तु रह जाय तो उनकी तुलना मे वह चरण श्रेष्ठ है, जो अपने कार्य का निर्वाह कर रहा है। इसी प्राकर धर्म भी सारे विश्व को विराट् ईश्वर से सम्बद्ध कर उसमे एकता के सूत्र को स्थापित करता है। इससे

वढकर कोई दुर्भाग्यपूर्ण वात नही हो सकती कि जो धर्म सेतु के रूप मे समाज को सूत्रवद्ध करने का हेतु होना चाहिए, वही सघर्प का कारण वनकर एक-दूसरे के विरुद्ध सघर्प अथवा प्रतिद्वन्द्विता की प्रेरणा दे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि धर्म का मुख्य उद्देश्य लोगों में एकत्व की सृष्टि करना है, किन्तु वहुधा धर्म अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे सफल नही हो पाता है, क्योंकि स्वार्थी व्यक्ति धर्म की व्याख्या भी अपने स्वार्थो के अनुकूल ही करने की चेष्टा करते है। ऐसी स्थिति मे श्रीराम के अवतार का उद्देश्य क्या था ? महर्पि विश्वामित्र ने इसके लिए यही कहा

धर्म सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम विवस सेवक सुखदाता ॥

इसका तात्पर्य है कि जब धर्म का वह पुल जो मिलाने का साधन होना चाहिए था, टूट रहा था, विनष्ट हो रहा था और लोग अपने मिथ्या अहकार से एक-दूसरे के विरुद्ध सघर्प-रत थे, ऐसे समय मे श्रीराम के रूप मे ऐसे सेतु का प्रादुर्भाव होता है जो परस्पर विरोधी शक्तियो को एक-दूसरे के सन्निकट ले आता है। महर्षि विश्वामित्र से वढकर इस सत्य को जाननेवाला दूसरा कोई व्यक्ति नही हो सकता था। क्योंकि वशिष्ठ और उन (विश्वामित्र) का सघर्प इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण गाथा था—जहाँ दोनो ही महापुरुष एक-दूसरे के विरुद्ध वद्ध-परिकर थे। श्रीराम ने दोनो मे गुरुत्व का सूत्र स्थापित कर दोनो को ही समान सम्मान का पद प्रदान किया। विश्वामित्र श्रीराम के व्यक्तित्व की इसी उदारता पर रीझे हुए है और प्रस्तुत प्रसग मे भी उन्होने श्रीराम की सराहना करते हुए इसी तथ्य की ओर इगित किया है। यहाँ एक ओर लक्ष्मणजी की वाल-सुलभ आकाक्षा का आनन्द है, और दूसरी ओर गुरु विश्वामित्र की वैराग्य और गभीरता से भरी हुई वाणी के श्रवण का लाभ।

श्रीराम तो सत्सग के महानतम प्रेमी है। गुरुजनों के निकट वैठकर उन्हे ज्ञान प्राप्त करने मे वडा सुख प्राप्त होता है। लेकिन उनकी यह ज्ञानाभिलाषा उनके अन्त करण के वात्सल्य रस को समाप्त नही कर देती है। जव कोई व्यक्ति जीवन मे गम्भीरता का वरण करता है, तव वहुधा वह हास्य और विनोद की वृत्ति से वचित होता है। और यदि कुछ लोग हास्य और विनोद मे रस लेते हैं तो वे जीवन मे गम्भीरता को पास भी फटकने नही देते। पर जीवन तो वस्तुत एक समन्वय है। श्रीराम मे समन्वय की इसी वृत्ति की सार्थकता दिखाई देती है। यदि श्रीलक्ष्मण अयोध्या के वैभव का परित्याग कर श्रीराम की सेवा मे आये हुए है तो श्रीराघवेन्द्र उनके अन्त करण की भावना को पूर्ण करना अपना कर्त्तव्य मानते है। दूसरी ओर महर्षि के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना भी अप्रतिम है।

इस प्रकार उनके समक्ष एक वालक और एक वृद्ध है। एक गभीर और एक उत्साह से भरे हुए व्यक्ति के वीच मे समन्वय की साधना का जो सूत्र उपस्थित होता है वह उनके शील की ही सच्ची अभिव्यक्ति है। एक ओर वे महर्पि विश्वामित्र के चरणो मे नमन करते है। विना उनकी अनुमति के वोलना भी उन्हे अनु-

शासन के विरुद्ध जान पड़ता है, किन्तु दूसरी ओर लक्ष्मण के अन्त.करण की भावना को वे सकोच छोड़कर प्रकट कर देते है। श्रीलक्ष्मण नगर देखना चाहते है यह कहने मे श्रीराम को रंचमात्र भी सकोच नही होता। वे एक ओर महर्षि के प्रति आदर और दूसरी ओर लक्ष्मण के प्रति स्नेह तथा अपनत्व की भावना से प्रेरित है। इस प्रकार आदर और अपनत्व की इस खाई मे श्रीराम का व्यक्तित्व सेतु के समान एक-दूसरे को मिलाने वाला है।

महर्षि विश्वामित्र उन व्यक्तियों मे नही है जिनका जीवन वात्सल्य और स्नेह से सर्वथा शून्य हो। उन्होने श्रीराम को यह उलाहना नही दिया कि क्या मेरा सान्निध्य छोडकर नगर देखने जाने की इच्छा तुम्हारे चरित्र के गौरव के अनुरूप है? इसके स्थान पर वे न केवल श्रीराम और लक्ष्मण की सराहना करते है अपितु उन्हे ऐसा जान पडता है कि वस्तुत लक्ष्मण न केवल श्रीराम को साथ लेकर नगर देखना चाहते है, अपितु लक्ष्मण तो जनकपुर मे श्रीराम के सौन्दर्य की ख्याति को प्रचारित करना चाहते है। श्रीलक्ष्मण की इस पुनीत भावना को देख करके ही महर्षि को प्रसन्नता होती है। और दूसरी ओर श्रीराम का शील उन्हें भावाभिभूत कर देता है तथा वे यह कह उठते है कि राम, सच्चे अर्थो में तुम पुल के समान एक दूसरे को निकट लाने वाले हो, तुम्हारा जीवन ही सच्चे सेतु और सच्चे समन्वय का तत्त्व उपस्थित करता है।

ककन किकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही । मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही ॥

अर्थ—ककण-किंकिणि और नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर प्रभु ने विचार कर श्रीलक्ष्मण से ये वाक्य कहे—"ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कामदेव वाद्य वजाता हुआ विश्व-विजय के लिए निकल पडा हो।"

धनुर्भंग के पहले पुष्पवाटिका मे श्रीसीता-राम का पूर्वानुराग 'प्रसन्नराघव' नाटक को छोडकर अन्य किसी ग्रन्थ मे प्राप्त नही होता। रामचरितमानस मे इसकी गणना मधुरतम प्रसगो मे की जाती है। शृ गार को मर्यादित रूप मे प्रस्तुत करने की तुलसी की यह कला सर्वथा अप्रतिम है। एक ओर श्रीराम पुष्पवाटिका मे महर्षि विश्वामित्र के पूजन के लिए पुष्प लेने पधारते है तो दूसरी ओर श्रीसीता पार्वती-पूजन के लिए दिए गए माँ के आदेश का पालन करने के लिए वाटिका मे आती है। इस तरह यह प्रसग मर्यादा की स्वर्ण मजूषा मे रत्न की भाँति सुशोभित है।

किन्तु तुलसी के लिए यह प्रसग केवल शृ गार की अभिव्यक्ति का साधन-मात्र ही नही है, अपितु इसके माध्यम से वे सौन्दर्य, शृ गार, अनुराग, काम और भक्ति-साधना के अनुपम तत्त्वो को प्रकट करते है। पुष्पवाटिका मे किशोर-किशोरी के अनुराग का वर्णन गोस्वामीजी के मर्यादावादी रूप से भिन्न जान पडता है। महाराज श्रीजनक यह प्रतिज्ञा कर चुके थे कि वे धनुर्भंग करने वाले व्यक्ति के साथ ही अपनी कन्या का विवाह करेगे। ऐसी स्थिति मे उस प्रतिज्ञा की पूर्ति से पहले श्रीसीता द्वारा मानसिक रूप मे राघवेन्द्र का वरण क्या धर्मसगत माना जा सकता है? दूसरी ओर धनुर्भंग के पश्चात् यदि कवि के द्वारा सीता-राम प्रेम का वर्णन किया जाता तो वह प्रेम का उत्कृष्ट दृष्टांत न होकर मात्र परम्परा और मर्यादा का ही एक चित्र होता। सत्य तो यह है कि वे धर्म और प्रेम, दोनो के अतिवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार कर देते है। यदि धार्मिक कट्टरता की भावना अनुराग और प्रीति को अस्पृश्य मानकर समग्र रूप से उसकी उपेक्षा करती है तो प्रेम-रस-रसिक धर्म को शुष्क मरुभूमि मानकर उसके पास भी नही फटकना चाहते। तुलसी का धर्म व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता हुआ भी उसे कारागार के रूप मे परिणत नही कर देता और न तो प्रेम के नाम पर वे उस उच्छृखलता का ही समर्थन करते है जो समाज की प्रत्येक मर्यादा को स्वतत्रता के नाम पर ध्वस करने मे आनन्द का अनुभव करती है। पुष्पवाटिका-प्रसग मे रस और मर्यादा का वे वही स्वरूप अकित करते है जो लोक-मगल के लिए परमावश्यक है

पुष्पवाटिका मे श्रीराघवेन्द्र और जनकनन्दिनी एक-दूसरे के अलौकिक सौदर्य को देखकर भले ही मुग्ध हो गये होगे, किन्तु यहाँ उनके आगमन का उद्देश्य एक-

दूसरे की सुन्दरता को निहारना नही था। और न वे किसी पूर्व सकेत के आधार पर एक-दूसरे से मिलने ही आये थे। इसके प्रतिकूल श्रद्धा की तात्त्विक प्रेरणा से ही वे दोनो वाटिका मे आते है। श्रीराम मालियों से अनुमति लेकर प्रमुदित हृदय से पूजन के लिए पुष्प चयन मे सलग्न हो जाते है

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥

पार्वती-पूजन के लिए आगता जानकी भी अनुराग-भरे अन्त करण से भगवती उमा का पूजन करती है :

पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा॥

शृंगार और अनुराग का प्रसग इसके पश्चात् ही आता है। केवल अनुराग की समग्रता अभीष्ट होने पर वे वाटिका मे पुष्प-चयन करते हुए सीता और राम की अचानक ही 'चार आँखे' करा सकते थे; यह नाटकीयता की दृष्टि से अधिक स्वाभाविक होता, किन्तु इससे मर्यादा और प्रीति के समन्वय का दर्शन अधूरा रह जाता। इसके पश्चात् श्रीसीता के अन्त करण मे दर्शन की उत्कठा का वर्णन करते है। श्रीराम का एक दिन पहले ही जनकपुर-आगमन हो चुका है। वे महाराज श्रीजनक के सम्मानित अतिथि थे। नगर-दर्शन मे सारे जनकपुर-वासी उनके सौन्दर्य से सम्मोहित हो चुके है। चारो ओर एक ही स्वर गूँज रहा था—"कौन वह शरीरधारी है जो इस सौन्दर्य पर मुग्ध नही हो जायेगा ?" उनका मनोभाव इन पक्तियो मे प्रगट होता है

जुवती भवन झरोखन लागी। निरखहिं राम रूप अनुरागी॥
कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं॥
बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेश मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउन आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही॥
बय किसोर सुषमा सदन, श्याम गौर सुख धाम।
अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि कोटि सत काम॥
कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥

इतना ही नही, जनकपुर-वासिनी प्रत्येक ललना की यह धारणा थी कि जानकी के लिए इससे अधिक कोई उपयुक्त वर हो ही नही सकता। उनकी उत्कण्ठा इस सीमा तक थी कि वे इसके लिए महाराज श्रीजनक द्वारा प्रतिज्ञा छोड़ देने की कामना करती है। यदि वे इसके लिए प्रस्तुत न हो, तो भावुकता के कारण वे विदेह को अविवेकी की उपाधि तक देने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्त मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि ब्रह्म उनकी इस कामना को अवश्य पूर्ण करेगा

तौ जानकिहि मिलिहि वरु एहू। नाहिं न आलि इहाँ संदेहू॥
जौं विधि वस अस बनै सँजोगू। तौ कृत कृत्य होहिं सब लोगू॥
सखि परंतु पन राउ न तजई। विधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥
कोउ कह जौं भल अहइ विधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता॥

यह समाचार महाराजश्री के अन्त पुर मे न पहुँचता; यह असम्भव था। आगे

चलकर श्रीसीता की सखियो से वार्तालाप मे यह स्पष्ट हो जाता है .

एक कहइ नृप सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली॥
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्ववस नगर नर नारी॥
बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥

फिर भी वे जनकनन्दिनी के समक्ष इसका उद्‌घाटन पुष्पवाटिका मे ही करती है। श्रीसीता की सखियो को यह औचित्यपूर्ण नही लगा होगा कि वे धनुर्भंग के पहले अपनी स्वामिनी के अन्त करण मे किसी राजकुमार के प्रति उत्कण्ठा और पूर्वराग की सृष्टि करे। यह सीता की सखियो की सजगता का सूचक है। किन्तु पार्वतीपूजन के तत्काल बाद एक सखी के द्वारा वर्णित राजकुमार के अनिर्वचनीय सौन्दर्य का सकेत सुनते ही सखियाँ खुलकर अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रगट करती है। क्योकि पूजा के तत्काल बाद राजकुमार के आगमन को उन्होने ईश्वरीय सकेत के रूप मे देखा। कवि इसी अवसर पर देवर्षि नारद के वचनो का भी स्मरण करता है जिन्होने कभी जनकनन्दिनी की हस्तरेखा देखकर भविष्यवाणी की थी—"इस वाटिका मे जिस राजकुमार का सौन्दर्य तुम्हे सम्मोहित करेगा, वही तुम्हारा पति होगा।" इस तरह वे प्रेम और मर्यादा को एक-दूसरे के पूरक रूप मे प्रस्तुत करते है। पुष्पवाटिका मे स्नेह की जो सरिता प्रवाहित होती है, वह वर्षा की उद्दाम वेगवती नदी नही है, जो लोक-वेद के कूल-कगारों को तोडने पर तुली हुई हो। वह तो शरद ऋतु की निर्मल जल वाली मन्दाकिनी है, जो कगारो के मध्य से बहती हुई अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि करती है, उसके स्नेह-जल मे वासना की वह मलिनता नही है जो वर्षा की नदी का सहज स्वभाव है। रसवन्ती के इस दिव्य जल मे स्नान कर व्यक्ति अपने चरित्र को शुद्ध बना सकता है, इसका जल पीकर मन की प्यास मिटा सकता है।

एक सखी पार्वती के पूजन मे सम्मिलित न होकर वाटिका-परिभ्रमण के लिए जाती है। देवर्षि के वचनो मे उसकी अविचल श्रद्धा थी। उसकी उत्कण्ठा-भरी आखो के समक्ष भुवनमोहन राम का सौन्दर्य आते ही उसका मन-प्राण इस दिव्य रस मे डूबने लगता है। किन्तु आकर्षण के इन क्षणो मे जब शरीर की सुध-बुध भी जाती रहती है, तब भी वह उसे खोने नही देती। वह इस सौन्दर्य-रस का पान तो करती है पर उसमे वासना का वह कलुष नही है जो व्यक्ति को स्वार्थी बना देता है। वह देहवादी शूर्पणखा की तरह यह कल्पना नही करने लग जाती कि यह सुन्दरता एकमात्र मेरे लिए ही निर्मित हुई है। शूर्पणखा भी दण्डकारण्य मे इस अलौकिक रूप-माधुरी पर मोहित होकर उनके सन्निकट जाकर सौन्दर्य की सराहना करती है, पर उसके अन्त करण की वासना की नग्नता छिप नही पाती। वह साफ कह देती है—"तुम केवल मेरे लिए बने हो"

सूपनखा रावन की बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भई जुगल कुमारा॥

× ×

रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई ॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
ताते अब लगि रहेउँ कुमारी। मनमाना कछु तुम्हहि निहारी ॥

गोस्वामीजी की मर्यादा उस शुष्क सविधान का समर्थन नही करती, जिसकी मान्यता यह है कि सौन्दर्य की ओर आँख उठाकर देखते ही धर्म विनष्ट हो जाता है। ऐसी अतिरेकवादी मान्यताओ के प्रदर्शन से दभ का ही अधिक प्रचार होता है। सहज भाव से आत्मलीन ऐसे व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है जो स्वय के भावराज्य मे इतना खोया रहता हो कि उसकी दृष्टि कही जाती ही न हो। किन्तु यही दृष्टि जब नियम के रूप मे लादने की चेष्टा की जाती है, तब वह पाखण्ड का रूप धारण कर लेती है। दृष्टि को नीचे करके व्यक्ति सुन्दरता को कनखियों से देखना चाहेगा। नेत्र मूँदकर मनश्चक्षुओ से कल्पना-राज्य मे रूप का उपभोक्ता बनेगा। तुलसी के काव्य मे मर्यादा का यह मिथ्यावादी रूप कही नही दिखाई देता है। सकीर्ण परम्परावादी परस्पर खुलकर सौदर्य देखने का अधिकार केवल पति-पत्नी को ही देते है, उनकी दृष्टि मे अन्यो के लिए इसका समग्र निषेध है। यह निषेध का वह अतिवादी रूप है जो मानसिक रूप से चोर-वृत्ति को जन्म देता है। इससे भिन्न मानस मे अद्भुत विरोधाभास दिखाई देता है। विवाह के पश्चात् भी श्रीराम का दर्शन करने मे विदेहजा को सकोच होता है। वे अपने प्रियतम का रूप निहारने के लिए नये-नये उपायो का आविष्कार करती है। कोहवर मे अपने सन्निकट वैठे हुए राघव को देखने के लिए वे मणि-ककण का आश्रय लेती है। तुलसी इसका वडा ही मार्मिक एव मधुर शब्द-चित्र अकित करते है·

गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुर सुंदरीं बरहिं बिलोकि सब तिन तोरहीं ॥
मनि बसन भूषन बारि आरति करहिं मंगल गावही।
सुर सुमन बरिसहिं सूत-मागध बंदि सुजसु सुनावही ॥१॥
कोहबरहिं आने कुँअर कुँअरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
अतिप्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै ॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहै।
रनिवास हास बिलास रस बस जन्म को फल सब लहै ॥२॥
निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय-बस जानकी ॥
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अलीं।
बर कुँअरि सुंदर सकल सखीं लवाइ जनवासेहि चलीं ॥३॥

दूसरी ओर जनकपुरवासिनी ललनाएँ निस्सकोच भाव से श्रीराम की सुन्दरता निरखती है, परस्पर उसका वर्णन करती है। वन-पथ मे ग्राम-वासिनी नारियाँ तो श्रीसीता को श्रोता बनाकर राम की सुन्दरता का वडा ही रसीला चित्र

खीचती है। उनके प्रति अपने हृदय के आकर्षण का वर्णन करती हैं। साथ ही पूछ वैठती है, "हमारे मन को आकृष्ट करनेवाला वह राजकुमार आपका कौन है ?" :

सीस जटा, उर-बाहु विसाल विलोचन लाल तिरीछी-सी भौंहे।
तून सरासन बान धरे तुलसी वन-मारग में सुठि सोहैं॥
सादर वारहिं बार सुभाय चितै तुम्ह त्यो हमरो मन मोहै।
पूछति ग्रामवधू सिय सों यह साँवरो सो सखि रावरो कोहैं॥

इस विरोधाभासी चित्र के पीछे क्या रहस्य है ? सकोच के दो रूप है। एक वह जिसे शील का अग कहा जाता है। किसी शिष्ट व्यक्ति मे प्रश्न करे, "क्या यह भवन आपका है" , वह नम्रता से कहेगा, "जी, यह आपका ही है," अथवा "आपके दास का ही है।" एक उद्दण्ड व्यक्ति यो कहता है, "मेरा नही तो क्या आपका है !" दोनो का वास्तविक तात्पर्य एक ही होते हुए भी एक व्यक्ति दूसरे के हृदय मे सद्भाव की सृष्टि करेगा, तो दूसरा अपने वाक्यो से उसके मन मे वितृष्णा उत्पन्न करेगा। श्रीसीता का सकोच इसी प्रकार का है। राघवेन्द्र सीता के सर्वथा अपने है, पर वे ग्राम-निवासिनियों का प्रश्न सुनकर लजा उठती है, यह उनके शील की झाँकी है

तिन्हहिं बिलोकि विलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति वर वरनी॥
सकुचि सप्रेम वाल मृगनयनी। वोली मधुर वचन पिक-बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
वहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तनु चितइ भौंह करि बाँकी॥
खजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥
भई मुदित सब ग्राम वधूटी। रंकन्हि राय रासि जनु लूटीं॥

किंतु दूसरे प्रकार का सकोच अपराधमूलक है। वस्तुत यह भय ही होता है जो सकोच के रूप मे दिखाई देता है। इसका एक शब्द-चित्र इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है एक व्यक्ति जो अपने किसी परिचित के घर जाता है और वहाँ किसी वस्तु को देखकर ललच जाता है, उस समय उसके मन मे यह आकाक्षा होती है काश, मैं इस वस्तु को उठा ले जाता ! वह जब लोभ-भरी दृष्टि से वस्तु को निहार रहा है तभी गृहस्वामी की दृष्टि उस पर पड जाती है। उस समय गृहस्वामी को अपनी ओर दृष्टिपात करते हुए देखकर व्यक्ति का सकुचित हो उठना सर्वथा स्वाभाविक है। वह सोचता है कि कही गृहपति ने उसके अन्तर्भाव को भाँप तो नही लिया ! यह अपराधवृत्ति-प्रेरित संकोच बहुधा लोगो की आकृति पर परिलक्षित होता है। सुन्दरता के सदर्भ मे तो इसे और भी व्यापक रूप मे देखा जा सकता है। जनकपुरवासिनी और वनपथ मे मिलने वाली नारियो मे इस प्रकार के सकोच का सर्वथा अभाव है। इसका एकमात्र कारण यही है कि उनके सौदर्यदर्शन मे किसी प्रकार की अपराध-वृत्ति थी ही नही। उनके अन्त करण मे इस सुन्दरता को देखकर निश्चल अनुराग की भावना जाग्रत् होती हैं। अधिकार और वासना के अभाव के कारण ही उन्हे सीता के सौभाग्य से ईर्ष्या नही होती,

अपितु वे तो आनन्दित हृदय से श्रीजानकीजी का अभिनन्दन करती है। उनके मगलमय भविष्य के लिए आशीप देती है

भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्हि राय रासि जनु लूटीं ॥
अति सप्रेम सिय पायँ परि, बहुबिधि देहि असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहि सीस ॥

सौदर्य के आकर्पण के साथ ही सीता के प्रगाढ अनुराग का यही दिव्य भाव उस सखी मे भी दिखाई देता है जिसने पुष्प-वाटिका मे सर्वप्रथम श्रीरामचन्द्र के सौदर्य का साक्षात्कार किया। वह इसी भाव-विह्वल दशा मे श्रीजानकीजी के पास लौट आती है और सखियो की जिज्ञासा के उत्तर मे वह बडे कवित्वपूर्ण शब्दो मे उस स्वरूप का सकेत देती है जिसने उसे इस स्थिति में ला दिया है ·

तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहि सब मृदु बैन ॥
देखन बाग कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए ॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

इस वर्णन ने जानकीनन्दिनी के अन्त करण मे उत्कण्ठा जाग्रत् की, जिसे सकोच के कारण वे वाणी नही दे पाती है। सखियो की मन स्थिति भी उस समय तक कुछ इस प्रकार की हो चुकी थी कि वे इस उत्कण्ठा की वृद्धि मे सहायक बन जाती है। इस तरह एक अपरिचित राजकुमार को देखने के लिए जाने मे अनौचित्य की आशका के निवारण के लिए उन्होने बडी ही साकेतिक भाषा का प्रयोग किया—"अरी सखी, सम्भवत ये वही राजकुमार है जो महर्षि विश्वामित्र के साथ कल नगर मे पधारे है। जिन्होने अपनी रूप-मोहिनी से समस्त नगर को सम्मोहित कर लिया है। आजकल तो जहाँ-तहाँ स्त्री-पुरुप इनके सौदर्य की सराहना मे सलग्न है। ये तो सर्वथा दर्शनीय है, इन्हे देखना ही चाहिए" ·

एक कहइ नृप-सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली ॥
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी ॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥

एक महर्षि के साथ उनका आगमन सखियों को आश्वस्त बना देता है। "सर्वत्यागी सत भी जिनके पीछे लगे हुए हो, वे साधारण राजकुमार-मात्र नही हो सकते, जिस सौन्दर्य ने समानरूप से सभी को सम्मोहित किया हो उसमे लौकिकता और अनौचित्य का प्रश्न ही कहाँ उठता है!" इस तरह एक स्वर से समर्थन किये जाने पर ही विदेहजा श्रीराघवेन्द्र की दिशा मे अभिमुख होती है। अप्रत्याशित रूप से सौन्दर्य का साक्षात्कार कराने के स्थान पर इस पृष्ठभूमि मे उत्कण्ठा उत्पन्न कराने का तात्पर्य ही यही था कि मर्यादा और भावना मे परस्पर टकराहट न हो, अपितु इस भावना को मर्यादा का समर्थन उपलब्ध हो।

राघवेन्द्र के अन्त.करण मे अनुराग के उद्भव को तुलसी ने और भी विलक्षण रूप मे प्रस्तुत किया है। सौन्दर्य के साक्षात्कार से पहले केवल आभूषणो की ध्वनि

मात्र से राम का हृदय रागान्वित हो उठता है। ककण, किंकिणि और नूपुरों की रुनझुन-मात्र से रागोदय की कल्पना सर्वथा अद्‌भुत प्रतीत होती है। सर्वथा सयम-शून्य कामी व्यक्ति के हृदय मे आभूपणो की ध्वनि-मात्र से वासना के उदय की कल्पना तो की जा सकती है, यद्यपि इसमे भी कुछ अतिरजना की ही अनुभूति होगी, किन्तु रघुवश-शिरोमणि राम मे इस प्रकार की भावना का उदय सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। क्योकि यह वही राम है जो स्वप्न मे भी कलुपित दृष्टि से परस्त्री की ओर नही निहारते

मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।।

वस्तुत इसके माध्यम से भी गोस्वामीजी इस अनुराग की अलौकिकता की ओर इगित करना चाहते है। सौन्दर्य के साक्षात्कार से सम्मोहित होने के अनगिनत उपाख्यान इतिहास मे प्राप्त होते है। किन्तु किसी अज्ञात रूप के आभूपणों की ध्वनि का आकर्पण, कवित्वपूर्ण दार्शनिकता का तत्त्व, सहृदय श्रोता और पाठक को रससिक्त वना देता है।

सौन्दर्य दृष्टि का विपय है। व्यावहारिक विश्व मे प्रामाणिकता का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड भी नेत्र ही है। किन्तु आस्तिक दृष्टि के स्थान पर श्रुति को ही प्रामाणिक मानते है। श्रीराम को भी सीता के सौन्दर्य का सर्वप्रथम साक्षात्कार दृष्टि के स्थान पर श्रुति से ही होता है। मानो कवि इसके माध्यम से यह कहना चाहता है कि राम का प्रेम श्रुति-समर्थित है। 'श्रुति-सेतु-पालक राम' के द्वारा वेद की मर्यादा का उल्लघन हो भी कैसे सकता है?

आभूपणो की ध्वनि सुनकर राम के हृदय मे जिस कवित्व का स्फुरण होता है वे उसका वर्णन तत्काल अपने प्रिय अनुज लक्ष्मण से करने मे सकोच का अनुभव नही करते। एक सहज मनोविज्ञान है कि व्यक्ति अपने अन्तर्मन के उन्ही भावों को दूसरे के समक्ष उद्‌घाटित करता है, जिनसे दूसरो की दृष्टि मे उसका सम्मान वढे। अपनी किसी भी मानसिक दुर्वलता को प्रकट कर अपने से छोटो की दृष्टि मे गिर जाय, इसे कौन व्यक्ति स्वीकार कर सकता है? वहिरग दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु ने इसी पद्धति का प्रयोग किया। परन्तु राम के चरित्र की प्रामाणिकता का यह सवसे वडा दृष्टात है। मिथ्याचार के माध्यम से प्राप्त होनेवाला सम्मान उन्हे स्वीकार नही था। इसीलिए उन्होने श्रोता के रूप मे एक ऐसे पात्र का चुनाव किया, जो अपने स्पष्ट भापण के लिए प्रसिद्ध था। लक्ष्मण अपने अन्तर्भाव को वाणी के माध्यम से तत्काल प्रकट कर देते है। अन्य व्यक्तियों की तो वात ही क्या, श्रीराघव भी इसके अपवाद न थे। समुद्र-तट पर अनशन के लिए प्रस्तुत श्रीराम की आलोचना मे वे रच-मात्र सकोच नही करते है

मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम वचन सुनि अति दुख पावा।।
नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिधु करिअ मन रोसा।।
कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।

अत ऐसे व्यक्ति के समक्ष प्रभु के द्वारा की जाने वाली कविता मात्र सराहना

सुनने की भावना से प्रेरित नही थी। आध्यात्मिक अर्थो में लक्ष्मण मूर्तिमान् वैराग्य है। कवि काव्य-रसिक श्रोता की खोज मे रहता है। किन्तु राघवेन्द्र ने अपनी शृगारिक कविता के लिए वैराग्य को श्रोता बनाकर एक नई परिपाटी को जन्म दिया। काव्य-रस की सार्थकता वैराग्य को रस-प्लावित कर देने मे ही है।

किन्तु यह काव्य केवल शृंगार की साधारण अभिव्यक्ति-मात्र नही है। यह उत्प्रेक्षा मानस के दर्शन को कविता की भाषा मे प्रकट करती है। आभूषणो की ध्वनि मे श्रीराम को विश्व-विजय के लिए प्रस्थित काम का दुदुभिघोष सुनाई देता है। लगता है, काम मे दुस्साहस की पराकाष्ठा आ गई है। वह भगवान् शिव पर आक्रमण करते समय उनके समक्ष आने का साहस नही एकल कर पाता। आम्रवृक्ष के पत्तो की आड से ही वह रुद्र पर शर-सन्धान करता है ·

देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥

किन्तु देवाधिदेव कामारि जिन राम की आराधना करते है, उन पर आक्रमण करने के लिए काम दुन्दुभि-घोष करता हुआ आवे, यह कैसा आश्चर्य है? दुर्गुणों की सेना मे काम का पराक्रम अतुलनीय है। वह विश्व को अपनी इच्छा के अनुकूल नचाता है—"को जग काम नचाव न जेही" मे इसी चुनौती का स्वर गूँज रहा है किन्तु राम भक्तो को काम प्रभावित नही कर पाता ·

धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महुँ॥

दोहावली रामायण मे गोस्वामीजी दावा करते है—"राम और काम का एक साथ रहना उसी प्रकार असम्भव है जिस तरह सूर्य और अन्धकार का" ·

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकैं, रबि रजनी इक ठाम॥

किन्तु इस सिद्धान्त के होते हुए भी तुलसी उनके एक साथ होने की कल्पना पुष्पवाटिका मे करने के लिए बाध्य हो जाते है। पुष्पवाटिका मे ही नही, अपितु पूरे विवाह-प्रसग मे काम अनेक रूपो मे उनके स्मरण का पात्र बनता है। धनुष-यज्ञ मे श्रीसीता के चचल नेत्रो को देखकर कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे चन्द्रमंडल के डोल मे 'दो मनसिज मीन' क्रीडा कर रहे है

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल॥

दूल्हे को लेकर थिरकते हुए अश्व को देखकर भी उन्हे यही लगता है कि काम ही अश्व का रूप बनाकर राघवेन्द्र की सेवा मे आ गया है

कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजि बेश जनु काम बनावा॥
जनु बाजि वेश बनाइ मनसिज रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई॥
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मानिक मनि लगे।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥

विवाह-मंडल मे भाँवरी की मधुमयी वेला मे श्रीसीता और राम कनक-कलश की प्रदक्षिणा करते हैं। मण्डप के मणि-स्तम्भ मे उनका प्रतिविम्व वार-वार प्रकट होता है। कवि को ऐसा आभास होता है कि काम और रति ही अनेक वेश वनाकर इस विवाह का आनन्द लेने के लिए आ गए है। दर्शनो की उत्कठा के साथ-साथ वे सामने आने मे सकोच का अनुभव करते हैं .

कुंअरु कुँअरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभ सब सादर लेहीं॥
जाइ न वरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी॥
राम सीय सुन्दर प्रति छाहीं। जगमगात मनि खम्भन माहीं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआह अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत वहोरि वहोरी॥
भए मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥

इस तरह प्रत्येक मधुर अवसर पर कवि काम की उपस्थिति की कल्पना करता है। इसका कारण क्या है? समस्या यह है कि काम की चाहे कितनी भी निन्दा क्यो न की जाय, परन्तु काम-रहित विश्व की कल्पना भी तो नही की जा सकती। विश्व-प्रपच का मूल आधार तो काम ही है। काम-विनाश विश्व-विनाश का ही पर्याय सिद्ध होगा। फिर विवाह का तो मुख्य देवता ही काम है, अत काम के समग्र विनाश के स्थान पर लोक-कल्याण के लिए काम का परिष्कार ही अपेक्षित है। काम को तृतीय दृष्टि से भस्मसात् कर देने के वाद भी शिव को काम के पुनर्जविन का वरदान देना पडा था। ब्रह्मा ने उनके इस कार्य की सराहना की .

काम जारि रति कहँ बर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा॥

यद्यपि काम लोक-कल्याण की प्रेरणा से ही शिव पर आक्रमण करने के लिए गया था, किन्तु उसने इस कार्य मे, तपस्विनी पार्वती का सहयोग प्राप्त नही किया। पार्वती मूर्तिमान श्रद्धा है, श्रद्धा के द्वारा सकल्प पूर्ति के स्थान पर वह सदा-शिव के हृदय मे वासना जाग्रत् कर देवताओ का कार्य सिद्ध करना चाहता है। पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधनो का आश्रय लेने मे वह सकोच नही करता। शंकर से विवाह का अनुरोध करने के लिए जव भगवान् श्रीराम उनके समक्ष प्रकट हुए तव उन्होने आदेश और अनुरोध के साथ-साथ पार्वती के पवित्र चरित्र का गायन किया

अति पुनीत गिरिजा कै करनी। विस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब विनती मम सुनहु सिव, जौं मो पर निज नेहु।
जाइ विवाहउ सैलजहि, यह मोहि माँगे देहु॥

किन्तु काम श्रद्धा की उपेक्षा कर केवल अपने पौरुप का प्रदर्शन करना चाहता था, इसीलिए वह रुद्र के द्वारा दडित किया गया। पुष्पवाटिका मे वह पुरानी भूल नही दुहराता। शिव पर उसने शरीरी वनकर आक्रमण करने की चेष्टा की थी, किन्तु इस वाटिका मे वह अनग के रूप में ही आता है। साथ ही वह पराभक्ति-स्वरूपा आद्याशक्ति श्रीसीता के पावन श्रीचरणो का आश्रय लेकर ही विश्व-विजय

के अपने सकल्प को पूरा करना चाहता है। महाशक्ति के आश्रय से ही वह भय-मुक्त हो सका है। अत. यह काम न तो पराजित ही किया जाता है और न ही उसे विनष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

काम तीन ही स्थितियो मे पतन का कारण बनता है .

१. जब उसका केन्द्र केवल शरीर हो।
२. जब वह श्रद्धा-भक्ति-विहीन हो।
३. जब वह स्वय को छिपाने की चेष्टा करे।

रुद्र पर आक्रमण करते हुए उसमे तीनो दोष विद्यमान थे, वाटिका में वह इन तीनों दोषों से मुक्त है। इसलिए राघवेन्द्र उसे अपने कवित्व का विषय बनाते है। काम श्रद्धा और भक्ति का मूल आधार तो नही हो सकता, किन्तु श्रद्धा और भक्ति दोनो मातृ-स्वभाव के कारण उस पर वात्सल्य-भरा अनुग्रह रखती है। ससार मे किसी व्यक्ति के समक्ष कामना प्रकट करते ही सम्मान कम हो जाता है किन्तु माँ बालक की कामनाओ से रुष्ट नही होती है। बालक की निर्भरता और माँ के प्रति उसके प्रगाढ़ विश्वास के कारण ही माँ उसकी कामनाओ की पूर्ति मे संकोच का अनुभव नही करती है। पुष्पवाटिका मे काम की स्वीकृति इन्ही तथ्यो को सामने रखकर की गई है।

अरण्यकाण्ड मे भी काम के एक और आक्रमण की कल्पना की गई है। किन्तु वहाँ पर वह श्रीलक्ष्मण की उपस्थिति से भयभीत होकर लौट जाता है .

बिरह बिकल बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥
देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हे मनहुँ तब, कटक हटकि मन जात॥

किन्तु पुष्पवाटिका मे, काम, ज्ञान और वैराग्य दोनो के भय से मुक्त है। वैराग्य उस काम का विरोधी है जो व्यक्ति को श्रीराम से विमुख बनाता है। किन्तु पुष्पवाटिका मे आभूषणो की ध्वनि क्रमश. सन्निकट आती जा रही थी। ईश्वर के सम्मुख ले जाने वाला काम वैराग्य की दृष्टि मे भी प्रणम्य है। इसीलिए श्रीलक्ष्मण पुष्पवाटिका मे श्रीराम के शृगार मे सहायक बनकर उसे मौन साधु-वाद देते है। श्रीराम के अन्तर्मन मे उठने वाले कवित्व ने उनके अन्त करण मे अश्रद्धा के स्थान पर अनुराग की सृष्टि की, इसलिए वे लता-कुज मे श्रीराम को ले जाकर मयूरपुच्छ और कुसुम-कलियो से उनका कमनीय शृगार करते है। उनका उद्देश्य श्रीराम को दूल्हे के रूप में प्रस्तुत करना था, क्योकि उनकी दृष्टि मे वास्तविक विवाह तो आज ही सम्पन्न होने जा रहा था।

॥ श्रीरामः शरण मम ॥

चितवति चकित चहूँ दिसि सीत।
कहँ गए नृप किसोर मन चिता ॥
जहँ बिलोक मृग सावक नयनी।
जनु तहँ बरसि कमल सित श्रेनी ॥
लता ओट तव सखिन्ह लखाए।
वय किसोर सव भाँति सुहाए ॥
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥
थके नयन रघुपति छवि देखें।
पलकन्हि हूँ परिहरी निमेषे ॥
अधिक सनेह देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हेउ पलक कपाट सयानी ॥

अर्थ—श्रीसीता चकित दृष्टि से चारो ओर देख रही थी। उनके मन मे यह व्याकुलता उत्पन्न हुई कि राजकुमार कहाँ गए। वाल-मृगनयनी सीता जिधर दृष्टि उठाकर देखती है, उधर लगता है जैसे श्वेत कमलो की वर्षा हो रही है। सखियो ने लता की ओट से श्याम और गौर राजकुमारो का दर्शन कराया, उस सौन्दर्य को देखते ही नेत्र ललचा उठे और वैसी ही प्रसन्नता हुई जैसी अपनी निधि को पहचानकर होती है। श्रीराम की छवि देखकर नेत्र थक गए और पलको ने भी निमेप का परित्याग कर दिया। अधिक स्नेह के कारण देह की सुध-बुध जाती रही और ऐसा लगता था कि जैसे शरद ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी देख रही हो। श्रीराम के सौन्दर्य को नेत्र-मार्ग से हृदय मे लाकर सयानी सीताजी ने अपने पलको के किवाड वन्द कर दिये।

प्रस्तुत पक्तियाँ भाव, दर्शन और साहित्य सभी दृष्टियो से अनुपम है। श्री-राम के अन्वेपण मे सलग्न श्रीसीता का यह चित्र गोस्वामीजी की साधना-पद्धति पर प्रकाश डालता है। तात्त्विक दृष्टि से श्रीसीता और राम सर्वथा अभिन्न है। एक अद्वैत तत्त्व ही दो रूपो मे व्यक्त होकर विश्व-रगमच पर अपनी लीला प्रस्तुत करता है। वस्तुत इन दो रूपो मे प्रगट होकर वे साधना और सिद्धि का स्वरूप अपनी लीला के माध्यम से अभिव्यक्त करते है। ईश्वर की उपलब्धि के

लिए जिस साधना-पद्धति की आवश्यकता है, उसे श्रीजनकी की इस अन्वेपण-पद्धति से सीखा जा सकता है।

सुनयना अम्वा के आदेश से पुष्प-वाटिका में श्री किशोरीजी का आगमन होता है·

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।।

धर्माचरण, कर्त्तव्य कर्म का पालन और गुरुजनों का समादर—साधना का प्रथम सोपान है।

तत्पश्चात् श्रीसीता सरोवर मे स्नान करती हैं। पम्पा-सर का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी सत-हृदय की तुलना सरोवर से करते हैं :

बाँधे घाट मनोहर चारी। संत हृदय जस निर्मल वारी।।

कर्त्तव्य कर्म का पालन करते हुए सत-समाज मे प्रवेश अन्त करण की शुद्धि का सर्वोच्च साधन है। सत्सग के द्वारा अन्त.करण की शुद्धि साधना का द्वितीय सोपान है।

स्नान के पश्चात् श्रीसीता पार्वती-पूजन के लिए मदिर मे प्रविष्ट होती हैं

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदित मन गौरि निकेता।।

मानस की दृष्टि मे पार्वती मूर्तिमती श्रद्धा है

भवानीशंकरौ बन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्थमीश्वरम्।।

सत्सग के द्वारा अन्त करण की शुद्धि के पश्चात् श्रद्धा का उदय साधना का तृतीय सोपान है।

पार्वनी-पूजन मे गोस्वामीजी अन्य उपकरणो का उल्लेख न कर केवल 'अनुराग' शब्द का ही प्रयोग करते है·

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।।

श्रद्धा की सच्ची आराधना अनुराग के माध्यम से ही हो सकती है। श्रद्धा और अनुराग का मिलन साधना का चतुर्थ सोपान है।

और जिस समय अनुराग-भरे अन्त करण से आराधना चल रही थी, उसी समय श्रीसीता की सखियो मे से एक ऐसी सखी आती है कि जिसे सर्वप्रथम पुष्प-वाटिका मे श्रीराम के दर्शन का सौभाग्य मिला है। इस सखी का दर्शन करते ही सारी सखियों के अन्त करण मे जिज्ञासा का उदय होता है। वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगी कि इस सखी ने ऐसा क्या कुछ पा लिया है कि उसका हर्ष और आनन्द हृदय मे नही समा रहा है। यह सखी ईश्वर-प्राप्त उस महापुरुप अथवा सत की प्रतीक है, जिसका दर्शन ही साधक के अन्त करण मे उत्कण्ठा की सृष्टि करता है। ऐसे भावुक सत्पुरुपो का दर्शन करके दूसरो का हृदय भी भाव-रस से भर उठता है :

आपु छकी नयना छके, अधर रहे मुसुकाइ।
छकी दृष्टि जा पै परै, रोम-रोम छकि जाइ।।

आचार्य की उपलब्धि के रूप मे यह साधना का पंचम सोपान है।

जिज्ञासा से भरी हुई सखियाँ व्याकुल भाव से प्रश्न करती है :

तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जलु नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥

आचार्य से जिज्ञासा-प्रेरित प्रश्न साधना का छठा सोपान है।

अनुरागमयी सखी ने प्रभु का एक मनोरम शब्द-चित्र प्रस्तुत किया—"हे सखि! दो राजकुमार इस वाटिका मे आए हुए है। उनकी अवस्था किशोर है और वे हर प्रकार से सुन्दर है। एक राजकुमार श्याम है और दूसरा गौर।" पर वर्णन करते-करते अचानक उसने अपनी असमर्थता का वर्णन करते हुए कहा, "उस सौदर्य का वर्णन मै कैसे करूँ? क्योकि दृष्टि (जो देखती है वह) कह नही पाती और जिस वाणी के द्वारा वर्णन होता है, वह दृष्टिविहीन है।" इस प्रकार सखी ने ईश्वर की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हुए प्रसग को समाप्त किया।

कथा-श्रवण के रूप मे यह साधना का सप्तम सोपान है।

इससे हृदय मे उत्कण्ठा का उदय होता है। भगवत-स्वरूप का श्रवण-मात्र अपने-आप मे साध्य नही है। अनेक ऐसे लोग होते है कि जो श्रवण के व्यसनी होकर निरन्तर सुनने मे ही आसक्त हो जाते है। यद्यपि श्रवण का स्वय भी एक अपना रस है और वह रस अन्य समस्त रसों से न जाने कितना उत्कृष्ट है; पर जिस वस्तु का वर्णन हम सुनते है, उसे सुनने के पश्चात् यदि हमारे अन्त करण मे उस रस को पाने की उत्कण्ठा जाग्रत् नही होती है, तो यही मानना होगा कि वस्तुत. वह वर्णन पूरी तरह सार्थक नही हुआ। जैसे सुस्वादु व्यंजन का वर्णन सुनकर व्यक्ति के मुख मे पानी आ जाता है और उसको पाने की बलवती इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ईश्वर के सौन्दर्य, शील आदि गुणो का वर्णन केवल श्रवण के लिए ही नही है। वह वर्णन श्रोता के अन्त करण मे ईश्वर की उपलब्धि की आकाक्षा उत्पन्न कर सके, तभी उसकी सार्थकता है। सरस्वती इसमे पूरी तरह सफल रही।

तात्त्विक दृष्टि से दोनो राजकुमार ब्रह्म और जीव है। इस वर्णन में अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन जिस रूप मे किया गया है उसमे रस और ज्ञान का समन्वय है। "मैं वर्णन कैसे करूँ, वाणी नेत्र-विहीन है और नेत्र के पास वाणी नही है!" व्यावहारिक दृष्टि से यह यथार्थ प्रतीत नही होता, क्योकि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के वर्णन की पद्धति इसी रूप मे प्रचलित है। नेत्र के द्वारा व्यक्ति किसी वस्तु को देखता है और उसका वर्णन वाणी के द्वारा किया जाता है किन्तु यहा पर सखी ने नेत्र और वाणी दोनो ही की अपूर्णता का वर्णन किया। अपूर्ण विश्व के पदार्थों का वर्णन यदि अपूर्ण इन्द्रिय से किया जाए तो इसमे कोई अनौचित्य नही है। पर पूर्ण ब्रह्म-तत्त्व को अपूर्ण वाणी के माध्यम से व्यक्त कर सकना असम्भव है। तथा उन्हे आदेश के रूप मे दर्शन की बात न कहकर सखी ने अनिर्वचनीयता के प्रतिपादन के माध्यम से सखियो के अन्त.करण मे उत्कण्ठा उत्पन्न

की। इसका तात्पर्य है कि सत्सग, कथा, श्रवण आदि के पश्चात् ईश्वर के दर्शन की उत्कण्ठा साधना का अष्टम सोपान है।

उत्कण्ठा के पश्चात् साधना के नवम सोपान के रूप मे माहात्म्य-ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। श्रीसीताजी की अन्य सखियाँ भी प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान से परिचित थी। किन्तु व्यावहारिक जगत् मे कुल, शील, मर्यादा आदि के अवरोधो के कारण वे दर्शन का साहस नही जुटा पा रही थी। किन्तु भावमयी सखी के दर्शन से उनके अन्त करण की आशकाएँ समाप्त हो गई। और तब वे परस्पर एक-दूसरे को दर्शन के लिए प्रोत्साहित करने लगी .

सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कण्ठा जानी॥
एक कहइ नृप सुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली॥
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर-नारी॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥

इस तरह साधना के नव सोपन समाप्त होने के बाद ईश्वर-दर्शन की प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है। कर्त्तव्य-पालन से लेकर माहात्म्य-ज्ञान तक की साधना यात्रा की भूमिका-मात्र है। इसके पश्चात् सिद्धा सखी को आगे कर श्री किशोरी जी प्रभु का अन्वेषण करने के लिए चल पडती है। किन्तु जिस स्थान पर सखी ने उन्हे देखा था, वहाँ प्रभु का दर्शन नही होता। उसी स्थान पर दर्शन का न होना भी साभिप्राय था। प्रत्येक साधक को एक ही स्थान पर ईश्वर का दर्शन होने पर उसके एकदेशीय होने की भ्राति की सम्भावना रहती है। ईश्वर सर्वव्यापक है, किन्तु उसका साक्षात्कार भक्त की भावना और प्रीति को दृष्टिगत रखकर अलग-अलग स्थानो मे होता है

जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा यह रीती॥

व्याकुलता भी रस-वृद्धि मे सहायक है। धूप से व्याकुल व्यक्ति ही छाया का आनन्द पा सकता है

जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥

व्याकुलता की वृद्धि के लिए भी प्रभु लता-कुज मे छिप जाते है। श्रीसीता की व्याकुलता-भरी मनोवृत्ति का परिचय इन पक्तियो मे प्राप्त होता है

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मन चिंता॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

श्रीसीता व्याकुल भाव से चारो ओर श्री राघवेन्द्र को ढूँढ रही है। सखी ने श्रीराम को जहाँ छोडा था, वहाँ पर श्रीराम नही दिखाई देते है। व्याकुलता से चकित होकर सखियाँ सोचती है कि राजकुमार कहाँ गए ? उनके अत करण मे सखी की वाणी पर अविश्वास नही होता। यदि ईश्वर की उपलब्धि के लिए चलता हुआ स।धक तत्काल ईश्वर का दर्शन न कर सके, तो उसके अन्त करण मे ईश्वर की सत्ता के प्रति सन्देह नही होना चाहिए। वस्तुत श्रीराम जान-बूझकर ही उस समय उस स्थान से अलग लता-कुज मे विश्राम कर रहे थे। क्योकि उत्कण्ठा जब

तक चरम व्याकुलता मे परिणत न हो जाय तव तक साधक को ईश्वर की उपलब्धि की रसमयता का पूर्ण वोध नही होता। इधर जव श्रीसीता श्रीराम को वहाँ नही पाती है, तव उनकी व्याकुलता वढ जाती है। वह व्याकुल भाव से चारो ओर दृष्टि डाल रही है। चारो ओर श्रीराम को ढूँढने की चेष्टा करती है। अचानक लता-कुज की ओट मे उनको रामभद्र का दर्शन होता है

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥

अन्वेपण के पश्चात् जव प्रथम वार प्रभु का साक्षात्कार हुआ, तव वह पूरी तरह स्पष्ट नही था। सखियो ने देखा कि लता की ओट मे श्रीराम दिखाई दे रहे है। इसका तात्पर्य है कि साधक जव ईश्वर को खोजता है, तव वह स्वय पूरी तरह आपने-आपको अभिव्यक्त नही करता। साधक को पहले आवरण के मध्य से ईश्वर की झॉकी का साक्षात्कार होता है। यह लता प्रकृति की प्रतीक है, यदि व्यक्ति अन्वेपण करता जाय तो प्रकृति (लता-कुज) के प्रत्येक पदार्थ से झाँकते हुए ईश्वर का साक्षात्कार होता है। अगर प्रकृति के पदार्थो को हम देखे और केवल पदार्थो तक ही हमारी दृष्टि न सीमित हो, तो हमे स्पष्ट दिखाई देगा कि प्रकृति के प्रत्येक कण मे छिपा हुआ ईश्वर झॉक रहा है। वाटिका मे प्रकृति के विलास का दिव्य दर्शन होता है। साधारण व्यक्ति के लिए वह पुष्प-वाटिका है, जहाँ रंग-विरंगे पुष्प खिले हुए हैं, जहाँ सुगन्ध परिव्याप्त है। ऐसी वाटिका मे पहुँचकर सभी आनन्द का अनुभव करते हैं। पर ईश्वर का अन्वेपण करने वाला जव इस ससार-वाटिका मे प्रवेश करता है, तव उसे प्रकृति के लीला-विलास मे ही छिपे हुए ईश्वर की एक झाँकी दिखाई देती है। वह पुष्पो के रग-विरगेपन और उनके सौरभ मे ही नही खो जाता, वह उनकी आड मे छिपे हुए स्रष्टा को खोजता है।

लता की ओट मे ईश्वर को देख लेने के पश्चात् भी उसे सन्तोप नही हो जाता। उसका लोभ वढता ही जाता है

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥

जो साधक शीघ्र सन्तुष्ट हो जाता है उसे निरावृत ईश्वर का साक्षात्कार नही होता। वस्तुत साधक ज्यो-ज्यो आगे वढता है, त्यों-त्यों ईश्वर का स्वरूप उसके समक्ष स्पष्ट होता जाता है।

यहाँ पर श्रीसीताजी के नेत्रो के लिए 'ललचाने' शव्द का प्रयोग साधक की उस वृत्ति को प्रगट करता है जहाँ साधक को उस लोभी व्यक्ति के समान चित्रित किया गया है, जो अनगिनत द्रव्य प्राप्त होने के वाद भी सन्तुप्ट नहीं होता। इसी लिए गोस्वामीजी भगवान् श्रीराम से याचना करते है

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

साधक की यह लोभमयी दृष्टि उसे आगे वढने की प्रेरणा प्रदान करती है। दर्शन से नेत्रो को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी निजी निधि को पहचानकर होती है। ससार मे भी व्यक्ति परिचितो को पाकर प्रसन्न होता है, पर जव ईश्वर को

ढूँढ़ने के लिए चलता है तव प्रारम्भ मे उसे यही भ्रम रहता है कि वह किसी अपरिचित से पहली वार मिलने जा रहा है; किन्तु जव वह ईश्वर का दर्शन करता है तव उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर पहली वार उसके समक्ष नही आ रहा है। वह उसके लिए प्रारम्भ मे जैसा अपरिचित जान पडता था, वैसा नही है। और लगता है कि अरे, यह तो न जाने कितने दिनो का जाना-पहचाना हमारा वह प्रियतम है, जिसे हम दृष्टि-पथ से ओझल कर चुके थे, किन्तु जो हमारी स्मृतियो के अन्तराल मे छिपा हुआ था, और आज उसे देखकर प्रतीत होने लगा कि नही-नही, यह परिचय नया नही है। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में इसी भावना को दृष्टिगत रखते हुए कहते है

तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान-पहिचान।

अरे तुलसीदास, तेरी श्रीराम से नई जान-पहिचान नही है। भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन से अपने सम्बन्ध की स्मृति कराते हुए कहा था, "अर्जुन! हम और तुम पहली वार नही मिल रहे है! इससे पहले भी न जाने कितनी वार हम दोनो का मिलन हुआ है"

वहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

जीव जिन सम्वन्धियो मे प्रेम करता है, उन सम्वन्धो मे सवसे प्राचीन सम्वन्ध ईश्वर का है। उस ईश्वर के प्रति अपनत्व की अनुभूति साधक के अन्त करण को ईश्वर के अत्यन्त सन्निकट पहुँचा देती है।

अपने राघव को पहचानते ही किशोरीजी के नेत्र स्थिर हो जाते है

थके नयन रघुपति छवि देखें। पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥

पथिक अपने घर की ओर चलता हुआ उत्साह मे आगे वढता जाता है, लेकिन घर पर पहुँचते ही उसको थकान का भान होता है। वह घर मे पहुँचकर आराम से शय्या पर लेट जाता है। इसी प्रकार से जो नेत्र प्रभु के अन्वेषण मे तत्पर थे, वे आज इस सौन्दर्य को देखते ही ऐसा अनुभव करते है कि जैसे अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया। पलके स्थिर हो गई और तव श्रीराघवेन्द्र के अनुपम सौन्दर्य को देखकर श्रीकिशोरीजी एकटक देखती ही रह गई। उस सौन्दर्य को देखते ही उन्हे देह की सुध-वुध जाती रही और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे शरद ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी देख रही हो

अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

भगवान् के सौन्दर्य का साक्षात्कार देह की स्मृति से व्यक्ति को ऊपर उठा देता है। ससार का सौन्दर्य जहाँ व्यक्ति को और भी देहाध्यासी वना देता है—व्यक्ति देह मे और भी अधिक आसक्त हो जाता है—वहाँ ईश्वरीय सौन्दर्य व्यक्ति को देह से ऊपर उठाकर एक ऐसी दिव्य स्थिति मे ले जाता है, जहाँ पर देह और उससे उत्पन्न होने वाली वासनाएँ रह ही नही जाती है।

प्रभु का दर्शन करते-करते अचानक श्री किशोरीजी ने नेत्र मूंद लिए। अव दर्शन की एक नई पद्धति का अविष्कार हुआ। लोचन-मार्ग से प्रियतम को हृदय-